

त्सुनेसाबुरो माकीगुची

सृजनशील जीवन और शिक्षा

त्सुनेसाबुरो माकीगुची के विचार और सुझाव

सृजनात्मक शिक्षा

सृजनशील जीवन और शिक्षा

त्सुनेसाबुरो माकीगुची के विचार और सुझाव

संपादन

डेल एम. बेथेल

अनुवाद

अशोक लाल

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

यह पुस्तक मूलतया जापानी भाषा में लिखी गई थी। प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद मूल पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद पर आधारित है, जिसका पहला संस्करण आयोवा स्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस, अमेरिका द्वारा 1989 में प्रकाशित किया गया था।

ISBN 81-237-3037-3

पहला संस्करण : 2000 *(शक 1922)*

Education for Creative Living : Ideas and Proposals of Tsunesaburo Makiguchi *(Hindi)*

रु. 55.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क
नई दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

विषय-सूची

मूल जापानी संस्करण की भूमिका

मैं अपने आलेखों के अध्ययन के लिए पाठकों को आमंत्रित करता हूं। ये आलेख शिक्षा के एक नए अनुभवसिद्ध विज्ञान के पुनर्जन्म के विषय पर हैं। यह विज्ञान शिक्षार्जन में संलग्न जीवन की सचाइयों से सामीप्य और अंगभूत रूप से संबद्ध है। एक मूल्य-सृजनात्मक शिक्षा-पद्धति का लक्ष्य निम्नलिखित मूलभूत प्रतिबंधों की पूर्ति करना है :

1. अधिक मितव्ययिता और निपुणता के समन्वय के लिए शिक्षा-पद्धति को सरल और कारगर बनाना। यह मेरा विश्वास है कि अगर नीति और तकनीक दोनों में सुधार लाया जाए तो शैक्षणिक-समय, अध्ययन-समय, लागत-समय इत्यादि सब पर व्यय आधा किया जा सकता है।

2. 'जो होगा देखा जाएगा' की अंध-प्रवृति वाली शिक्षा पद्धतियों को त्यागकर उनकी जगह स्पष्ट, सुसंयोजित, सुव्यवस्थित और संस्कृति-संक्रमणक शिक्षा का प्रचलन। इससे शिक्षा-पद्धति की संरचना और नियोजन सुलभ हो पाएंगे। उसके साथ आएगा एक ऐसा समन्वित ज्ञानार्जन जिसका कर्म से सामंजस्य होगा और जो मूल्य-सृजन में शक्तिवर्धन का आदर्श बनेगा।

3. सक्षम शिक्षाकर्मियों को सम्मिलित करने के लिए बेहतर चयन और उपर्युक्त परिवर्तन लाने के लिए उन्हें बेहतर सुविधाएं। इसीलिए, स्कूल की शिक्षा-पद्धति में सुधार के अलावा, मैंने प्राथमिक स्कूलों के प्राध्यापकों के लिए भी परीक्षा का प्रस्ताव रखा है।

4. भ्रांतिपूर्ण प्रवृति वाले शिक्षा-शास्त्रियों के चंगुल से शिक्षा-पद्धति और विधियों को छुड़ाकर, शिक्षा को सक्रिय रूप से सृजनात्मक बनाना - यानी शिक्षा का वास्तविक जीवन की गतिविधियों के साथ तालमेल उत्पन्न करना।

5. पूरे समाज के समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्यों में स्कूलों को छोटे मगर सम्मिलित समाज की भांति चलाना - नैतिक शिक्षा के मूल स्रोत की भांति।

यादों, विचारों और चिंतनों का एक भंडार जो मैंने अपने दैनिक दायित्वों के निर्वाह में संजोया है, यह आलेख उन्हीं का विवरण है। जहां मेरे व्यवसाय के व्यापारी - प्रवृति वाले सदस्यों ने अपना समय धन संबंधी चिंताओं में बिताया

है, वहीं मैंने अपने अनुभवों के निचोड़ को नोट्स की शक्ल देने में सफलता प्राप्त की है। अपने तीस साल के शैक्षणिक जीवन में, मैंने छोटे छोटे कागजों का एक पहाड़ संचित किया है। मैं मानता हूं कि इनमें से कुछ तो अपनी परिकल्पना में प्रेरणा-विहीन हैं। मगर बाकी को रद्दी में फेंक देना उचित नहीं होगा, इस विचार ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा है कि इन ढेर सारी टिप्पणियों का कभी न कभी संयोजन करना होगा। साथ साथ मुझे यह भी पता था कि सार्वजनिक और निजी कार्यों में व्यस्त रहने के कारण मैं शायद ऐसा कर नहीं पाऊंगा। इन कागजों को सहेजने भर के लिए ही बहुत समय की जरूरत है, चयन या अलग करने अथवा सुसंयोजित करने की बात तो दूर है। वैसे ही इन कागजों के ढेर पर बैठे बैठे बीस साल हो गए हैं।

कच्चे माल को बाजार में लाने की गैर जिम्मेदारी पर मैं अपने आप को सिर्फ उलाहना ही दे सकता हूं। लेकिन इसके चलते मेरा विश्वास और भी दृढ़ हो गया है कि यह अध्ययनकर्ताओं का दायित्व है कि वह उचित वाहिकाओं से जुड़ें और अपने विचार सार्वजनिक बनाएं।

मैंने अपने आलेखों को बार बार पढ़ा है - इतनी बार कि लगभग पूरा चिंतन मेरे दिमाग में एक सुविकसित शैक्षिक सिद्धांत के रूप में रम गया है। मेरा विश्वास है कि ये विचार इतने पुष्ट तो हैं कि अगर वातावरण इतना प्रतिकूल न होता तो ये फलान्वित हो गए होते। खैर, हुआ यह है कि ये विचार सिर्फ जिंदा रहने की लड़ाई में अविकसित ही रह गए। वैसे मुझे मालूम है कि इस बहाने को शायद दूसरे लोग मानेंगे नहीं। दशकों के अपने अनुभवों से गढ़ी हुई इस प्रतिमा को मैं वैसे ही कैसे फेंक दूं, जब कि शायद वह पूरे समाज की धरोहर बन पाने में सक्षम है। शायद उसका कारण मेरा शैक्षणिक जमीर ही रहा होगा, लेकिन मैंने यह पाया कि अपनी पिछली पुस्तक, "ज्योग्राफी आफ ह्यूमन लाइफ" की तरह इस बार भी क्रियाशील होने को बाध्य हूं।

समाज मेरे विचारों को जानना चाहेगा कि नहीं, यह एक अलग सवाल है जिस पर काफी बहस की जा सकती है। मैं जब गंभीरतापूर्वक इन मामलों पर सोचता हूं तो मुझे मानना पड़ता है कि मेरे जीवनकाल में मेरे तरीके से सोचने का नतीजा नजर नहीं आएगा। लेकिन देश में शिक्षा की दुर्गति को देखते हुए मेरे सीने में आग-सी सुलगती रहती है कि मैं उसके बारे में जल्द से जल्द कुछ करूं। शायद मेरा यह जतन लाखों विद्यार्थियों को दाखिले की परेशानियों से, परीक्षाओं के नरक से, बेरोजगारी से - यानी आज के जमाने की भयंकर बीमारियों से बचा पाए। इसी विचार से मेरे अंदर का सब कुछ उमड़ आया है। यह कि मेरे तीस साल की मेहनत बेकार नहीं जा रही, इससे ज्यादा मैं क्या चाह सकता हूं ?

इस मंजिल तक पहुंचने में, मेरे कई युवा साथी बहुत मेहरबान और मददगार रहे हैं। उन्होंने कभी सांत्वना दी तो कभी प्रोत्साहन तो कभी प्रूफ पढ़ने में सहायता। उनकी मदद से ही मेरी परियोजना आज यहां तक पहुंच पाई है।

इन साथियों में मेरे बरसों से नजदीकी दोस्त, श्री जोसे टोडा भी हैं। श्री टोडा ने मेरे लिए एक छोटी-सी धनराशि जुटाई और मुझे इस परियोजना को पूरा करने की महत्ता पर विश्वास दिलाने के लिए यथासंभव प्रयत्न करे। और अब तो हमारी भूमिकाएं बदल गई हैं क्योंकि अक्सर मैं ही टाल-मटोल करते हुए देखा गया हूं। मूल्य-सृजनात्मक इस शिक्षा-प्रणाली का विकास करने में श्री टोडा एक विशिष्ट प्रेरणा रहे हैं। इसके अलावा कई और सक्षम और यशस्वी लोगों ने आशा से अधिक सहानुभूति और सहमति का योगदान दिया है। मुझे अब इतने योग्य साथियों का सहयोग प्राप्त है कि मैं यह चाहता हूं कि शैक्षिक सुधार अनंत तक इसी तरह गतिशील रहे।

अब मैं शिक्षकों की युवा पीढ़ी के सामने अपने आलेखों को निरीक्षण और आलोचना के लिए प्रस्तुत करता हूं। मेरी सिर्फ यह प्रार्थना है कि इन पर गंभीरतापूर्वक मनन किया जाए और इनकी उचित सुनवाई हो। आधुनिक समाज में शिक्षा एक अत्यधिक जटिल विधा है, और समस्याओं का समाधान न तो आसानी से न ही जल्दी से मिलेगा। न ही हमें समाधानों तक पहुंचने में जल्दबाजी करनी चाहिए क्योंकि अगर समस्याओं की जड़ें गहरी हों तो कारगर समाधान ढूंढ़ पाना भी कठिन होगा। लेकिन संयोगवश मेरे प्रस्तावों में अगर सचाई की झलक मिलती है और वह एक बड़ी राष्ट्रीय समस्या को हल कर पाने में मदद करती है, तो मैं केवल यह आशा करता हूं कि उसका प्रयोग शिक्षा में सुधार लाने के लिए किया जा सकेगा। शिक्षा में सुधार लाने के हमारे प्रयत्नों को बहुत सी महत्वपूर्ण कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। यह मेरी आशा और अपेक्षा है कि सोका क्योइकु गाक्काई इन प्रयत्नों में मुख्य भूमिका निभाएगा। मेरे विद्वान दोस्तो और मेरे अग्रजो, इसीलिए इस पुस्तक के प्रकाशित होने के अवसर पर मैं आप सबका तहे-दिल से शुक्रिया अदा करता हूं।

अक्तूबर, 1930 **त्सुनेसाबुरो माकीगुची**

प्राक्कथन : ऐतिहासिक और समकालीन महत्व

सिर्फ गिने चुने अमेरिकावासियों ने ही त्सुनेसाबुरो माकीगुची का नाम सुना होगा। उत्तर-पश्चिम जापान के एक छोटे-से गांव में एक निर्धन परिवार में उनका जन्म हुआ। जब वे तीन साल के थे तो उनके पिता ने उनको त्याग दिया। बाद में उनकी मां ने पहले तो उन्हें गोद में लिए जापान सागर में कूदकर आत्महत्या करने की कोशिश की, और बाद में उन्हें लावारिस छोड़ दिया। उनके एक चाचा जेन्दायु माकीगुची ने उनकी परवरिश की, और उन्होंने बाद में चाचा का ही नाम धारण कर लिया। चौदह या पंद्रह साल की आयु में वे ओटारू चले गए और वहां एक दूसरे चाचा के साथ रहे। निर्धनता के कारण ओटारू में हाई-स्कूल में भरती न हो पाए। स्थानीय पुलिस विभाग में नौकरी करने लगे और साथ साथ सरकारी परीक्षा के लिए अध्ययन भी, ताकि वे कालेज की प्रवेश परीक्षा में शामिल होने की योग्यता प्राप्त कर सकें। पुलिस के प्रधान माकीगुची और उनके विभागीय कार्य से इतने प्रभावित हुए कि वे उन्हें अपने साथ सपोरो ले गए। वहां दो वर्ष बाद 1891 में माकीगुची ने नॉरमल स्कूल के तृतीय वर्ष के छात्र के रूप में प्रवेश पा लिया। दो वर्ष बाद वे स्नातक बन गए और उन्होंने नॉरमल से संलग्न स्कूल में निरीक्षक-शिक्षक का पद स्वीकार कर लिया। जब वे नॉरमल स्कूल के छात्र थे, उन्हें उस कठोर अनुशासन में बंधकर रहना पड़ा जो कि आज्ञाकारी शिक्षकों की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित था। बाद में एक शिक्षक की हैसियत से उनसे अपेक्षा यह थी कि वे अनुशासन के एक आदर्श बनेंगे। 1901 में अनुशासन उल्लंघन की एक घटना के परिणामस्वरूप उन्हें स्कूल के पद से त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य होना पड़ा।

माकीगुची और उनके बढ़ते परिवार के अगले कुछ वर्ष गंभीर आर्थिक कठिनाइयों से ग्रस्त रहे, लेकिन बौद्धिक स्तर पर उन्हें महत्वपूर्ण लाभ हुए। फलतः उनकी प्रथम पुस्तक, "जिनसे चिरीगाकु" (दी ज्योग्राफी आफ ह्यूमन लाइफ) प्रकाशित हुई। विभिन्न पदों पर कार्य करने के बाद, जिसमें शिक्षा मंत्रालय का एक पद भी शामिल था, 1913 में वे तो प्राथमिक स्कूल के प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। उसके बाद अगले बीस साल तक उन्होंने टोकियो क्षेत्र के कई स्कूलों में

प्राध्यापक/अथवा अध्यापक के रूप में कार्य किया। इस अवधि में, उनके बेहतरीन नोट्स इकट्ठे होते रहे, जिसमें उनकी कार्य और अनुभव को लेकर चिंतन की झलक थी। इन्हीं नोटों से 'ऐजुकेशन फार क्रिएटिव लिविंग' की उत्पत्ति हुई।

माकीगुची के कार्यकाल का प्रारंभ उस समय हुआ जब नव-जापान की प्रगति की दिशा और शिक्षा की जिम्मेदारियां एवं सामाजिक भूमिका के विषय पर बड़ा वादविवाद हो रहा था। एक ओर परंपरावादी और कन्फ्यूशियनवादी थे, जिनका मत था कि निष्ठा और आज्ञाकारिता प्राथमिक गुण हैं, जिनकी स्थापना की जानी चाहिए। माकीगुची के नॉरमल स्कूल के प्रशिक्षण की भांति, शिक्षा का उद्देश्य अच्छे 'नागरिक' या हुक्म बजा लाने वालों का निर्माण था। दूसरी ओर मत यह था कि स्कूल की शिक्षा भविष्य के लिए सबसे अधिक लाभप्रद होगी जब वह स्वतंत्रचित्त नागरिकों का निर्माण करें। माकीगुची को घोर निराशा का सामना करना पड़ा जब बढ़ते राष्ट्रवाद और सैन्यवाद के कारण, परंपरावादी हुए और शैक्षिक मामलों के सर्वेसर्वा रहे।

माकीगुची का जीवन और कार्य शिक्षा और धर्म के क्षेत्रों में परंपरावादियों के विरुद्ध था—"नव निर्माण के पहले से पुराने ढांचों को नष्ट करना आवश्यक है।" अन्य कारणों के साथ प्रतिष्ठित और औपचारिक शैक्षणिक योग्यताओं के अभाव में शिक्षा के क्षेत्र में वे सदा बाहर वाले ही रहे। उन्होंने सतत विशेषाधिकारों का खुलकर विरोध किया। उनकी कोशिश थी कि विश्वविद्यालीय व्यवस्था समाप्त हो और ऊपर से नीचे तक संपूर्ण स्कूल व्यवस्था का पुनर्गठन हो। इसके अलावा वे शिक्षकों और शैक्षिक दफ्तरशाही के बेबाक आलोचक थे। उनका नेतृत्व करता था शिक्षा मंत्रालय जिसकी नीतियों के प्रति माकीगुची ने अक्सर सार्वजनिक रूप से असहमति जताई। कोई आश्चर्य नहीं कि माकीगुची को सहयोगी कम मगर शक्तिशाली शत्रु बहुतायत में मिले। परवर्ती वर्षों में, शायद शैक्षिक क्षेत्र से बढ़ते विकर्षण के कारण सुधार योजना कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने धर्म का क्षेत्र चुना। यहां भी खासतौर से 1929 में निचिरन शोशु बौद्ध पंथ अपनाने के बाद वे विवादग्रस्त रहे। 1944 में राज्य-पोषित शिन्टो धर्म का तीव्र विरोध करने के कारण उन्हें बंदी बनाकर सुगामो जेल में रखा गया। वहां बंदी होने के सत्रह महीने बाद, 73 वर्ष की आयु में कुपोषण के कारण उनका देहांत हो गया।

पुस्तक 'ऐजुकेशन फार क्रिएटिव लिविंग' ऐतिहासिक और समकालीन दोनों रूपों में कौतुहल जगाती है। शिक्षा क्षेत्र के अन्य पुराने उग्रवादियों की कोशिशों की तरह, माकीगुची के सुधार के लिए संघर्ष भी महत्वपूर्ण सामाजिक और राजनैतिक टिप्पणियों की तरह जीवित हैं। उस जमाने के बौद्धिक वातावरण पर औद्योगीकरण, वर्ग संघर्ष, विज्ञान और विकास के जीवन-संबद्ध मुद्दों का प्रभाव था—और इन्हीं से माकीगुची बहुत गहरे रूप से प्रभावित हुए। अन्य सुधारकों की तरह, उन्हें चिंतन में मानवता की संपूर्णता के प्रति एक मासूम विश्वास झलकता था, और साथ ही

विज्ञान के माध्यम से विकास के प्रति भी। ऐसे जैसे कि उनके प्रस्तावों की सफलता में बहुत कुछ दांव पर लगा हुआ हो, उनके आग्रह बहुत प्रबल थे। "जब तक स्कूल समाज की नैतिक बुराइयों को रोकने की कोशिश नहीं करते, मुझे डर है कि वे समस्याओं की जटिलता और बढ़ाएंगे।"

माकीगुची और उस काल के समान चिंतन वाले अन्य सुधारवादियों की रचनाओं में साम्यताएं प्रत्यक्ष हैं। उदाहरण के रूप में, मैंने अमरीका के समकालीन हैरल्ड रग के आलेखों में हालांकि माकीगुची ने जो मुद्दे उठाए वो समकालीन परिस्थितियों में प्रासंगिक थे—उदाहरण के लिए, 1931 में प्रस्तावित सुधारों पर प्रतिक्रिया (अध्याय ३)—मगर वही मुद्दे आज भी हमारे सामने हैं। इन्हीं के कारण 'ऐजुकेशन फार क्रिएटिव लिविंग' आज भी दिलचस्पी जगाती है। मैं केवल कुछ ऐसी समस्याओं का जिक्र करूंगा जिनसे वे उलझे रहे, और जो आज भी उलझी हुई हैं। शिक्षा में लक्ष्य के अभाव को देखकर वे भौंचक्के थे। उनका तर्क था कि शिक्षा के लक्ष्य का निर्धारण इस पर निर्भर करता है कि "लोग स्वयं अपने जीवन का लक्ष्य क्या मानते हैं। शिक्षा के और शिक्षार्थी के जीवन के लक्ष्यों में तालमेल आवश्यक है।" उनके विचार में यह लक्ष्य है सुख—'सुख' जैसा उन्होंने परिभाषित किया। सुख जो निजी और सार्वजनिक हितों के एकीकरण का प्रतिनिधित्व करता है, और वह मिलता है, "सामाजिक जीवन के प्रति वादा-वफाई से, सिर्फ दूसरों के और समुदाय के संकटों और सफलताओं को बांटने से"। वाकई आज भी शिक्षा के सामने लक्ष्य से अधिक महत्वपूर्ण कोई और मुद्दा नहीं है।

शिक्षा पर परीक्षाओं के प्रभुत्व से माकीगुची परेशान थे। वह प्रभुत्व उनके निधन के बाद बढ़ा ही है। वे खिन्न थे कि शिक्षकगण जोर देते हैं कि तथ्यों को रट लिया जाए। पाउलों फ्रेर इस 'शिक्षा के बैंकीकरण' को हीन दृष्टि से देखते हैं। माकीगुची का मानना था कि ऐसी शिक्षा न केवल अप्रासंगिक और नीरस है, बल्कि शिक्षा को नकारती है। ऐसी शिक्षा व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक है, जब कि दोनों को आशावादी होना चाहिए। शिक्षा को जीवन और जीने से जुड़ा हुआ होना चाहिए, और उन्हें समृद्ध बनाना चाहिए।

तथ्य अनगिनत हैं, और उन सबको सीख पाना असंभव। इसलिए वे चाहते थे कि शिक्षण में सीखने की प्रक्रिया को विषयवस्तु पर प्राथमिकता देनी चाहिए—ऐसी प्रक्रिया जहां शिक्षक उदाहरण और पथ-प्रदर्शक का प्रकार्य करे। "शिक्षा का प्रकार्य है अचेतन जीवन को चेतना की ओर, मूल्य-विहीन जीवन को मूल्य की ओर, विवेकहीन जीवन को विवेक की ओर दिशान्वित करना।" दुर्भाग्यवश ऐसे सुयोग्य शिक्षकों की संख्या नगण्य थी। सामान्य रूप में, माकीगुची ने जोर दिया कि शिक्षकों में उपयुक्त शैक्षिक पृष्ठभूमि होनी चाहिए—इस विषय पर आजकल काफी ध्यान दिया जा रहा है। मगर उनकी दूसरी अधिक महत्वपूर्ण टिप्पणी कि शिक्षकों में चरित्र की कमी

है—उस पर ध्यान देने की आवश्यकता है, मगर उस पर ध्यान दिया नहीं जा रहा। इस स्थिति में सुधार हेतु उन्होंने शिक्षकों के प्रशिक्षण में कई परिवर्तनों का सुझाव दिया, विशेषकर शिक्षुता (एप्रैन्टिसशिप) के विकास के विषय पर समानताएं पाई गई हैं। दोनों का विश्वास था कि शिक्षा और समाज में एक नए युग का आरंभ सन्निकट था। तर्कशील, सद्भावनापूर्ण व्यक्तियों के अपेक्षित कार्यकलापों से इस प्रक्रिया में शीघ्रता लाई जा सकती थी। विकासवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए दोनों ने जीवंत रूपकों द्वारा अपने विचार प्रतिपादित किए। सामाजिक प्रणालियों को उन्होंने सावयव रूप में देखा। इस सावयव इकाइयों के प्रत्येक अंग को संपूर्ण व्यवस्था के हित के लिए अनिवार्य व पूरक भूमिका अदा करनी थी। इस तरह अंश और संपूर्ण इकाई में, व्यक्ति और समाज के बीच कोई मूलभूत विरोध प्रतीत नहीं होता था। दोनों का विश्वास था कि सामाजिक और आर्थिक प्रगति के लिए शिक्षा मूल साधन थी। "संपूर्ण समाज के जीवंतीकरण का रास्ता शैक्षिक नीतियों में सुधार लाना है"—यह माकीगुची का कथन था। दोनों का विश्वास था कि वैज्ञानिक विवेक में सत्य तक पहुंचने की संभावनाएं हैं और सत्य के विषय में ऐसी सर्वानुमति प्राप्त की जा सकती है जो उन्नति निश्चित कर सके। दोनों चाहते थे कि केंद्रीय योजना और शिक्षा प्रणाली का विवेकीकरण किया जाए। पूर्वी देशों की परंपरागत विषय-वस्तु का अनुसरण करते हुए दोनों जीवन में संतुलन और सामंजस्य स्थापित करना चाहते थे—मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास, तन-मन की एकता, अंग-प्रत्यंग और अंग-संपूर्ण में तारतम्य।

इसके अलावा, जान डियूई की तरह, जिनकी रचनाओं से माकीगुची परिचित थे, वे द्वैतवादी चिंतन में सुधार चाहते थे क्योंकि इसकी पृथकता और हठधर्मी के कारण पारस्परिक सद्भाव में अवरोध पड़ता है। वे ऐसे स्कूलों की स्थापना करना चाहते थे जो सामुदायिक जीवन से घनिष्ठ रूप से जुड़े हों। माकीगुची की नींव शास्त्रीय (क्लासिकल) थीं। डियूई विचारधारा के विपरीत, माकीगुची के चिंतन में भौतिक और सामाजिक विश्व, क्रमबद्ध थे, और मानव संवेदना के परे, सार्वभौमिक विधान पर आधारित थे। "वैज्ञानिक अवलोकन और परीक्षण की विधि को मानव की दुनिया पर कार्यान्वित करें तो एक सार्विक लक्ष्य-पूर्ण क्रम नजर आता है।"

इसके अलावा वे शिक्षा-शास्त्रियों के सख्त आलोचक भी थे। उनका आग्रह था कि शिक्षकों को खुद अपने और अन्य शिक्षकों के अभ्यासों का शिक्षार्थी बन जाना चाहिए। उनका मानना था कि व्यवहार से ही सिद्धांत पनपते हैं। एक और समस्या भी थी : अभ्यास के अध्ययन से प्राप्त अंतर्दृष्टियों को संगठित करने के लिए बहुत कम प्रयत्न किए गए थे, और इसलिए उन्हें लाभदायक नियमों और प्रणालियों के रूप में विकसित नहीं किया जा सका था। इस समस्या पर भी अभी हाल ही में अनुसंधानकर्ताओं ने ध्यान देना शुरू किया है। ये उन महत्वपूर्ण मुद्दों में से कुछेक हैं जिनसे माकीगुची जूझते रहे।

जब मैंने ''ऐजुकेशन फार क्रिएटिव लिविंग'' पढ़ी तो मैंने अक्सर अपने आपको माकीगुची के विश्लेषण से असहमत पाया—विशेषरूप से उनकी ज्ञान-मीमांसा से, उनकी रूढ़िवादिता से, और उनके विशेष प्रस्तावों में से कई एक से। कभी कभी उनकी मासूमियत से विनोदानुभूति भी हुई—हां यह बात अलग है कि इस अनुभूति में लगभग छह दशकों की पश्चदृष्टि भी शामिल है। फिर भी मैं माकीगुची की ईमानदारी, प्रत्यक्ष साहस और बुद्धिबल से निरंतर प्रभावित हुआ हूं—और साथ ही उनकी प्रबल आशावादिता से भी जो उनके सुधार प्रस्तावों की आशंकित असफलताओं के बावजूद कायम रही। आज शिक्षा और शिक्षाकर्मियों के लिए बहुत कठिन समय है, जो कई पहलुओं में माकीगुची के काल से बहुत भिन्न नहीं है। आज भी वैसा ही समय है जिसे ऐसे शिक्षकों की आवश्यकता है जिनमें माकीगुची के जैसे गुण हों, ऐसे शिक्षक जो, सुधारों की जटिलता जानने के बावजूद, साहसी और आशावादी हों।

अंत में, पुस्तक पढ़ते समय मुझे पुराने काल के शिक्षाविदों की रचनाओं पर ध्यान देने की महत्ता का पुनः स्मरण हो आया। अफसोस है कि हम शिक्षाविदों की स्मरण रखने की अवधि छोटी होती है। अनजाने में ही हम जर्जर और तिरस्कृत विचारधाराओं से गहरे डूबे रहते हैं। हमें माकीगुची जैसे लेखकों से बहुत कुछ सीखना है। वे हमें यह अवसर प्रदान करते हैं कि हम अपने समक्ष समस्याओं से जूझने के लिए नई दृष्टि और समझ प्राप्त करें, अगर हम इस अवसर का लाभ उठाना चाहें तो। और कुछ नहीं तो वे सही प्रश्न उठाने में हमारी मदद कर सकते हैं।

रॉबर्ट वी बुलोफ़, जूनियर
एसोसिएट प्रोफेसर आफ एजुकेशनल स्टडीज
यूनिवर्सिटी आफ ऊटा

परिचय

आज समय इस बात के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है कि त्सुनेसाबुरो माकीगुची के शिक्षा-संबंधी आलेख अंतर्राष्ट्रीय पाठकों को उपलब्ध हों। शिक्षा यूं तो दुनिया भर में संकट का सामना कर रही है, मगर कुछ संपन्न औद्योगिक देशों में विशेष रूप से। इसीलिए वहां निजी और सरकारी समितियां एवं गुट इस अस्तव्यस्त दशा के कारण जानने के लिए जिस प्रबलता से वाद-विवाद में उलझे हुए हैं उसी तत्परता से शैक्षिक समस्याओं का समाधान ढूंढ़ने में भी लगे हुए हैं।

परस्पर अंतर्विरोधी विचारों और तर्क-वितर्कों के इस शोरोगुल में, माकीगुची की अंतर्दृष्टि और शिक्षा के सुधार के लिए उनकी सिफारिशें हमें एक ऐसा उपयोगी, नया और स्पष्ट ढांचा देती हैं जिसके अंतर्गत हम अपनी शैक्षिक दुविधाओं की जांच पड़ताल कर सकते हैं। कुछ औद्योगिक समाजों में शिक्षा के मुद्दे - निरी निपुणता अथवा वैयक्तिक ज्ञान - समाधानहीन और विवादास्पद जान पड़ते हैं। ऐसे समाजों में भी शैक्षणिक समस्याओं का माकीगुची द्वारा विश्लेषण विवादों को चीरकर शिक्षा के बुनियादी मुद्दों तक पहुंच जाता है।

जापानी शिक्षा प्रणाली के अंतर्गत अध्यापक और प्राध्यापक के रूप में माकीगुची ने अपने शैक्षणिक विचार प्रस्तुत करने के साथ ही शैक्षिक सुधार स्थापित करने के लिए प्रयत्न किए। इन दोनों का मूल्यांकन बीसवीं सदी की प्रारंभिक दशाब्दियों में उनके जीवन काल और समकालीन जापानी समाज और संस्कृति के संदर्भ में किया जाना चाहिए। उन वर्षों में जापान विश्वव्यापी औद्योगीकरण की प्रक्रिया में उलझा हुआ था। यह प्रक्रिया जापान के साथ साथ यूरोप और उत्तरी अमेरिका में भी पूरे जोर पर थी। माकीगुची ने भी उसी तरह की शैक्षिक समस्याओं और वास्तविकताओं से संघर्ष किया जिनसे दूसरे औद्योगोन्मुख देशों के शिक्षक आमुख थे। परिचय-आलेख में औद्योगीकरण की बृहत प्रक्रिया का विवेचन तो संभव नहीं है, मगर माकीगुची के विचारों को समझ पाने के लिए इस औद्योगीकरण का आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं शैक्षणिक संस्थानों पर पड़े प्रभाव का उल्लेख आवश्यक है। जापानी शिक्षा पद्धति की प्रत्यक्ष कमियों को लेकर माकीगुची बहुत व्याकुल थे।[1]

माकीगुची के आलेखों के मूलभूत विषय

माकीगुची की शिक्षा-संबंधी चिंता को उन्माद की संज्ञा दी जा सकती है। अपने समाज की शिक्षा व्यवस्थाओं की विषमताओं को समझना और सुधार की प्रक्रिया को प्रस्थापित करना – ये संघर्ष ही उनके जीवन के मुख्य उद्देश्य बन गए थे। उनके प्रयत्नों में छह मूलभूत विषय-वस्तु अथवा विचारणीय क्षेत्र उभरते हैं, और यही उनके शिक्षा-संबंधी विचारधारा और सुधार-प्रस्ताव के आधार केंद्र हैं।

शिक्षा का लक्ष्य

शिक्षा के लक्ष्य को प्रतिपादित करने की प्रक्रिया माकीगुची की विचारधारा का केंद्र-बिंदु थी। उनका मानना था कि जापानी शिक्षा का यही सबसे कमजोर पहलू था। उनका दृढ़ विश्वास था कि शैक्षिक अभिप्राय और ध्येय के निर्णयों को दार्शनिकों और विद्वानों पर छोड़ देने में समाज गलती करता है। उनके विचार में अक्सर यही होता आया था कि शिक्षा के ध्येय दार्शनिक और विद्वान तय करते थे, और वे, प्रतिदिन की वास्तविकताओं से बहुत दूर, गूढ़ काल्पनिक विचारों में लिप्त रहते थे। उन्होंने कहा कि यह आवश्यक है कि

> हम पठन-पाठन से संबंधित हर अध्ययन को शिक्षा की वास्तविक स्थितियों से जोड़ें। इसके लिए पूरी सैद्धांतिक प्रक्रिया को उलटना होगा। विद्वानों को यह छूट नहीं होनी चाहिए कि वे अपने ऊंचे धरातल से स्कूलों पर आदेश थोपें या वातावरण में ऐसे मौसमी सिद्धांतों से उथल-पुथल पैदा करें जो हवा के अगले झोंके से ही उड़ जाएं। इसके बजाय वे शिक्षाकर्मी जिनकी जड़ें प्रतिदिन के अनुभवों में गढ़ी हैं, वही सिद्धांतों का निचोड़ निकालें और उसे ठोस सुधारों के रूप में व्यवहार में लाएं।[2]

स्पष्ट है, माकीगुची के अनुसार, शिक्षा-संबंधी सुधारों की ओर पहला जरूरी कदम इस बात की पहचान है कि शिक्षा के लक्ष्य दैनिक जीवन और जरूरतों से ही उभरते हैं। अपने इस दृढ़ मत के प्रसार के लिए, माकीगुची ने व्यक्तियों, परिवारों और समुदायों के जीवन और गतिविधियों के अध्ययन को ही अपने व्यावसायिक जीवन का प्रमुख तत्व बनाया। लोगों के दैनिक जीवन की वास्तविकताओं से जुड़ा होना माकीगुची के आलेखों में साफ झलकता है। वे इस नतीजे पर पहुंच चुके थे कि ये वास्तविकताएं ही शिक्षा के लक्ष्य का स्रोत हैं।

सुख

माकीगुची के पाठकों को कुछ चौकन्ना रहना होगा। उनका शब्द चयन संचार-अवरोध

पैदा कर सकता है, विशेष रूप से उनके 'सुख' शब्द का प्रयोग। जब माकीगुची इस बात पर जोर देते हैं कि शिक्षा का परम लक्ष्य सुख-प्राप्ति है और शैक्षणिक योजनाएं और कार्यक्रम इसी बुनियादी समझ पर आधारित होने चाहिए तो उस समय उनके मन में सुख की छवि उस प्रसन्नता-मात्र से बहुत परे है जो खोखली, स्वकेंद्रित और भोगवादी है।[3]

माकीगुची के लिए सुख की परिकल्पना तात्कालिक आत्मतुष्टि में रमे रहने से अलग थी। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि सुख पाने के लिए हर व्यक्ति में ऐसी सामाजिक चेतना का पनपना जरूरी है जिसमें यह अहसास शामिल हो कि हर व्यक्ति समाज का कितना कर्जदार है, "न सिर्फ बुनियादी आवश्यकताओं और सुरक्षा के लिए वरन उस हर चीज के लिए जिससे सुख की संरचना होती है।"[4] माकीगुची की राय में जापानी शिक्षा की त्रासदी यही है कि वह विद्यार्थियों में सामाजिक चेतना जगाने में असमर्थ रही है जो उसका बुनियादी और सबसे महत्वपूर्ण दायित्व है। असल में कहना यह चाहिए कि शिक्षा इसका ठीक उलटा करने में कामयाब रही है; यानी व्यक्तिगत एवं भौतिक-तुष्टि के लिए सुख-विनाशक प्रवृत्ति पैदा करने में।[5]

मूल्य संरचना

माकीगुची के शिक्षा-संबंधी विचारों में तीसरी महत्वपूर्ण विषय-वस्तु उनका यह दृष्टिकोण है कि मानव-मात्र स्वभाव से सृजनात्मक है। सृजनात्मक होना मानवता का निचोड़ है। अगर इस सृजन-संभावना को दबाया या मिटाया न जाए तो मानव अपने व्यवहार में उसकी अभिव्यक्ति अवश्य करेगा। सन् 1930 में अपने विचारों का सार बताते हुए उन्होंने लिखा : "हम यह समझकर चलते हैं कि मानव पदार्थ की रचना नहीं कर सकता। मगर हां वह मूल्यों का सृजन कर सकता है। वस्तुतया मूल्य-सृजन ही मानवता है। जब हम किसी व्यक्ति के चरित्र की शक्ति की सराहना करते हैं तो हम वास्तव में उसके मूल्य-सृजन की श्रेष्ठ क्षमता को ही स्वीकारते हैं।"[6]

इसलिए बुनियादी सवाल यह है कि मानव की सृजन-क्षमता को किस दिशा में और किन मूल्यों की संरचना में ढाला जाए ? माकीगुची की धारणा है कि उचित शिक्षा मिले तो मानव मात्र यही चयन करेगा कि उसकी सृजन क्षमता का उपयोग उसके जीवन को पूरी तरह संवारने के साथ साथ समाज के लिए अधिकतम हित उबारने में हो। उचित शिक्षा से मुराद उस शिक्षा की है जो हर व्यक्ति को यह क्षमता दे कि वह अपना जीवन सामाजिक विकास के संदर्भ में देख सके। मूल्य-सृजन को माकीगुची विकास के संदर्भ में देख सके। मूल्य-सृजन से माकीगुची का यही अभिप्राय है। माकीगुची के अनुसार एक जीवंत, सुखी और संतुष्ट व्यक्ति वह है जिसका जीवन मूल्यों की स्थापना का केंद्र है। ऐसे मूल्य जो न केवल व्यक्तिगत जीवन को सार्थक

बनाते हैं, बल्कि एक दूजे पर निर्भर उन पारस्परिक संबंधों के तारतम्य को भी पूरी तरह संवारते हैं जो हर व्यक्ति के सामूहिक जीवन की बुनियाद हैं। मूल्य-स्रष्टा शिक्षा वह शिक्षा है जो इस दिशा की तरफ अग्रसर करती है।[7]

सीखने की प्रक्रिया और शिक्षाकर्मियों का प्रशिक्षण

माकीगुची के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य केवल ज्ञान का प्रसार न तो है, न हो सकता है। बल्कि, शिक्षा का लक्ष्य है सीख हासिल करने की विधि को दिशा देना और उसका दायित्व स्वयं शिक्षार्थी को सौंप देना। माकीगुची के शिक्षा-शास्त्र की आधारशिला शिक्षार्थी को शैक्षणिक प्रक्रिया के प्रति सजग बनाना ही है। माकीगुची ने मानव-शिक्षा की प्रक्रिया का जो रास्ता सुझाया वह उस परंपरा से विपरीत है जिसमें सीखने की प्रक्रिया का अर्थ होता है ज्ञान का संगठन और प्रदान। उन्होंने जापानी शिक्षा में सीख हासिल करने की परिपाटी का वर्णन कुछ ऐसे किया :

> शिक्षा की एक ऐसी अलाभकर विधि जिसे दुनिया भर ने सही समझ कर ग्रहण कर रखा है। वाकई यह मानव के सबसे पुराने और अविकसित विन्यासों में से एक है। शिक्षक जो करता है, विद्यार्थी भी हू-ब-हू उसी की नकल करता है। इससे छवि उभरती है उन मछुआरों की जिन्होंने सिर्फ बंसी का प्रयोग किया हो और जाल के बारे में जाना भी न हो। या उन किसानों की जिन्होंने मिट्टी की गुड़ाई और निराई के लिए बाप-दादा के जमाने से चले आ रहे कुदाली-फावड़े के परे, अपने अस्त्रों में सुधार लाने का सोचा भी न हो।[8]

समकालीन घिसी-पिटी और प्रभावहीन जापानी शिक्षा-परिपाटी के प्रचलन से माकीगुची बहुत खिन्न थे।

माकीगुची ने यह माना कि शिक्षा के प्रति उनका दृष्टिकोण, अर्थात विद्यार्थी के सीखने के प्रयत्नों को दिशा देना, कोई अनूठा नहीं था। बल्कि कमेनियस, पेस्टालोजी और अन्य विचारकों ने सदियों पहले जो विचार दिए वे, उन्हीं को दुबारा कहा जा रहा था। माकीगुची के अनुसार समस्या यह थी कि मानव के सीख हासिल करने के बुनियादी नियम को जापानी शिक्षा-पद्धति में कभी अमल में लाया ही नहीं गया। उन्होंने इन हालात के लिए शिक्षकों को ही अधिक दोषी पाया। माकीगुची की प्राथमिकता थी ऐसे शिक्षक जो विद्यार्थी के सीखने की प्रक्रिया में मार्गदर्शक हों न कि घिसीपिटी जानकारी के दायक।

माकीगुची इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि थोपी हुई विधियां और, बनाम शिक्षा-प्राप्ति के, संगठित सूचना क्रम समकालीन जापानी शिक्षा प्रणाली की शोचनीय स्थिति और प्रभावहीनता के लिए जिम्मेदार थे। उनकी मान्यता थी कि शिक्षकों को तथ्यों की

खोज तो किताबों पर छोड़ देनी चाहिए और स्वयं, विद्यार्थियों के निजी शिक्षार्जन के अनुभव में, सहायक की भूमिका निभानी चाहिए। शिक्षकों को चयन करना होगा कि वे विद्यार्थियों पर शिक्षा थोपेंगे या स्वयं उनके प्रयत्नों को ज्ञानोदय की ओर दिशोन्मुख करेंगे ? शिक्षकों को यह निर्णय करना होगा कि वे सूचनाओं को सूत्रबद्ध करेंगे या विद्यार्थियों के प्राकृतिक कौतूहल और जिज्ञासा को पनपने देंगे। माकीगुची का विश्वास था कि इस विषय पर शिक्षक जो भी निर्णय लेंगे वह शिक्षा प्रणाली का सबसे महत्वपूर्ण भाग होगा। वरन, वह शिक्षा की संपूर्ण परिकल्पना को ही बदल देगा।

शिक्षा-विज्ञान की आवश्यकता

शिक्षार्जन की संकल्पना से माकीगुची का विश्वास जुड़ा था कि शिक्षा को विज्ञान की संज्ञा देनी चाहिए। इस विश्वास में वह अपने समय के साथ थे। उनके जीवन काल में, यानी बीसवीं सदी की प्रारंभिक दशाब्दियों में, विज्ञान को लगभग पूरे संसार में मानवता का महान परिमोचक माना जाता था। सकारात्मकता ही भविष्य का रास्ता थी। परंतु माकीगुची का विज्ञान से यह लगाव तत्कालीन बौद्धिक चलन से सहमति मात्र नहीं था। बल्कि उनकी दृढ़ मान्यता थी कि शिक्षा में सुधार की आशा तब ही है जब शिक्षा-शास्त्री शिक्षार्जन के ऐसे सिद्धांतों को ढूंढ़ें जो दुनिया भर के लिए उपयुक्त हों, और फिर उन्हीं पर अमल करें।

> "यहां मेरा इशारा सकारात्मक रवैया अपनाने की ओर है। अड़ियल सिद्धांतवाद की परस्पर विरोधात्मक धारणाओं को इधर उधर उछालते रहने से अच्छा है कि सकारात्मक सबूतों को इकट्ठा करके उनका एक ढांचा बनाया जाए और अगली पीढ़ियों तक पहुंचा जाए। हालांकि उसके अर्थों में व्यक्तिगत विभिन्नताएं तो होंगी, मगर फिर भी हमेशा समरूप निष्कर्ष निकाले जा सकेंगे। इसमें अंधविश्वास पर निर्भर करने की कोई जरूरत नहीं पड़ेगी। सकारात्मकता की पुकार है कि हम दैनिक वस्तु-स्थितियों को शिक्षा का आधार-ज्ञान बनाएं, और फिर वैज्ञानिक शस्त्रों से सावधानीपूर्ण अपनी शैक्षणिक धारणाओं का विवेचन करें, ताकि हम शिक्षा-विधि की जड़ों तक पहुंच कर लगातार सत्य उजागर कर सकें। केवल तभी शिक्षा एक पूर्णतया सुसंयोजित ज्ञान-पुंज को अंगीकार कर सकेगी।[9]

इस प्रकार माकीगुची के लिए विज्ञान एक विधिवत और वस्तुनिष्ठ साधन है, मानव की शिक्षा प्राप्ति में निहित उन सिद्धांतों तक पहुंचने के लिए जिन पर शिक्षा प्रणाली स्थापित की जा सकती है। विज्ञान और विज्ञान एवं शिक्षा के संबंध के विषय में माकीगुची का दृष्टिकोण उनके शिक्षा और औषधि-विज्ञान के निम्नलिखित तुलनात्मक विश्लेषण से और स्पष्ट हो जाता है :

वैसे तो औषधि-विज्ञान और शिक्षा को वास्तव में व्यावहारिक विज्ञान के संदर्भ में नजदीकी रूप से जुड़ा होना चाहिए क्योंकि एक तन को प्रशस्त करता है तो दूसरा मन को; एक निष्क्रिय और निरोधक के रूप में, तो दूसरा क्रियाशील और रचनात्मक रूप में। मेरा मानना है कि यह इसलिए है क्योंकि एक के पीछे विकास का पूरा इतिहास है जिसने उसे तकनीकी सिद्धांतों पर आधारित विज्ञान बना दिया है और दूसरा अब भी न केवल वैज्ञानिक धरातल से भयभीत है बल्कि उसमें निहित विज्ञान की संभावनाओं पर भी शक करता है। इसीलिए शिक्षा-शास्त्री अब भी रूढ़ियों और रस्मों में फंसे हुए हैं, अंधेरे में भटक रहे हैं और सिर्फ सिर पर आन पड़ी समस्याओं से जूझने तक सीमित हैं। इसका कारण है कि वे वास्तविक अनुभव और परीक्षण की वैज्ञानिक शैली न अपनाते हुए दार्शनिकों की निराकार सोच ही अपना रहे हैं।

हम सीखेंगे कब ? यद्यपि शिक्षा के उद्देश्य दार्शनिक और समाजशास्त्री द्वारा परिभाषित मानव-जीवन के उद्देश्यों पर निर्भर कर सकते हैं, मगर इन उद्देश्यों को निर्धारित करने के बाद, इन विद्वानों को शिक्षा की पद्धतियों में नुक्ताचीनी करते रहने देना गलती है। विज्ञान का इतिहास अगर हमें इस मर्म से भी अवगत नहीं कराता तो वह हमें कुछ भी नहीं सिखाता।

हम शिक्षकों को अपनी दैनिक शैक्षणिक गतिविधियों के लिए जिन सवालों के जवाब एकदम ढूंढ़ने हैं, वे हैं : भविष्य में प्रणालियों को किस प्रकार सुधारें ? शिक्षा में लगातार अधिक प्रवीणता कैसे लाई जाए ? अब जब कि जापान में आधुनिक शिक्षा के ढांचे की स्थापना का साठ बरस लंबा अनुभव है, हम कब तक अपनी शिक्षा की प्राथमिकताओं को टालते रहेंगे और बाहर की विचारधाराओं और दार्शनिकों पर निर्भर करेंगे ? इन्हीं सवालों के चलते मेरी पुकार है कि आज की जापानी शिक्षा प्रणाली को बंधनों से मुक्त करके ऐसी शिक्षा की नींव डाली जाए जो मूल्यों का सृजन करे।[10]

माकीगुची का विश्वास था कि वैज्ञानिक विवेक ही शिक्षकों और शिक्षा-शास्त्रियों को सिखा सकता है कि वे अपने विचारों और मान्यताओं की विभिन्नता के बावजूद मिलजुल कर जापानी शिक्षा प्रणाली की जांच पड़ताल में हाथ बंटाएं, और इस अनुभव के आधार पर ही शिक्षा के उद्देश्यों और प्रचलन के क्षेत्रों में समझौते पर पहुंचें।

अंततः वर्तमान शैक्षिक वातावरण में वास्तविक जीवन के मूल्यों का अभाव ही उस उदासीनता को दर्शाता है जो शैक्षिक बिरादरी में मूल्य-संरचना

के प्रश्नों पर छाई हुई है। इसलिए आइए, हम अपने शिक्षा-संबंधी विचारों को फिर से परखें और उनकी मूल्य-सिद्धांतों की दिशा में पुनर्संरचना करें। सब शिक्षाकर्मी नई शैक्षिक प्रणाली की स्थापना में इन निदेशों के झंडे तले आ जाएं :

आधार	:	वास्तविक अनुभव
लक्ष्य	:	मूल्य-सृजन
व्यावहारिक सिद्धांत	:	साधनों की मितव्ययिता

पहले से कहीं ज्यादा आज हमारे सामने यह चुनौती है कि हम शिक्षा के ऐसे संपूर्ण विज्ञान की संरचना करें जो अंधेरे में तीर चलाते रहने के कड़वे अनुभवों से निथारा गया हो और जीवन-मूल्यों के ध्येय पर केंद्रित हो।[11]

स्कूल, परिवार और समाज की शैक्षिक-भूमिकाएं

जापानी शिक्षा की केंद्रीभूत प्रणाली को देखते हुए माकीगुची के विचारों और प्रस्तावों में सबसे अधिक क्रांतिकारी धारणा निम्न थी : स्कूलों ने समाज के अन्य हिस्सों से, परिवार और बिरादरी से, शैक्षिक भूमिका और दायित्व छीन के उन पर अनाधिकृत आधिपत्य जमा लिया है। माकीगुची के अनुसार, प्रभावोत्पादक शिक्षा केवल स्कूल, परिवार और समाज की तिहरी साझेदारी द्वारा ही संभव है। शिक्षा सुधार के उनके कार्यक्रम में केंद्र बिंदु यही प्रस्ताव था कि एक बिल्कुल नई प्रणाली की संरचना होनी चाहिए जिसके अंतर्गत स्कूल, परिवार और समाज के शिक्षा कार्य में अलग अलग विशिष्ट दायित्व हों। इस प्रस्ताव का मुख्य तत्व यह था कि बच्चा स्कूल में कम समय बिताए, केवल आधा दिन। इस प्रकार बच्चे के पास समय रहेगा कि वह समाज और परिवार की शिक्षाप्रद गतिविधियों में शामिल होकर उनसे सीख हासिल कर सके। ये गतिविधियां किसी भी रूप में हों मगर उसकी प्रकृति, अभिरुचि तथा आवश्यकता से मेल खाती हों।

माकीगुची ने आधे दिन वाले मूल्य-सृजनकारक स्कूलों के अपने प्रस्ताव को बहुत गहरी संभावनाओं का प्रस्ताव कहा। उनका कहना था कि उसके अपनाए जाने से शिक्षा ज्यादा अच्छी ही नहीं बल्कि पारंपरिक शिक्षा की अपेक्षा कम व्यय-साध्य होगी। बजट और आर्थिक कारणों की महत्ता समझते हुए भी, वे उन्हें अपेक्षाकृत गौण मानते थे। उनका विश्वास था कि उनके द्वारा प्रस्तावित प्रणाली को अपनाने का सबसे महत्वपूर्ण परिणाम यह होगा कि ऊबे हुए उदासीन बच्चे, जो केवल जबरदस्ती करने से ही पढ़ते हैं, होशियार, जोशीले और आत्मनिर्भर शिक्षार्थी बन जाएंगे। उन्होंने लिखा है कि आधे दिन वाले मूल्य-सृजनकारक स्कूलों के पीछे उनकी इच्छा यह थी :

> अध्ययन जीवन जीने की तैयारी का नाम नहीं है। अध्ययन और जीवन का अथवा जीवन और अध्ययन का चोली दामन का साथ है। इनके संबंध केवल समानांतर नहीं बल्कि और घनिष्ठ हैं। किसी के भी जीवन काल की बात ले लीजिए, जीवन में अध्ययन और अध्ययन में जीवन दोनों परस्पर एक दूजे के संदर्भ में परस्पर अंगीकार होते हैं। यानी स्कूलों की योजनाओं के आर्थिक पहलू का व्यवस्थापन नहीं, बल्कि सुख का संचार करना और काम को महत्व देना प्रस्तावित परिवर्तनों का मुख्य केंद्र है।[12]

मूल्य, समाज, व्यक्ति और शिक्षा-प्रक्रिया से संबद्ध माकीगुची की विचार शृंखला के संपूर्ण संदर्भ में उपरोक्त वक्तव्यों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि शिक्षा के सुधार को लेकर उनका प्रस्ताव कितना क्रांतिकारी है। उनका प्रस्ताव था कि समकालीन जापानी समाज के उस शैक्षिक विन्यास और विधि को पूरी तरह रद्द किया जाए जिसकी संरचना सदियों तक पाश्चात्य देशों में हुई और मेजी पुनर्संस्थापन के काल के बाद, जैसे का तैसा ही जापान में लागू कर दिया गया। उसके स्थान पर, वे ऐसा शैक्षणिक विन्यास और विधि देखना चाहते थे जो बिल्कुल भिन्न शिक्षा-प्रक्रिया पर आधारित हो, जिसमें दोनों पूरकों, व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंध शामिल हों। शिक्षा की वर्तमान प्रणाली उद्योगोन्मुख देशों के उस अनुभव से बनाई गई है जो ऐसे व्यक्तियों को शह देती है जो मशीनी कार्य में पटु हों और उन जिम्मेदारियों को निभा सकें जो उच्च-वर्ग द्वारा संचालित उत्पादन व खपत की प्रक्रिया से उभरती हैं। इस अवस्था में स्कूल ही इस तरह की शिक्षाप्राप्ति के केंद्र-बिंदु बनें। इससे पहले खोजे हुए तथ्य और सूचनाएं पाठ्यक्रम गठित करने के आधार थे तथा शिक्षक, प्रशासक, प्रतिपादक यानी शिक्षाकर्मी अपने विभिन्न स्वरूपों में शिक्षार्थियों और तथ्यों एवं सूचनाओं के बीच बिचौलियों का काम करते थे।

माकीगुची द्वारा पेश की गई शिक्षार्जन की परिकल्पना ने पारंपरिक दृष्टिकोण को झकझोर डाला। माकीगुची की योजना में विशिष्ट व्यक्ति शैक्षिक प्रक्रिया का केंद्र बिंदु है न कि स्कूल। व्यक्ति विशेष और उसके चारों तरफ के सामाजिक (स्थानीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय) ताने बाने और उसकी अपनी प्रकृति पाठ्यक्रम की संरचना के स्रोत हैं। शिक्षार्थी को स्वयं अपने आप चयन किए हुए उद्देश्यों और मान्यताओं की ओर अग्रसर करने के लिए, शिक्षाकर्मी पथ-प्रदर्शक हैं जिनकी भूमिका शिक्षार्थी को प्रोत्साहन और बढ़ावा देना और उन अवरोधकों को हटाने में मदद करना है, जो सीखने में आड़े आ रहे हों।

ये शैक्षिक सिद्धांत और ध्येय जापान की समकालीन शैक्षिक नीति और चलन से ठीक उलटे हैं। अगर माकीगुची द्वारा प्रस्तावित शैक्षिक सुधार अपना लिए गए होते और जड़ पकड़ लेते तो जापानी समाज और शिक्षा पद्धति में गहरा परिवर्तन

ला चुके होते। मगर दो कारणों से न तो इन प्रस्तावों को अपनाया गया, न ही इन पर अधिक ध्यान दिया गया।

शायद पहला कारण तो यह था कि माकीगुची विश्वविद्यालय की शिक्षा से वंचित रहे थे : उनकी उच्च शिक्षा स्कूल-प्रशिक्षण तक सीमित थी । इसलिए जापान के विद्योचित समुदाय ने उनको अनदेखा कर दिया। 'सोका क्योइकुगाकु' (मूल्य-सृजनकारी शैक्षिक सिद्धांत) के पहले भाग के सन् 1930 में प्रकाशित होने के बाद, माकीगुची को यह अवसर मिला था कि वे जगह जगह व्याख्यान दे पाएं और अपने विचार प्रस्तुत करें। उन्हें आशा थी कि उनके प्रस्ताव को मान्यता प्राप्त होगी और उस पर विचार-विमर्श एवं वाद-विवाद की शुरुआत होगी। लेकिन उनके प्रयत्नों के बदले उन्हें केवल खामोशी ही मिल पाई। विश्वविद्यालय में शिक्षित उस विशिष्ट वर्ग ने जो समाज में शिक्षा-संबंधी मामलों को नियंत्रित करता था, माकीगुची की निरी उपेक्षा ही की। बहुत वर्षों के बाद, माकीगुची ने अपने समय में मिली निराशा का वर्णन किया : "सन् 1931 में टोक्यो इंपीरियल यूनिवर्सिटी के एक शिक्षा सम्मेलन में मैंने एक भाषण द्वारा अपने शिक्षा-मत को विद्योचित जगत के सामने रखा। परंतु उसकी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। शिक्षा की हमारे देश में वर्तमान दशा को देखते हुए, मुझे इस बात से गहरी निराशा हुई।"[13]

शिक्षा-शास्त्रियों के विशिष्ट वर्ग के तिरस्कार के बावजूद, शायद माकीगुची को दुबारा अपनी बात कहने का अवसर मिल जाता अगर एक दूसरा कारण ठीक उसी समय पनप न रहा होता। और यह कारण था जापान का बढ़ता हुआ सैन्यीकरण। हालांकि शिक्षा-संस्थानों ने माकीगुची के विचारों को अमान्य ठहराया, मगर जापानी समाज के कुछ प्रतिष्ठित और प्रभुत्वशाली व्यक्तियों ने उनका साथ दिया। जापानी समाज के उन गणमान्य नेताओं में शामिल थे : त्सुयोशी इनुकाई, दिसंबर 1931 से मई 1932 तक जापानी प्रधानमंत्री; मागोइची त्सुवारा, वाणिज्य और उद्योगमंत्री और ईतासु तकागी, टोक्यो इंपीरियल यूनिवर्सिटी के औषधि-विज्ञान के प्राध्यापक। इन्होंने व अन्य कई प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने माकीगुची के विचारों और प्रस्तावों को माना और सहयोग दिया।[14] इस प्रकार के अनुमोदन के चलते, यह बात विश्वसनीय है कि माकीगुची के जापानी शिक्षा को बदलने वाले क्रांतिकारी विचारों की समुचित सुनवाई होती। लेकिन देश के बढ़ते सैन्यीकरण से और विशेष रूप से प्रधानमंत्री इनुकाई की 1932 में हत्या के बाद, यह परिस्थिति समाप्त हो गई। नए सैन्य-प्रभुत्व शासन में उन विचारों और गैर विश्वासों के लिए कोई स्थान नहीं था जिनका माकीगुची ने प्रतिनिधित्व किया था। इसके बाद, उन्हें सब शैक्षिक गतिविधियों से बेदखल कर दिया गया था।

माकीगुची ने जिस कार्य का बीड़ा उठाया था वह आज भी अधूरा है। पूरी दुनिया में नहीं तो अधिकांश देशों में जबरदस्ती थोपी जाने वाली शिक्षा का स्वरूप

ही प्रचलित रहा है। इस प्रकार की निरोपित शिक्षा के परिमाण वही हैं जिनकी माकीगुची को आशंका थी। ये परिणाम जापान और अमरीका में विशेष तौर पर स्पष्ट हैं। इन देशों में जागरूक व्यक्ति इस बात पर बल दे रहे हैं कि शिक्षा के अर्थ, लक्ष्य और प्रचलित स्वरूप पर बुनियादी तौर पर दुबारा विचार हो। यह पुस्तक अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के सदस्यों के सामने इस आशा के साथ प्रस्तुत की जा रही है कि वह इन विचार-विमर्शों में योगदान देगा।

आलोचना और मूल्यांकन

उन कमजोर पहलुओं का, जो मुझे माकीगुची के विचारों में नजर आए, मैंने "माकीगुची - दी वैल्यू क्रिएटर" में उनका संक्षिप्त विवरण दिया था। साथ साथ उन सीमाओं और प्रतिबंधों का भी जिक्र किया था जो जापान की शिक्षा-पद्धति में सुधार लाने के उनके प्रयत्नों के आड़े आए।[15] एक और आलोचना मेरे विचार हेतु आई है, जिसे कोइची मोरी ने माकीगुची के एक बहुत अच्छे अध्ययन में प्रस्तुत की है।"[16] मोरी का कहना है कि माकीगुची ने सुख को शिक्षा और जीवन का लक्ष्य साबित करने में, समकालीन सामाजिक सीमाओं में ही व्यक्तिगत सुख की खोज पर ध्यान दिया, सामाजिक नीतियों और ढांचों पर सवाल उठाये बिना या बिना उनकी आलोचना करे। मोरी के विश्लेषण के अनुसार, माकीगुची ने समाज को कुछ ऐसा दर्जा दिया जिसकी आज्ञा का पालन हर व्यक्ति को करना है। माकीगुची के लिए समकालीन सरकार और राष्ट्र बराबर थे : "राष्ट्र और समाज के इस तरह की समझ के चलते, समकालीन सरकार के खिलाफ किसी आलोचना की आशा करन. असंभव है। माकीगुची ने देशवासियों की इच्छा और सरकारी नीतियों का एकाकार किया।"[17] मोरी का निष्कर्ष है कि इस तरह से माकीगुची बहुत भोले थे। इसीलिए समाज में सुधार लाने के लिए उनके शैक्षिक सुधारों के प्रस्तावों में यह बात शामिल नहीं थी कि समाज में तत्कालीन सत्ता के ढांचे किस हद तक लोगों के मत और सृजनात्मक व्यवहार पर अंकुश लगा सकते हैं।[18]

मोरी द्वारा माकीगुची की इस आलोचना में कुछ दम है। शायद माकीगुची ने समकालीन सामाजिक-संरचना जैसी थी, वैसी ही स्वीकार कर ली थी। और ऐसा भी लगता है कि उन्होंने अपने विचारों के विरोधाभास को या तो देखा ही नहीं या उन पर ध्यान नहीं दिया। मोरी की राय में यह सम्राट परंपरा और उसके अंतर्गत राष्ट्र को परिवार मानने की विचारधारा के कारण हुआ। उनकी राय में माकीगुची इस विचारधारा से इतने ओतप्रोत थे कि उन्होंने उस पर कभी प्रश्न ही नहीं उठाए।[19]

यह माना जा सकता है कि इस तरह की सीमाबद्धता और अंधबिंदु माकीगुची के आलेखों में है। लेकिन फिर भी मेरा विश्वास है कि ये कमियां उनके शिक्षा-संबंधी विचारों और प्रस्तावों के मूल्य और महत्ता को कम नहीं करतीं। इससे यह जाहिर

होता है कि माकीगुची संपूर्ण रूप से विद्वान या सर्वज्ञानी नहीं थे। वह बस एक मामूली इंसान थे जो अन्य इंसानों के प्रति बहुत संवेदनशील थे और जिन्होंने सबकी, विशेष तौर से युवा पीढ़ी की, पीड़ाओं, आवश्यकताओं और इच्छाओं के साथ घनिष्ठ संबंध बनाया। मेरा मानना है कि उसी संवेदनपूर्ण चिंता ने माकीगुची को अग्रसर किया कि वे अपने प्रयत्न और सृजनात्मक योग्यता को मानव की शिक्षा-प्रक्रिया और उससे जुड़े हुए सामाजिक संस्थानों को समझने पर केंद्रित करें। इसी प्रयत्न से उनकी मूल्य सृजक शिक्षा पद्धति का सिद्धांत प्रतिपादित हुआ।

मेरा निवेदन है कि मानव-व्यक्तित्व और शिक्षा-प्रक्रिया की प्रकृति समझने के लिए माकीगुची ने जो संघर्ष किए, उनमें सदी के आने वाले दशकों के दार्शनिकों और शिक्षा-शास्त्रियों और मनोवैज्ञानिकों की झलक मिलती है, विशेष रूप से अब्राहम मॉस्लो, एरिक फरौम, डेविड मॉर्टन, कार्ल रोजर्स, रॉबर्ट थियोबाल्ड्र इत्यादि के अध्ययन और परिकाल्पनिक योगदान की। माकीगुची का कार्य बाद में आने वाले विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों और अनुमानों की पुष्टि करता है। इन विद्वानों का शिक्षा प्राप्ति की प्रक्रिया को समझने में जो योगदान है वे शिक्षा-शास्त्री के रूप में माकीगुची की प्रतिभा और महत्ता की गवाही देते हैं।

1. शिक्षा के लक्ष्य पर चिंतन

मानव की हर तलाश की तरह, शिक्षा के क्षेत्र में भी मंजिल ही रास्ता तय करती है; लक्ष्य ही साधन निर्धारित करते हैं। यानी उपयुक्त शिक्षा प्रणाली तब ही पनप सकती है जब शिक्षा के विभिन्न कार्यक्रमों के लक्ष्य मालूम हों। आज समस्या यह है कि शिक्षा व्यवस्था के उद्देश्य की स्पष्ट परिभाषा नहीं है। अगर लक्ष्य ही धुंधला हो तो तीर निशाने पर नहीं लग सकता। मगर शिक्षा के साथ वही हुआ है। और, लक्ष्य के धुंधलेपन और दिशाहीन शिक्षा की सबसे ज्यादा सजा भुगतनी पड़ रही है बच्चों को।

शिक्षा में लक्ष्य का तय करना और उसका संचालन आचार्यों के मनमाने और सापेक्ष निर्णयों पर आधारित नहीं हो सकता। शिक्षा का लक्ष्य तो दिन-प्रतिदिन के जीवन की सचाइयों से ही उभरना चाहिए। लक्ष्य ऐसा हो जो केवल मानव जीवन के विस्तार को ही नहीं बल्कि परिवार और समाज की विशिष्ट जरूरतों को अपने में समेट ले। शिक्षा के लक्ष्य को अगर इस व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाए तो हम इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि शिक्षा प्राप्त करने में सुख ही उसका प्रमुख तत्व है। इस पुस्तक का मुख्य विषय यही है : शिक्षा का बुनियादी उद्देश्य सुख की सिद्धि है और इसी मूलबोध पर शिक्षा की योजनाओं और कार्यक्रमों की नींव रखी जानी चाहिए।

सुख है क्या ? सदियों से यह प्रश्न दार्शनिक विवादों का विषय रहा है। स्वयं अपने लिए सुख का संतोषजनक अर्थ ढूंढ़ने के लिए मैंने विभिन्न स्थितियों में, विभिन्न लोगों के दिन-प्रतिदिन के जीवन को ध्यान से देखना और समझना शुरू किया और इस तरह मैं इस धारणा पर पहुंचा कि सुख का आधार अंततः जीवन मूल्यों का सिद्धांत ही है।

शिक्षा के लक्ष्य का निर्धारण

शिक्षा के लक्ष्य निर्धारण के साधन

शिक्षा के मूल लक्ष्य तक पहुंचने के लिए रास्ता तय करना ही लक्ष्य निर्धारण का

पहला चरण है। मैं विद्वानों और दार्शनिकों के महत्वपूर्ण योगदान को नकारना नहीं चाहता। मगर मेरा मानना है कि उन्हीं पर लक्ष्य का निर्धारण छोड़ देना, शिक्षा की योजनाओं की अहम त्रुटि रही है। उनकी भूमिका महत्वपूर्ण और आवश्यक दोनों है। मेरा निवेदन यह है कि शिक्षा के लक्ष्य का निर्धारण करते समय इस पक्ष की ओर अवश्य ध्यान दिया जाना चाहिए कि लोग स्वयं अपने जीवन का लक्ष्य क्या मानते हैं। शिक्षा और शिक्षार्थी के जीवन लक्ष्यों में तालमेल आवश्यक है।

हम आज भी मानव व्यक्तित्व के फलने-फूलने और विकास की प्रक्रिया को भली भांति नहीं समझते। यह तो स्पष्ट है कि मनुष्य का जन्म पूर्व निर्धारित लक्ष्यों के साथ नहीं होता। मगर हर व्यक्ति लक्ष्यविहीन भी नहीं होता। अपने अध्ययन और अवलोकन के चलते मुझे लगता है कि हर व्यक्ति में कोई विशेष लक्षण होता है जो उसे राह दिखाता है। मगर साथ साथ कुछ ऐसा भी है जो सब में समान रूप से विद्यमान है। यही विशेष लक्षण अचेतन मन के झुकाव को व्यक्तिगत लक्ष्य का प्रतिरूप देता है। किसी दूसरे व्यक्ति के सतही अवलोकन और एंद्रीय संवेदनाओं से यह लक्षण ओझल रहता है। मगर फिर भी यह लक्षण हर अंतर्मन में होता है और हर व्यक्ति विशेष के जीवन विस्तार में झलकता रहता है।

मानव विकास की प्रक्रिया जटिल है और इस विषय पर हमारा ज्ञान अधूरा है। इसलिए कोई अचंभा नहीं है कि जीवन दर्शन की संरचना के प्रयत्नों में मुख्य समस्याएं अछूती रह गई हैं। यह प्रयत्न केवल पूर्विकाओं पर ही आधारित रहे हैं। पुराने विद्वानों के व्यक्तिगत और सापेक्ष विचारों को, उनके प्रति श्रद्धा भाव के कारण, बिना जांचे-परखे सच मान लिया गया है। मगर वे पूर्वज स्वयं अपनी धारणाओं पर कैसे पहुंचे ? शायद अंतर्बोध से या फिर स्वयं अपने पूर्वजों के विचारों के निचोड़ से। बहरहाल, दोनों हालात में, हम तक विद्वानों की केवल बिना जांची परखी धारणाएं ही पहुंची हैं जिनका हमारे पास कोई ठोस सबूत नहीं है।

एक समस्या और भी है। अतीत के समाज की जरूरतों और मांगों से पनपा हुआ जीवन दर्शन, तब उस समाज के लिए उपयुक्त रहा होगा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि जीवन का वही दर्शन हमारे आज के समाज के लिए भी उपयुक्त होगा। हमारी यह गलती रही है कि हमने शिक्षा के लक्ष्य के नाम पर घिसे-पिटे हुए विचारों को ऐसे अपनाया हुआ है जैसे वे आज भी प्रासंगिक हों। और इसीलिए, समकालीन शिक्षा में, गंभीर समस्याएं हमारे आड़े आ रही हैं।

अगर लक्ष्य ही धुंधला हो तो हम यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि तीर निशाने पर लगेगा। इसी प्रकार, शिक्षा का अगर कोई प्रमाणित लक्ष्य ही नहीं है तो उसकी कारगर प्रणाली भी नहीं बनाई जा सकती। इसलिए हमारे सामने अहम मुद्दा यह है कि शिक्षा-कार्यक्रम बनाने के लिए, हम स्पष्ट और प्रासंगिक लक्ष्य कैसे उजागर करें ? हमारा काम इसलिए और भी कठिन हो गया है क्योंकि स्पष्ट लक्ष्य के अभाव

में देश की शिक्षा व्यवस्था बेडौल ही नहीं भीमकाय भी हो गई है।

आज की वस्तुस्थिति को देखते हुए गंभीर अध्ययन और स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। उदाहरण के तौर पर हमें यह जानना होगा कि बच्चों की शिक्षा से समाज की क्या अपेक्षा है ? इसमें दो पहलू शामिल हैं : मां-बाप की बच्चों के विषय में आकांक्षाएं और अगली पीढ़ी से समाज की अपेक्षाएं। जो मां-बाप अपने बच्चों से सचमुच प्यार करते हैं, वे सोच भी नहीं सकते कि वे बच्चों को अपने सुख का साधन बनाएं। इस बात का एक अच्छा उदाहरण एचिज़ेन के लॉर्ड ओ ओका के एक निर्णय पर आधारित मशहूर कहानी से मिलता है।[1] उनके सामने मुद्दा था एक छोटे बच्चे की अभिरक्षा के लिए उसकी मां और सौतेली मां के दावों का। सौतेली मां के लिए बच्चे पर अपना अधिकार बच्चे की भलाई से प्रमुख था। दूसरी ओर, असली मां बच्चा वापस पाने के बजाय बच्चे की भलाई को लेकर चिंतित थी।

समाज को बच्चों की जरूरतों के बारे में उतना ही चिंतित होना चाहिए जितना उनकी भलाई के बारे में। अगर कोई समाज सिर्फ इस बात पर ज्यादा ध्यान देता है कि शिक्षित वर्ग से लाभ कैसे कमाएं तो नतीजा दोनों के लिए अनर्थकारी होगा। समाज शिक्षा के जो लक्ष्य बनाता है उनका तालमेल व्यक्तिगत आवश्यकताओं और उद्देश्यों से होना ही चाहिए। शिक्षा का संचालन ऐसे होना चाहिए जिससे न तो समाज शिक्षित वर्ग को केवल साधनमात्र जाने, और न ही शिक्षित वर्ग समाज को। दोनों को एक-दूसरे के अस्तित्व का कारण पहचानना और स्वीकारना होगा।

हर राष्ट्र या समाज अंततः उसके अपने लोग हैं। समाज व्यक्तिगत इकाइयों से मिलकर ही बना है। समाज स्वस्थ और संपन्न तव ही होगा, तब ही फलेगा फूलेगा, जब विकास और पूर्ति व्यक्तिगत स्तर पर भी हो। इसके विपरीत, अगर विलग व्यक्तियों का दम घुटेगा तो समाज दुर्बल हो जायगा, उसका पतन होगा। जब समाज के विभिन्न तत्व या व्यक्तिगत इकाइयां, जीवन-मूल्यों के प्रति समान रूप से निष्ठा रखते हों तो समाज संपन्न होता है, संवर जाता है। अगर इस निष्ठा में विभिन्नता हो तो समाज बिखर जाता है। इन सच्चाइयों के कारण, यह बहुत जरूरी है कि शिक्षा के लक्ष्य की स्थापना में, समाज और हरेक परिवार साथ साथ जुटे।

आधुनिक समाज में शिक्षा की महत्ता इस बात से स्पष्ट है कि दुनिया भर की सरकारें शिक्षा प्रक्रिया से जुड़ी हैं। सरकारों ने शिक्षा की असली जिम्मेदारी घर आंगन से, स्थानीय समुदाय से, छीन ली। धीरे धीरे, शिक्षा प्रणाली को क्रमबद्ध करने के साथ उस जिम्मेदारी का विलय किया, और फिर, बड़े पैमाने पर संगठन के चलते, उसमें बदलाव किया। इस तरह शिक्षा नीति की महत्ता इतनी बढ़ गई कि वह लंबे संसदीय वाद-विवादों का विषय बन गई। नीतियां ऐसी बनीं जिन्हें

कार्यान्वित करने के लिए विशाल प्रशासनिक ढांचों की जरूरत पड़ने लगी।

शिक्षा के इस दिशा परिवर्तन और संस्थागत होने से शिक्षा-प्रक्रिया में भी अवश्यंभावी बदलाव आ गए। सवाल यह है कि क्या लोग इस बात पर जरा भी शक जाहिर करते हैं कि जो कुछ हुआ वह भले के लिए ही हुआ ? हालांकि मां-बाप पर बच्चों की पढ़ाई-लिखाई की जिम्मेदारी कम-दर-कम हो रही है, लेकिन क्या वे इस बात पर बिलकुल ध्यान नहीं दे रहे हैं कि शिक्षा प्रणाली बच्चों को कहां ले जा रही है ? क्या हर परिवार बच्चों की शिक्षा के लक्ष्य को समझबूझ कर, अपने होशो-हवास में, इस प्रणाली का समर्थन कर रहा है। दुर्भाग्यवश, इन सब सवालों का जवाब नकारात्मक जान पड़ता है। जैसे ही बच्चों की स्कूल जाने की उम्र हो जाती है, अधिकतर परिवार बिना सोचे समझे उन्हें स्कूल भेज देते हैं। वे शिक्षा प्रणाली के चरम उद्देश्यों पर न तो सवाल करते हैं न विचार। ऐसा बहुत कम देखने में आता है कि मां-बाप इस बात का अध्ययन करें कि शिक्षा में सुधार कैसे लाया जाए। मां-बाप की इस सर्वव्यापी चुप्पी का शिक्षकगण यह अर्थ लगाते हैं कि मां-बाप चालू शिक्षा प्रणाली का समर्थन करते हैं। यह पर्याप्त नहीं है। यह सर्वथा आवश्यक है कि शिक्षा के सार्वजनिक उद्देश्यों की पुष्टि और स्वीकृति की जाए। उसके बिना, लक्ष्य की सार्वभौमिक व्याख्या या सहमति असंभव है।

सुख–सर्वव्यापक संज्ञा के स्वरूप में

इस बात पर शायद आम सहमति हो कि बच्चों को स्कूल भेजने में, उनका सुख ही मां-बाप की प्राथमिक चिंता होती है। हालांकि सुख के अर्थ को लेकर बहुत वाद-विवाद होता है मगर कोई और शब्द इतनी अच्छी तरह उस आम हार्दिक इच्छा को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। व्यावहारिक रूप में इसका भावार्थ ढूंढ़ना मुश्किल भी है। अक्सर कहा जाता है कि शिक्षा को वयस्क जीवन की तैयारी में काम आना चाहिए। इसकी एक एकपक्षीय व्याख्या यह भी है कि सिर्फ तीन 'आर्ज' (अंकगणित, पढ़ना और लिखना) ही काफी है। कुछ और लोग शिक्षा की आलोचना इसलिए करते हैं क्योंकि वह असली दुनिया से तालमेल ही नहीं रखती। इन लोगों की दलील है कि शिक्षा को जन-सम्मति की तरफ अधिक संवेदनशील होना चाहिए। मगर लगभग हमेशा ये दोनों नजरिए स्थिति को एक कम-नजर वाले उपयोगितावाद में सीमित-सा करते हुए लगते हैं। जोर केवल इस बात पर होता है कि बच्चों के बड़े हो जाने पर कौन-सी चीज इस्तेमाल हो सकेगी। यह बात बिल्कुल आई गई हो जाती है कि विकास के बरसों में बच्चों को क्या सही या दिलचस्प लगता है या उन्हें समझ में क्या आता है ? होता यह है कि ज्यादातर शिक्षक वयस्क जीवन को ध्यान में रखकर, बच्चों के अंदर ऐसी जानकारियां ढूंढ़ने लगते हैं जिनका बचपन से न कोई मतलब है न लेना-देना । इसलिए कोई आश्चर्य नहीं कि बच्चों को पढ़ाई

में दिलचस्पी नहीं होती, न ही वे उसे समझ पाते हैं। जापान की शिक्षा प्रणाली में अंग्रेजी का अनिवार्य पाठ्यक्रम जिस तरह लागू है, वह इसी का जीता जागता उदाहरण है।[2]

यह बात तो आसानी से देखी समझी जा सकती है कि, नन्हें शरीरों की पाचन-असमर्थता के कारण, किसी छोटे बच्चे को जबरदस्ती खिलाना हानिकारक होता है। ढेर सारा खाना बच्चे के पाचन उपकरण में से निकलता है तो एक रद्दी चीज की तरह। असल में वह और भी अधिक हानि पहुंचा सकता है, अंतड़ियों में जमकर, धीरे धीरे पूरे शरीर को सड़ाकर या उसे विषैला कर के। बच्चों की समझ से बाहर वाली जानकारियों को ठूंसने से मनोवैज्ञानिक रूप से जो विषैले प्रभाव पड़ते हैं वे, दुर्भाग्यवश, एकदम दिखाई नहीं पड़ते। इसलिए, इस विषैली प्रक्रिया के हानिकारक प्रभाव भी अनदेखे कर दिए जाते हैं। स्थिति गंभीर है। मगर विडंबना यह है कि शिक्षक और मां-बाप दोनों ही यह समझते हैं कि वे बच्चों के भविष्य को बनाने में जुटे हैं। असल में वे इस प्रक्रिया में बच्चों के दुख का कारण बन रहे हैं।

यहां मुद्दा यह नहीं है कि आज की शिक्षा प्रणाली वयस्क जीवन के लिए पर्याप्त तैयारी कराती है या नहीं। न ही व्यावसायिक शिक्षकों का यह अधिकार है कि वे वयस्क जीवन की तैयारी को शिक्षा का लक्ष्य मानने का निर्णय लें। देर-सबेर, शिक्षा से संबंधित हर व्यक्ति को यह पूरी तरह समझ लेना होगा कि ऐसी शिक्षा जो भविष्य के किसी सुख को लक्ष्य बनाकर बच्चों के आज के सुख की बलि चढ़ाती है, वह शिक्षा सिर्फ बच्चों के व्यक्तित्व को ही नहीं बल्कि सीखने-समझने की प्रक्रिया को भी नष्ट करती है। इन्हीं विचारों से मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि बच्चों को ऐसा उत्तरदायी और स्वस्थ अवयव बनाना ही शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए, जो सामाजिक संरचना में सुख का योगदान दे। और ऐसा करने में वह स्वयं अपने जीवन में अर्थ, लक्ष्य और सुख ढूंढ़े।

इस बात का अनुमान मुझे है कि यह सरल-सा निष्कर्ष विद्वानों को सहसा मान्य नहीं होगा। उदाहरण के तौर पर, यह बात सर्वमान्य है कि कान्ट और उनके अनुगामियों ने विद्यार्थी के अपने सुख को शिक्षा का उद्देश्य मानने का विरोध किया था।[3] कान्ट जैसे महान दार्शनिक का विरोध कर पाने के लिए मैं अयोग्य हूं। फिर भी, हर जीवन में निहित लक्ष्य के अवलोकन और विश्लेषण के आधार पर, मेरा प्रस्ताव है कि सुख को ही शिक्षा का लक्ष्य माना जाए। इस संदर्भ में मेरा निवेदन है कि शिक्षा का लक्ष्य जीवन के लक्ष्य में से ही परिमाणित किया जाना चाहिए। जीवन का लक्ष्य लोगों को स्वयं अपने जीवन और जीने के तरीके से निकालना और पहचानना चाहिए, न कि दार्शनिकों और आचार्यों के माध्यम से। कान्ट का विरोध कुछ तो इस रूढ़िवादी सोच के तहत था कि शिक्षा का लक्ष्य दार्शनिकों और विद्वानों

द्वारा स्थापित किया जाना चाहिए और कुछ उस काल में सुख की संकल्पना की संकीर्ण व्याख्या के तहत।

बहरहाल, मेरी प्रमुख अभिधारणा यही है कि स्वयं विद्यार्थियों का सुख ही शिक्षा के लक्ष्य के प्रतिपादन में सबसे वांछनीय होना चाहिए। व्यावहारिक रूप में इसका मतलब क्या है ? हम शिक्षा-कार्यक्रमों के व्यापक और विशिष्ट उद्देश्यों का सीमांकन किस प्रकार कर सकते हैं ? अब हमें इन मुद्दों पर विचार करना चाहिए।

सुख–शिक्षा के लक्ष्यस्वरूप में

सुख का अर्थ

सुख !! यह इतना प्रचलित और जाना पहचाना शब्द है कि लगता है कि इसकी व्याख्या की आवश्यकता ही नहीं है। मगर निकट से ध्यान देने पर पता चलता है कि लोगों के विचार इस बात को लेकर अलग अलग हैं कि सुख है क्या ? सुख का मतलब क्या है ? सुख के आधार पर शिक्षा के लक्ष्य और उद्देश्य निर्धारित करने के लिए यह आवश्यक होगा कि हम एक सुनिश्चित परिभाषा विकसित करें कि सुख से अभिप्राय क्या है।

सुख को शब्दों या दार्शनिक धारणाओं के तहत समझने में भ्रम पैदा हो सकता है, क्योंकि सुख धारणाओं पर नहीं बल्कि व्यक्ति-विशेष के अनुभवों पर आधारित होता है। यानी सुख के कुछ उदाहरण शाब्दिक व्याख्याओं से अधिक कारगर रहेंगे क्योंकि सुख है ही वह जिसका अनुभव हमें प्रतिदिन के जीवन में होता है। सुख की संकल्पना को ज्यादा अच्छी तरह समझने के लिए सुख के विरोधालंकार - यानी दुख - की जांच करेंगे; और, उसकी बेहतर सामान्य रूपरेखा बनाने के प्रयत्न में, कुछ आम भ्रांतियों का उल्लेख करेंगे।

पहले यह पूछ लेना ही उपयुक्त रहेगा कि सुख के अलावा, क्या जीवन का कोई और आदर्श या लक्ष्य है ? यदि है, तो सुख की मेरी संकल्पना से वह संकल्पना भिन्न है और जिसमें शायद सुख के एक ही तत्व या अंश पर संपूर्ण सुख की भ्रांति है। अलग अलग लोगों के निजी अनुभवों की तरह, सुख शब्द का भावार्थ कई तरह से समझा जा सकता है। एक सर्वमान्य परिभाषा पर पहुंच पाना मुश्किल है। कुछ लोग धन-दौलत की बहुतायत को सुख की संज्ञा देकर संतुष्ट हो जाएंगे; कुछ दूसरे समाज में ऊंचा पद या प्रतिष्ठा पाकर ही सर्वाधिक सुखी होंगे। और भी कई उदाहरण दिए जा सकते हैं, मगर वे सब सुख की अधूरी समझ से ही जन्मे होंगे।

एक बार एक प्रतिष्ठित विद्वान ने मुझसे पूछा कि क्या सुख जैसा सरल शब्द किसी व्यक्ति के जीवन के संपूर्ण उद्देश्य की व्याख्या कर सकता है ? स्पष्ट है, कि वे स्वयं ऐसा नहीं सोचते थे। लेकिन अगर हम इस परिणाम पर पहुंच जाएं कि

सुख शब्द संतोषजनक नहीं है, तो क्या उसकी जगह कोई और अनुकूल शब्द ले सकता है। ऐसा लग तो सकता है कि मानवमात्र के लिए और भी उद्देश्य हो सकते हैं, मगर सुख से अधिक व्यापक उद्देश्य ढूंढ़ पाना मुश्किल है। कुछ लोग सुख को शिक्षा का लक्ष्य मान पाने में प्रतिरोध पैदा करेंगे क्योंकि वे सुख को एक स्वार्थी या व्यक्तिगत उद्देश्य मानते हैं। लेकिन हम जीवन के दायित्वपूर्ण उद्देश्य के समरूप सुख की एक उदार परिभाषा तब ढूंढ़ पाएंगे, जब सुख को एक सामाजिक तथ्य के रूप में देखेंगे। निम्न खंडों में यह विचार तर्कसंगत रूप से क्रमबद्ध है।

सुख की उपर्युक्त व्याख्या से यह अनुभूति पनपती है कि, चाहे धन-दौलत बटोरना हो, समाज में ऊंचा स्थान पाना हो या कुछ और हो, ऐसे व्यक्ति जिन्होंने जीवन में सुख के एक ही अर्थ का चुनाव किया है उन्हें अंशमात्र पर ही संपूर्ण की भ्रांति हुई है। इस प्रक्रिया में, उन्होंने संपूर्ण संपन्नता से कुछ कम पर ही संतोष कर लिया है। इस तरह के चुनाव के लिए दोषी ठहराया जा सकता है सुख की संकल्पना के प्रति एक अवरोधित विकास को। जीवन की उतनी ही सजीव अन्य संभावनाओं को नकार कर, सिर्फ किसी विशेष पहलू पर ही जड़ हो जाने को। यह तथ्य हमें इस सोच की ओर अग्रसर करता है कि हम सुख की व्याख्या पाए जा सकने वाले किसी जड़ लक्ष्य की भांति नहीं बल्कि हो पाने की संवेदना के रूप में कर रहे हैं। सुख का यही गतिशील और उन्नतिशील स्वरूप हम शिक्षकों को अधिक अभिमुख करता है। "जीवन के लिए, जीवन की और जीवन से" - शिक्षा के इस व्यावहारिक विन्यास में जीवन और शिक्षार्जन दोनों के गतिशील होने की समझ छिपी हुई है।

पिछले कुछ बरसों में, समाजशास्त्र के विकास के साथ, सुख की हमारी समझ भी बढ़ी है। जैसे इंगित किया जा चुका है, सुख को शिक्षा का लक्ष्य मानने से कान्ट को विरोध था। लेकिन मेरा विश्वास है कि अगर उस काल में समाजशास्त्र विकसित हो गया होता तो कान्ट की सोच भी अलग होती। कान्ट की सुख की संकल्पना में सामाजिक तत्व नहीं हैं। ऑगस्ट कोम्ते के द्वारा समाजशास्त्र के विकास से पहले, समाज-बोध वस्तु नहीं था, और इसी कारण कान्ट ने उस पर मनन नहीं किया।

अब उदाहरण के तौर पर, समाजशास्त्र की विद्या-विशेष ने जो हमें अभियंत्र दिए हैं, उनसे हम सुख के व्यक्तिपरक और वस्तुपरक तत्वों को अलग अलग उसी तरह देख सकते हैं जिस तरह आमतौर पर समाज को उसके सदस्य देखते हैं। वातावरण के हू-ब-हू वही घटक - यानी बिल्कुल वही वस्तुस्थिति - दो विभिन्न व्यक्तियों में बिल्कुल विभिन्न प्रक्रियाएं पैदा कर सकते हैं; यही नहीं, बल्कि एक ही व्यक्ति में विभिन्न अवसरों पर, विभिन्न प्रतिक्रियाएं भी। एक-सी स्थितियों का मेल भी कभी तो सुखानुभूति उजागर करता है तो कभी दुखानुभूति। इसके अलावा, हमें यह भी

पता है कि लोग चाहे बाहर बाहर से सुख और संपन्नता के सब लक्षण दिखाएं, अपने अड़ोस-पड़ोस में ईर्ष्या जगाएं, लेकिन फिर भी अपने आपको दुखी और अतृप्त ही समझें, इससे ठीक उलटी स्थिति भी संभव है। इस तरह यह तो स्पष्ट हो जाता है कि सुख के प्रश्न के कम से कम दो पहलू तो हैं ही।

अगर हम सुख के यथार्थवादी अंश का व्यक्तिगत और सामाजिक अपेक्षाओं में विभाजन करें तो हमें पता चलता है कि हालांकि एक को दूसरे से पूर्णरूप से विलग नहीं किया जा सकता, मगर सामाजिक अंश की विशेष रूप से महत्ता है। केवल व्यक्ति विशेष की अपनी शर्तों पर पूरी तरह से सच्चा सुख नहीं पाया जा सकता। हम अकेले नहीं जीते। परोक्ष या अपरोक्ष रूप से, सामाजिक वातावरण हर व्यक्ति से टकराता है। अपने ही तरीकों पर डटे रहने के जो भी लाभ दिखते हैं वे इस टकराव से समाप्त हो जाते हैं। केवल अपना स्वार्थ न देखते हुए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सामाजिक परिधि में, व्यक्तिगत संपन्नता भी पारस्परिक और सहायक जीवन से ही संभव है, अगर उसे स्थायी होना है तो। हमारे जीवन हमेशा ही दूसरों के जीवन पर निर्भर रहेंगे। इस बात को अस्वीकारने का अर्थ होगा : संकीर्ण अहं की खाई में गिर जाना। सुख के अर्थ पर निर्णय लेने में, अव्वल दर्जे की इस व्यक्तिगत-सापेक्षता का कोई स्थान नहीं है। विशेष रूप से, हमारे बच्चों की शिक्षा के लक्ष्य में तो बिल्कुल भी नहीं।

समुदाय के लिए जो कुछ महत्वपूर्ण है, उससे हम विमुख नहीं हो सकते। एक अमानवीय मूल्य चुकाये बिना, धन-दौलत भी हमारे लिए पूर्ण अलगाव नहीं खरीद सकता। ऊंची दीवारों और चौकीदारों से सुरक्षित महलों से कुछ देर के लिए तो शायद चिंता से मुक्ति संभव हो जाए, मगर एक न एक दिन तो हमें यह अहसास झिंझोड़ेगा कि हम कितने ओछे और तंग विचारों के आदमी हो गए हैं। फिर हमारा सुख कहां चला जाएगा ? सच्चा सुख सिर्फ दूसरों के और समुदाय के संकटों और सफलताओं को बांटने से ही मिलता है। इसलिए यह आवश्यक है कि सुख की सच्ची संकल्पना में सामाजिक जीवन के प्रति ईमानदारी भी शामिल हो।

सुख और धन-दौलत

अगर हमें सुख की सार्थक परिभाषा ढूंढ़नी है तो यह आवश्यक है कि हम सुख और धन-दौलत के आपसी संबंधों की पड़ताल करें। व्यक्तिगत संपन्नता और पूरे समाज की संपन्नता के लिए कोई भी तत्व इतना विघटनकारी और हानिकारक नहीं हो सकता जितना धन-दौलत और लोगों का उसके इस्तेमाल का तरीका। वास्तव में, जीवन का कोई भी और ऐसा पहलू नहीं होगा, जिसमें सोच इतनी भ्रांतिपूर्ण हो, और उस सोच के परिणाम इतने अनर्थकारी हों। एल्फ्रेड नोबेल ने बड़े अच्छे ढंग से बात कही थी, जब उन्होंने स्वीकार किया था कि जायदाद तो विरासत में

मिल सकती है, मगर सुख को विरसे में पाना असंभव है। इतनी बेरहम दौड़ और माया मोह के दौर में हमें उम्मीद करनी चाहिए कि हम यह सबक सीखें। अमीर और गरीब, प्रबंधकर्ता और मजदूर, सबके लिए शायद इससे आवश्यक सवाल कोई भी नहीं है कि वास्तव में हमारे लिए मूल्यवान है क्या ? कुछ नहीं तो ऐसा सोचने से हमें घृणा और हिंसा की भावनाओं से पल दो पल छुटकारा मिल जाएगा। अगर हम इन सचाइयों को इतनी सरल भाषा में कह पाएं कि संदेश हर किसी तक पहुंच जाए, तो मुझे विश्वास है कि लोग समाज के हालात सुधारने पर विचार शुरू कर देंगे, उसके लिए साधन जुटाएंगे और अंततः सबके लिए सुख ला पाएंगे।

मगर दुर्भाग्य यह है कि ज्यादातर लोग यह समझ कर चलते हैं कि अगर वे सब कुछ अपने संग न ले जा सके, तो कम से कम बच्चों के हाथ तो वह लग ही जाएगा। अमीर लोग धन-दौलत इस ढंग से जमा करते हैं जैसे नाम और जायदाद उन्हें सुख से भी संपन्न कर देंगे। मगर लोग जितना ज्यादा बटोरने लगते हैं उतना ही वह उन्हें कम लगने लगता है और यह सब इसलिए क्योंकि उन्होंने अपने आप को इस बात का विश्वास दिला लिया है कि उनकी जायदाद किसी जादू से उनके बच्चों के लिए सुख में बदल जाएगी। यह भुलावा है। बच्चों के लिए बहुत धन-दौलत छोड़ने का नतीजा अक्सर यह होता है कि उन्हें विरासत में दुख मिलते हैं, न कि सुख। सबसे बड़ी विडंबना यह है कि अमीरों को यह सब कुछ करने में मजा आता हो, ऐसा भी नहीं है। बिना किसी जरूरत के, अपने वर्तमान के सुख की बलि चढ़ा के, वे एक भुलावा खरीदने के चक्कर में पड़े रहते हैं। पहले ही अगर ध्यान से सोच विचार लें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि धन-दौलत बटोरने के लिए जिस निहायत ओछेपन की जरूरत होती है वही दुख बच्चों को विरासत में मिलता है। जो लोग इस बात को खुद अपने लिए साबित करके देखना चाहते हैं, उन्हें खुली छूट है। उन्हें पता चलेगा कायदों के अंदर रहकर, निजी संपत्ति की गलत और असमान व्यवस्था से जीत पाने में उन्हें अपना पूरा जीवन खर्च करना पड़ेगा। मगर, क्या यह भी किसी व्यक्ति से जुड़ी संभावनाओं का अपव्यय है !!

जब निरी भौतिक तलाशों में हमें नितांत खोखलेपन का अहसास होने लगता है, तब यह अनुभूति भी जागती है कि दूसरों को कुछ दे सकने में ज्यादा आनंद है बजाय इस डर में रहने से कि दूसरे हमसे आगे निकल जाएंगे। भौतिक चीजें जमा करने की बेवकूफी में जीवन लुटा देने से स्वयं अपने अस्तित्व के स्रोत और मन की शांति की खोज श्रेयस्कर है। दृष्टिकोण में स्पष्टता आ जाए तो फिर ऐसे लोगों की मदद करने का उत्तरदायित्व भी अनुभव होगा जो अब भी धन के लिए भूखे हैं; जो माया के जाल में फंसे हुए अपने भ्रम खोज रहे हैं। मगर इस सबकी शुरुआत तब ही होगी जब हम धन-दौलत को लेकर खुद अपनी भ्रांतियों से छुटकारा पाएं और इस तरह आर्थिक सुरक्षा से सबके लिए शांति की राह बनाएं।

धन-दौलत और जायदाद के बारे में अगर इन सचाइयों को समझ लें तो लोग केवल रुपया पैसा बटोरने में अपना जीवन व्यर्थ नहीं लुटाएंगे। जिन्हें इन सचाइयों का अहसास हो गया है, वे कृतघ्न-चित्त होकर दूसरों को धन देने में आनंद पाते हैं। वे दुनियावी तलाशों की बेवकूफी में समय व्यर्थ नहीं गंवाते। बल्कि ऐसे लोग जीवन के मुख्य और शाश्वत मूल्यों को गहराई से समझने के लिए संघर्षरत रहने में ही सुख और शांति का अनुभव करते हैं।

मगर लोगों में इतनी साफ नजर पैदा करना मुश्किल होता है। एकचित्त होकर धन-दौलत के पीछे पड़ जाने की बेवकूफी के उदाहरणों से इतिहास भरा पड़ा है। मगर हर कोई इन उदाहरणों को तब तक अनदेखा करता है, जब तक कि नजर की पहुंच कुछ गहरी न होने लगे। यहां हमारे सामने जो स्थिति आती है उसमें विरोधाभास-सा है।

स्पष्ट दृष्टिकोण और भौतिक चीजों की जीवन में भूमिका परख पाने की दृष्टि - इन दोनों को उभारने के लिए समय और आध्यात्मिक मनन की जरूरत होती है। और ये चीजें उसी धन-दौलत और सामाजिक प्रतिष्ठा से जुट पाती हैं जिन्हें पाने में हर एक व्यक्ति जुटा है। ठीक इसीलिए यह जरूरी हो जाता है कि हम इस बात पर ध्यान से विचार करें। भौतिक चीजों की वास्तविकता के बारे में गहरी जानकारी और समझ आम लोगों में जगा पाना मुश्किल लगता है। मगर मेरा विश्वास है कि अगर लोगों में सामाजिक चेतना जगाई जा सके तो भौतिक चीजों के प्रति जो उनकी भ्रांतियां हैं वे उन्हीं पर उजागर हो जाएंगी। खाली समय में मनन से गहराई तक पहुंच पाना तो बिरलों को ही नसीब होता है। इसलिए जाग्रत सामाजिक चेतना पर ही हमें अपना ध्यान केंद्रित करना चाहिए। जाग्रत सामाजिक चेतना का विकास करना ही सच्ची शिक्षा का प्राथमिक दायित्व है - आगे मैं इसी बात पर जोर दूंगा।

सुख और सद्गुण

एक पुरानी जापानी सीख यह बताती है कि अच्छा भाग्य आकाश से अचानक ही नहीं टपक पड़ता। न ही वह जमीन से फूट पड़ता है या अचानक कहीं दूर से हमारी झोली में आन पड़ता है। अच्छा भाग्य सद्गुण की कार्यशीलता से आता है और इस तरह वह मौलिक मानसिक स्थिति का ही दूसरा नाम है। सच्चे आशीर्वाद उन्हीं को मिलते हैं जो अपने को विनम्र बनाते हैं, अपने यत्नों को परिवार के भले में लगाते हैं, और 'पांच संबंधों'[4] पर अमल करते हैं। इसके साथ ही, बुरा भाग्य भी बस यूं ही नहीं टपक पड़ता। स्वार्थ और क्रूरता, निष्ठाहीनता, अधर्म, दांपत्य कलह, भाई की भाई से ईर्ष्या, पारिवारिक दायित्वों की अवहेलना - ये वे लक्षण हैं जो दुनिया के सहज चलन में बाधा डालते हैं। ये ऐसे संकटों को निमंत्रण देते हैं जो हमें तोड़

देते हैं, हमें जीवंत नहीं छोड़ते। सच्चे शाप उन्हीं पर फलित होते हैं जो शापग्रस्त जीवन बिताते हैं।

इस तर्क को भले ही कोई पूरी तरह से माने या न माने, यह तो मानना ही पड़ेगा कि इसमें कुछ सचाई है। सचमुच जीवन का भरपूर अनुभव तब ही होता है जब सुख और सद्गुण एक साथ हों। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, धन-दौलत का आत्म केंद्रित संचन भ्रांति है। सुख की ओर ले जाना तो दरकिनार, ऐसी भ्रांति खोखलेपन और निराशा की ओर अग्रसर करती है। अगर हमारा समाज अपने सदस्यों के जीवन में गुणहीनता और झूठे मूल्यों को अनदेखा करता है या उन्हें बढ़ावा देता है, तो हमें समाज को फिर से बनाना होगा ताकि सुख और सद्गुण साथ साथ रहें।

पुनःजीवंत कर देने का ऐसा आंदोलन ही आज की सामाजिक असमानता की समस्याओं से निपटेगा, क्योंकि वे भी उसी विषमता का अंश हैं। हमारे आज के समाज की यह एक घोर दुखद घटना है कि असीमित व्यक्तिगत संपत्ति की संभावना, व्यक्तिगत और सार्वजनिक हितों में विसंगति को बढ़ावा देती है। खेदजनक सचाई यह है कि संपत्ति का असमान बंटवारा लगातार बढ़ ही रहा है। इसकी रोकथाम करनी ही चाहिए, एक तरफ तो बाहरी नियंत्रणों से यानी सरकारी नीतियों को पुनः परिभाषित करने से; और दूसरी तरफ आंतरिक नियंत्रणों से यानी जरूरत से ज्यादा संपत्ति की निरी मूल्य-विहीनता का अहसास लोगों में जगाने से।

सुख और स्वास्थ्य

अंततः, सुख को शिक्षा का लक्ष्य सिद्ध करने में, सुख और स्वास्थ्य के संबंध को भी ध्यान में रखना होगा। स्वास्थ्य सुख की शारीरिक बुनियाद है। अक्सर यह सहज सच अनदेखा हो जाता है। धन-दौलत की बहुतायत या ऊंचे पद या विद्वता का भी क्या लाभ अगर हमारा शरीर या दिमाग उसका आनंद लेने की दशा में नहीं है ? स्वास्थ्य अच्छे जीवन की पहली शर्त और प्रतीक है।

यानी सुख स्वास्थ्य पर निर्भर करता है, मगर स्वास्थ्य निर्भर करता है सकारात्मक गतिविधि पर। लक्ष्यविहीन जीवन, उदासीनता या अ-रचनात्मक गतिविधियों से अक्सर व्यक्तिगत ऊर्जाएं बरबाद हो जाती हैं। जब लोग वयस्क हो जाते हैं तब तक बदलाव के लिए बहुत देर हो गई होती है; व्यवहार की आकृति गढ़ चुकी होती है। लेकिन बच्चों और युवाओं को यह दर्शाया जा सकता है कि वे अपनी ऊर्जाओं को सकारात्मक गतिविधियों में कैसे ढालें। उन्हें मूल्य-सृजन वाले जीवन की ओर अग्रसर किया जा सकता है। और अंततः शिक्षा प्राप्त करने का कारण भी यही है ।

शैक्षिक लक्ष्य और समाज

सामाजिक संदर्भ में शैक्षिक लक्ष्य

अगर शिक्षा को सबके सुख और परिपूर्णता के ध्येय तक पहुंचना है तो अनभिज्ञता की उदासीनता को और आत्म-केंद्रित सामाजिक अस्तित्व को समाज के प्रति सचेतन, और विवेकपूर्ण निष्ठा में बदलना होगा। शिक्षा लोगों को इस बात का अहसास दिला सकती है और दिलाना चाहिए कि अपनी जीवन स्थिति के लिए वे समाज के किस हद तक कर्जदार हैं, न सिर्फ अपनी बुनियादी आवश्यकताओं और सुरक्षा के लिए वरन उस हर चीज के लिए जिससे सुख की संरचना होती है। ऐसा कुछ है ही नहीं जिसके लिए हम समाज के कर्जदार नहीं हैं। समाज ही यह संभव करता है कि हमें रोटी, मकान और कपड़ा मिल सके, जमीन-जायदाद और जीवन को सुरक्षा मिल सके। समाज एक ऐसा जीवंत दायरा है जिसमें हम सांस लेते हैं। हम उससे इतने लाभ पाते हैं कि बिना उसकी छत्रछाया के हम थोड़े समय के लिए भी अपने जीवन को गतिशील नहीं रख सकते। ऐसे बहुत-से लोग हैं जिन्हें समाज से मिले लाभों का अहसास ही नहीं है और जो केवल अपने निजी जीवन से लेना देना रखते हैं। ऐसे लोग जरा सी भी परेशानी उठाने के लिए तैयार नहीं हैं। वे अपने अधिकारों की उद्घोषणा तो बलपूर्वक करते हैं मगर उनके साथ संबद्ध जिम्मेदारियों की उपेक्षा करते हैं। अगर शिक्षक के विश्वास में एकबारगी यह अहसास भी शामिल हो जाए कि किस तरह समाज हरेक के सुख में योगदान देता है, तो लोगों में उत्साह जागेगा कि वे सद्भावना से रहने के तरीके ढूंढ़ें। यही नहीं, उनमें यह अहसास भी जाग जाएगा कि स्वयं अपने सुख के लिए समाज में सक्रिय हिस्सा लेने से श्रेयस्कर कोई मार्ग ही नहीं है। बिना इस परस्परता के एक न्यायपूर्ण और मानवीय समाज संभव ही नहीं है। समाज-अर्पित जीवन ही सबसे ज्यादा लाभकारी है। जब लोग यह समझ जाएंगे, केवल तब ही वे दूसरों के भले और निरंतर आदर्श समाज के सृजन की जिम्मेदारी उठाने में नहीं हिचकेंगे।

शिक्षा ऐसे व्यक्तिगत चरित्र को उभारने में सहायता करती है जिसकी समाज के सदस्यों को आवश्यकता पड़ती है और जिसके जरिए उन्हें स्वयं समाज में सृजनात्मक भागीदार बनने की क्षमता मिलती है। लेकिन, जैसाकि ऊपर इशारा किया गया है, शिक्षा को अगर समाज की रचना का कार्य करना है तो हर व्यक्तिगत चेतना को स्वकेंद्रित अधिकारों और निजी जीवन के ऐशो-आराम से ऊपर उठाकर, सामाजिक समुदाय के जीवन के प्रति कर्तव्यों और दायित्वों को स्वीकारने की जागरूक स्थिति में लाना होगा।

इस तरह शिक्षा का लक्ष्य अचेतन सामाजिक जीवन को सुसंयोजित और यथार्थवादी बनाना है। दूसरे शब्दों में, हर व्यक्ति का समाजीकरण शिक्षा का महत्वपूर्ण

पहलू है। दुर्खीम ने इस बात को अच्छी तरह व्यक्त किया : "शिक्षा अवयस्क का विधिवत समाजीकरण है।" शिक्षकों की प्राथमिकता व्यक्तिगत जीवनों में यही परिवर्तन लाने की है। इसलिए उन्हें अपने दैनिक जीवन को समाज को ही अर्पित करके उसमें हर यथासंभव योगदान देना चाहिए।

समाज में एक दूजे पर निर्भरता

मानव की परिकल्पना में केवल एक एंद्रीय, साकार और शारीरिक आकृति ही नहीं बल्कि एक आध्यात्मिक रूप भी शामिल है जो शारीरिक आकृति से परे होते हुए भी शरीर में ही निहित है। इसी तरह, समाज की परिकल्पना भी उस दृष्टिगत परिस्थिति से, जिसमें विभिन्न समुदायों में लोग बसते हैं, बहुत परे है। इस परिकल्पना में निहित है एक आकारहीन पारस्परिक संबंधों का तारतम्य, जो संगठित रूप में लोगों के सामूहिक जीवन निर्वाह करने का आधार है। समाज केवल लोगों का सामूहिक योग ही नहीं है बल्कि उनका मानसिक और आध्यात्मिक संयोग है। कल्पना कीजिए कि एक मेज पर कलम, स्याही की दवात, कुछ पेंसिल और कागज, और कुछ किताबों का ढेर है। भौतिक रूप से इन चीजों के जमघट और मनुष्य के एक परिवार जिसमें माता-पिता, बच्चे और शायद कुछ नौकर एक ही छत के नीचे हैं, कोई विशेष अंतर नहीं है। लेकिन इनकी समरूपता यहीं समाप्त हो जाती है। मेज पर से एक दो चीजें हटा ली जाएं तो कोई अंतर नहीं पड़ेगा। अगर संयोगवश कोई मजमा लग गया हो तो बात अलग है, वरना मनुष्यों के समुदायों में अगर थोड़ा भी रख रखाव है तो एक दूजे के प्रति भावात्मक या मनोवैज्ञानिक निर्भरता के तत्व भी शामिल हो जाते हैं।[6]

जहां विद्यार्थी बिना एक दूसरे से कोई मतलब रखे अपना अपना काम करते हों, ऐसी कक्षा में भी अगर कोई एक विद्यार्थी उपस्थित न हो तो सबको कुछ अजीब-सा लगता है, किसी चीज की कमी लगती है। खाली जगह को लेकर अटकलें लगती हैं : शायद वह विद्यार्थी आज बीमार है या कोई और वजह है। यही बात हमारे जीवन में भी होती है, ऐसे संबंधों को लेकर जिनसे हमारा बस दूर का वास्ता है। ऐसे किसी व्यक्ति से बिछोह जिससे हमारा निकट संबंध था, क्या हमें बहुत व्याकुल नहीं करता है ? इसी तरह जरा कल्पना कीजिए कि पूरी कक्षा कितनी हताश और परेशान होगी अगर वह उसी विद्यार्थी की उपस्थिति पर आस लगाए बैठी हो ?

लोगों को साथ बांधकर रखने वाले धागे नजर न भी आएं तो कच्चे नहीं होते। प्रकृति की यह बात एक भौतिक तुलना में और उजागर होती है। हालांकि अणुओं और परमाणुओं के बीच आकर्षण दिखाई नहीं देता मगर हरेक कण की भौतिकता पर उसका प्रभाव होता है। इसी प्रकार आकर्षण और विकर्षण के विधान मानव के समाजीकरण को प्रचालित करते हैं। कल्पना कीजिए कि कुछ व्यक्ति एक

समूह के रूप में इकट्ठे होते हैं, शायद किसी साझे बाहरी खतरे के कारण। इस समूह में व्यक्तिगत इकाइयों के बीच लगाव और रखरखाव न केवल उन व्यक्तियों से विशेष व्यवहार की अपेक्षा करता है, बल्कि पूरे समूह की संरचना को भी प्रभावित करता है। तीस साल पहले अपनी पुस्तकों 'ज्योग्राफी आफ ह्यूमन लाइफ' में मैंने समाज को एक दूजे पर निर्भर संबंधों के ताने बाने के रूप में समझने का प्रयास किया था। हालांकि इस बीच मेरा सामाजिक बोध और विकसित हुआ है, लेकिन कुछ उदाहरण जो मैंने तब इस्तेमाल किए थे, आज भी प्रासंगिक लगते हैं। निम्नलिखित पैरे मेरी उसी किताब में से लिए गए हैं[7] :

> शब्द 'समाज' का प्रयोग तरह तरह के अर्थों-भावार्थों में किया जा रहा है। जैसे 'शैक्षिक समाज', 'आर्थिक समाज', 'समाजवाद' एवं 'समाजवादी पार्टी।' कभी कभी लोग इस तरह का भी जिक्र करते हैं जैसे 'समाज के लिए', 'सामाजिक दंड', इत्यादि। सर्वव्यापी प्रयोग में, समाज का मतलब 'दुनिया', 'बिरादरी', 'जन-साधारण', इत्यादि कुछ भी हो सकता है।
>
> अगर कोई व्यक्ति नीच सौदों की सहायता से विशुद्ध स्वार्थ लाभ के लिए धन दौलत बटोरता है तो उस व्यक्ति को सामाजिक दंड अवश्य मिलेगा। इसके विपरीत अगर कोई व्यक्ति बिना किसी स्वार्थ भाव के ऐसे महान काम को अंजाम देता है जिससे समाज लाभान्वित होता है, तो समाज उस काम का सम्मान और सराहना करता है। व्यक्ति के काम को या तो सराहना मिलती है या निंदा, एक से आनंद मिलता है तो दूसरे से भय। जिन व्यक्तियों में जरा भी नैतिक-मूल्यों की चेतना होती है, वे इस बात का ध्यान रखते हैं। वह ऐसी कौन-सी हस्ती है जो यह रोकथाम, सराहना या निंदा करती है ? हालांकि उसके अस्तित्व को हम साकार देख नहीं सकते, मगर उस हस्ती को हम स्वयं अपने कार्यों द्वारा अनुभव कर सकते हैं। समाज की परिभाषा में हम कह सकते हैं कि वह एक ऐसा मानवीय संगठन है जिसमें एक विशेष बंधन में बंधकर लोग अपने जीवन एक-दूसरे से बांटते हैं; जिसमें हर व्यक्ति उस समाज का सदस्य होता है।
>
> हम किसी समाज का चित्रण किस प्रकार कर सकते हैं ? मान लीजिए कि श्रोताओं का बड़ा समूह कोई भाषण सुनने के लिए एकत्रित होता है। उनमें एक शराबी है जो भाषण के बीच में बार बार रुकावट डालता है। पूरा समूह एक आवाज में एकदम उसकी आलोचना करेगा और वह वहां से निकल जाने के लिए बाध्य हो जाएगा। श्रोताओं का वह जमघट

एक छोटे समाज की भांति है जिसके सदस्य एक ही उद्देश्य लेकर एकत्रित हुए हैं। फिलहाल उनका साझा स्वार्थ ही उन्हें साथ बांधता है। परिवारों का ही उदाहरण लीजिए : परिवार में मां-बाप और बच्चे, पति-पत्नी, भाई-बहन और शायद नौकर होते हैं। परिवार के सदस्य अपने दैनिक कार्यकलाप एक-दूसरे के साथ बांटते हैं, अपने कर्तव्य करते हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी जीवन को एक साथ भोगते हैं। अगर परिवार का एक सदस्य भी अपना कर्तव्य निभाने से चूक जाए तो घर की शांति भंग होगी, अस्तव्यस्तता छा जाएगी, संपन्नता पर आंच आएगी और अंततः घर की एकता खतरे में पड़ जाएगी। यह भी एक छोटे समाज का उदाहरण है। अब एक स्कूल की बात लेते हैं, वह चाहे छोटा-सा सौ विद्यार्थियों से कम संख्या वाला हो या बहुत बड़ा, हजारों विद्यार्थी वाला। शिक्षक, विद्यार्थी, प्रशासनिक कर्मचारी, देखरेख करने वाले, और उन सबके ऊपर सब कार्यों के लिए उत्तरदायी प्राध्यापक सभी वहां होते हैं। स्कूल का काम चलाने में सब अपनी भूमिका निभाते हैं। इसी तरह गांव, कस्बा, शहर सब एक समाज की संरचना करते हैं। हर देश, राष्ट्रीय स्तर पर, अब तक सबसे विकसित समाज का ही प्रतिनिधित्व करता है। लेकिन फिर भी समाज की परिकल्पना इन उदाहरणों के दायरों में सीमित नहीं है। राष्ट्रीय सीमाओं से परे, कभी कभी यह लोगों के ऐसे समुदाय को दर्शाता है जिनके नैतिक मूल्य या विरासत एकरूप हों, या इसका आंचल इतना विशाल भी हो सकता है कि उसमें पूरी दुनिया की बिरादरी समा जाए। इस तरह एक समाज का वर्णन बहुत-से लोगों के एक समुदाय से लेकर पूरी दुनिया तक कुछ भी हो सकता है। समाज की परिकल्पना उदाहरण पर निर्भर करती है और हर उदाहरण के साथ बदलती रहती है। फिर भी, हम यह पाते हैं कि समाज की परिकल्पना में निम्नलिखित शर्तें निहित हैं :

1. समाज अलग अलग व्यक्तियों से मिलकर बनता है, जैसे जीव (ऑरगेनिज्म्स) अलग अलग कोशिकाओं (सैल्स) से मिलकर।
2. जाने अनजाने सब व्यक्ति एक साझे लक्ष्य से बंधे होते हैं।
3. उस समाज के सदस्यों के बीच कोशिकाओं और जीव के बीच संबंध की तरह एक आध्यात्मिक बंधन या कुछ समय तक आदान-प्रदान का सिलसिला होता है।
4. एक निर्धारित जगह एकत्रित होकर सभी व्यक्ति मिलकर अनुभवों को बांटते हैं।
5. सभी व्यक्ति एक संगठन बनाने के लिए साथ जुड़ते हैं, जैसे जीव-अवयव

मिलकर संपूर्ण शरीर बनाते हैं।

6. समूह की गतिविधि जारी रखने के दायित्वों को हर सदस्य बांटता है, जिस तरह अंग एक जीवित शरीर में।

शिक्षा के लक्ष्य पर सामाजिक अंतर्दृष्टि

सारांश के रूप में हम यह दोहरा सकते हैं कि समाज मनुष्यों का एक जीवंत और मनोवैज्ञानिक समुदाय है जो एक साझे लक्ष्य से बंधा होता है। यहां मनोविज्ञान का जिक्र, व्यक्ति विशेष के बारे में नहीं बल्कि सामाजिक इकाई के बारे में चिंतन के संदर्भ में है। यानी हम अपने चरित्र के उन पहलुओं पर चिंतन कर रहे हैं जिनका उत्तरदायित्व सामाजिक संदर्भ में है। जैसे हमारे विश्वास, परंपरा, भावना, विचार इत्यादि।

आधुनिक शिक्षा सामाजिक इकाई के स्वरूप को समझने और उसे विकसित करने में तत्पर है। पहले शिक्षा-शास्त्र नैतिकता और मनोविज्ञान की नींव पर रचा जाता था लेकिन दार्शनिक रुझान लिए ऐसा परंपरागत शिक्षा-शास्त्र आज के शिक्षक की आवश्यकताओं को देखते हुए लगभग अप्रासंगिक है। शिक्षाकर्मियों के लिए समाजशास्त्र के दिए हुए विचारों और बोध की महत्ता को जितना भी बढ़ा-चढ़ा के कहा जाए, कम है। यह हमारा सौभाग्य है कि हिसातोगी तनावे और उनके साथियों ने अमरीकी समाजशास्त्री लेस्टर वार्ड द्वारा लिखित "सोश्योलाजी" और समाजशास्त्र के फ्रेंच स्कूल के आधार-स्तंभ एमिले दुर्क हाइम के अध्ययनों के अनुवाद करने और जापान में उन्हें प्रचलित करने का बीड़ा उठाया है।[8] हममें से उन सबको जिन्हें शिक्षा के गुण और कोटि को लेकर चिंता है, इस तरह की पुस्तकों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिए। आज शिक्षा एक विज्ञान है। शिक्षकों को चाहिए कि वे समाज की आकांक्षाओं और व्यक्तिगत विकास और प्रभावकारी शिक्षा-प्रक्रिया की आवश्यकताओं को पूरी करें। इसके लिए उन्हें समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, नैतिक-मूल्य और शिक्षा-शास्त्र के समन्वित आधार का प्रयोग करना होगा।

मानवीय जीवन के रूप

मानव जीवन के अनुभवों की विभिन्नताएं

शिक्षा मानव शृंगार का मानवीय साधन है। उसके ध्येय मानवीय ध्येयों के विपरीत नहीं हो सकते। यह कोई बेतरतीब या बिना सोचा समझा विचार नहीं है। जैसा कि पहले कहा गया है, समाज के लोगों के विशिष्ट ध्येय और संपूर्ण जीवन के

लक्ष्य के आधार पर ही शिक्षा का लक्ष्य आधारित होना चाहिए। लेकिन जीवन के लक्ष्यों में उतनी ही विभिन्नताएं हैं जितनी विभिन्न लोगों की पृष्ठभूमि, सामाजिक वर्ग अथवा जीवनयापन के स्तर में। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए, सर्वव्यापी मानवीय ध्येयों की व्यवस्था की ओर कैसे बढ़ा जाए ? इसकी एक लाभदायक विधि तो यह है कि दैनिक जीवन के समीप रहकर, पश्चिम से लेकर पूरब तक, अतीत और आज के लोगों के जीने के तरीकों का सर्वेक्षण किया जाए और मानव के व्यवहार की विशिष्ट समानताओं का सार निकाला जाए। इनकी तुलना अपने और अन्य लोगों के जीवन के सापेक्ष की जाए। और अगर यह सार वास्तव में सर्वव्यापी है, तो हर किसी के ऊपर खरा उतरेगा।

यदि वैज्ञानिक कार्यप्रणाली - प्रेक्षण एवं वर्गीकरण - को मनुष्य की दुनिया पर लागू किया जाए, तो एक विशाल और लक्ष्यपूर्ण अनुक्रम दिखाई पड़ता है। प्राकृतिक घटनाओं के चक्र क्रम और आवर्ती विधान की व्याख्या की तरह, मानवीय घटनाओं के लगभग बेतरतीब संसार में भी बार बार घटने वाले प्रतिमान ढूंढ़ पाना संभव है। मानव के अनुभवों की जटिलता के बावजूद, यह प्रतिमान एक विश्वासपरक आधार दे सकते हैं जिसकी बिना पर पारस्परिक संबंध, मानव-क्षमता की व्यवस्था और सामाजिक योजनाएं आंकी जा सकती हैं। इनमें से अनावश्यक विशिष्टताओं को अलग करके मानव प्रकृति का निचोड़ निकाला जा सकता है और उसके चलते हम ऐसे विधान बना सकते हैं जो जीवनयापन का आधार बन सकें। इस तरह हमारे जीवनयापन के विभिन्न अनुभवों से, विभिन्न रूप-स्वरूप उभर कर आएंगे। ये शिक्षा के लक्ष्य को प्रतिपादित करने के कार्य में वैचारिक यंत्रों की भांति सहायता करेंगे।

मानव जीवन के अनुभवों के अनेक स्वरूपों की व्याख्या और वर्गीकरण को लेकर बहुत प्रयत्न किए गए हैं। जैसे एडुअर्ड स्प्रैन्गर द्वारा व्यवहार प्रेरणा का वर्गीकरण एवं जे.एफ. हरबार्ट के द्वारा 'अधिकारों' के स्तर का वर्गीकरण।[9] लेकिन मेरे लिए अभी तक कोई भी वर्गीकरण पूरी तरह से संतोषप्रद नहीं रहा है। जैसे स्प्रैन्गर का वर्गीकरण मानव जीवन के मनोवैज्ञानिक अनुक्रम की समझ के लिए तो सराहनीय है, मगर वह केवल सदस्यों में उलझकर रह जाता है और पूरे समाज को नहीं देख पाता। अगर व्यवहार को समझने के लिए केवल व्यक्तिगत प्रेरणा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही हमारी प्राथमिक चिंता होती तो बेशक यह वर्गीकरण पर्याप्त होता। लेकिन जैसे ही हम इस तथ्य को पहचानते हैं कि समाज केवल सदस्यों का योगमात्र नहीं होता, यह वर्गीकरण पूरा नहीं बैठता और हमारे पास मानव-मात्र के ध्येयों को प्रतिपादित करने का कोई तरीका नहीं बचता। हम शिक्षा के लिए जिन बुनियादी नियमों का संयोजन कर रहे हैं उन्हें ऐसे उच्च-स्तरीय विश्लेषण की आवश्यकता है जो सामाजिक जीवन में व्यक्तिगत भूमिकाओं के पारस्परिक प्रभावों पर अधिक प्रकाश डाल सके।

मानव विकास की विभिन्न अवस्थाओं में जीवन के रूप

इस सोच-विचार ने मुझे बाध्य किया है कि मैं ऐसे वर्गीकरण की तलाश करूं जो समाज के प्रति आमुख हो और जो मानव जीवन के परिसर की ज्यादा अच्छी व्याख्या कर सके। हालांकि मैं तीस साल से, यानी जब से मैंने "ज्योग्राफी आफ ह्यूमन लाइफ" प्रकाशित की है, इस समस्या से जूझ रहा हूं, मुझे नहीं लगता कि मैंने जिन वर्गीकरणों का विकास किया है वे अंतिम हैं। फिर भी मैं उन्हें इस आशा के साथ प्रस्तुत कर रहा हूं कि मानव जीवन की एक स्पष्ट और अविकृत छवि उभारने के लिए अन्य लोग भी इस प्रयत्न में सहयोग देने की चुनौती स्वीकार करेंगे।

ऊपरी बात स्पष्ट करने के लिए मैं एक बार फिर यह कहना चाहता हूं कि जीवन के रूप से मेरी अभिलाषा है गतिविधि के उस अविराम प्रतिमान से जो जीवन बनाए रखने के लिए आवश्यक है। इसे परिश्रम के सामाजिक विभाजन की संज्ञा भी दी जा सकती है। हर व्यक्ति संपूर्ण समाज का एक हिस्सा होने के साथ साथ, दूसरों के जीवन को बल प्रदान करने वाले संपूर्ण कार्यों के हिस्से का दायित्व भी उठाता है। इसके बदले में उसे किसी स्वरूप में अन्य सदस्यों के सहारे का अधिकार मिलता है। उदाहरण के तौर पर कल्पना कीजिए कि कोई व्यक्ति किसी गुमनाम-से बिना बसे टापू पर रहता है, अन्य मनुष्यों से किसी भी प्रकार के आदान-प्रदान से बिल्कुल परे। ऐसे व्यक्ति को बाध्य होना पड़ेगा कि जीवित रहने के लिए जरूरी कामों को वह अकेला ही पूरा करे। सहकारी जीवन का निर्णयात्मक लाभ यह है कि पूरे काम का एक छोटा-सा हिस्सा करने से, जीवन की सारी जरूरतों से कुछ अधिक ही मिल जाता है। जीवन के रूप का वर्गीकरण मानव जीवन की इसी भागीदारी के पहलू को उजागर करता है। अचेतन अथवा चेतन गतिविधि - यह उन तरीकों में पहला और सबसे प्रत्यक्ष अंतर है जिनसे लोग अपने जीवन का अनुभव करते हैं। कोई भी जीवन में पल दर पल हर चीज के प्रति चेतन नहीं रह सकता। अगर लोगों को अपने हरेक कार्यकलाप के ऊपर ध्यान देना पड़े तो वे मानव चेतना के ऊंचे चिंतन तक कभी नहीं पहुंच सकते। इस तरह की सहज क्रियाएं अपने आप ही हो जाती हैं, मस्तिष्क के उच्च-ऐंद्रीय केंद्रों को बिना कष्ट दिए। अगर इन क्रियाओं का लेखा-जोखा किया जाए तो वे दिन भर की गतिविधियों का एक बड़ा हिस्सा रचती हैं। जीवन के इस प्रत्यक्ष तथ्य की महत्ता और अधिक बढ़ जाती है अगर इसे मानव विकास के पथ के सिलसिले में आंका जाए।

अगर हम मानव जीवन के विकास की प्रक्रिया को ध्यानपूर्वक देखें, तो हमें अहसास होगा कि हम जन्म से ही इस अचेतन और स्वचलित क्रिया की शुरुआत नहीं करते। कोई शिशु जब चलना सीखता है तो हर कदम पर गहन एकाग्रता दिखाई पड़ती है। तब हम वयस्कों को ऐसा लगता है कि अचेतन और बारंबार होने वाली

क्रिया के पीछे भी कड़ा और चेतन प्रयास है। लेकिन हमें नीरस और यांत्रिक क्रियाओं की चिंता तज देने की क्षमता है। इसलिए मनुष्य उच्च और जटिल स्तर की चेतन एवं आध्यात्मिक गतिविधि पर अधिक ऊर्जा व्यय कर सकता है। साफ है कि इस तरह मानसिक गतिविधि में कमी हो जाती है।

अपनी इस भेदीकरण की परियोजना को शिक्षा और शैक्षणिक विधि के पास लाने के पहले चरण में, हम किसी व्यक्ति के बोध की अवस्थाओं की तुलना सरकारी संगठन के दो ध्रुवों से करते हैं : केंद्रीय सरकार (राष्ट्र का चेतन-जीवन) और विकेंद्रित अथवा स्थानीय सरकार (राष्ट्र का अचेतन जीवन)। एक तानाशाही शासन में केंद्रीय सरकार अपने को हर एक निर्णय में शामिल करती है। इतने अधिक उलझाव का नतीजा यह होता है कि महत्वपूर्ण सरकारी दायित्वों की अवहेलना होती है और पूरे राष्ट्र की अवनति। किसी के व्यक्तिगत विकास के रास्ते में, इस तरह का केंद्रित ध्यान पहले पहल तो अवश्यंभावी होता है। लेकिन अंततः स्थानीय प्रशासकों को प्रशासकीय दायित्व सौंप देने में आसानी रहती है। वास्तविकता में, दैनिक जीवन को स्पष्ट रूप से चेतन और अचेतन वर्गों में नहीं बल्कि इन ध्रुवों के बीच बढ़ती-चढ़ती अर्द्धचेतना के रूप में बांटा जा सकता है। इसका अधिक सूक्ष्म विभाजन करने से हम कुछ विशेष लक्षणों की पहचान बना सकते हैं। समस्त जीवित वस्तुएं, चाहे वे पेड़ हों या जानवर, जीवन की इच्छा और मृत्यु की अनिच्छा से प्रचालित होती हैं और उसी के तहत, जीवन की गतिविधियां करती हैं। जीवन की यह गतिविधि स्पष्ट रूप से अजीवित पदार्थों की यांत्रिक गतिविधि अथवा प्राकृतिक घटनाओं से हटकर है, जो शुद्ध रूप से भौतिक विधान के अंतर्गत होती है। कीड़े-मकोड़े जैसे जीवन के बलहीन रूप भी, खतरा दिखाई देने पर, बचाव या भागने की प्रतिक्रिया करते हैं, हालांकि वे मानव चेतना की मस्तिष्क-क्रिया के स्तर से वंचित होते हैं। नदी किनारे जाल में फंसी हुई मछलियां हर संभव प्रयत्न करती हैं कि फिर पानी में चली जाएं। वे मनुष्य द्वारा उन्हें पकड़ने के प्रयत्नों का विरोध करती हुई लगती हैं। अगर हम जीवन के और जटिल स्वरूपों की बात लें - जैसे चिड़ियां या जानवर - तो हम, दुश्मन से लड़ने के प्रयत्न जैसे, अपने बचाव में किया गया व्यवहार स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। जीवन के इन स्वरूपों से कोई संचार न होते हुए भी मनुष्य ने अपने आप यह नतीजा निकाल लिया है कि इस व्यवहार के पीछे उनमें कोई जानीबूझी चेतना है। लेकिन वास्तव में, वे उस तरह से चैतन्य नहीं हैं जिस तरह कि मनुष्य होता है।

इन उदाहरणों को अगर मानव जीवन के परिसर में देखें तो मानव व्यवहार का चार भागों में वर्गीकरण करना सही लगता है :

1. पौधों-नुमा व्यवहार : नींद; अचेतन गतिविधि; स्वचेतना की अनुपस्थिति
2. जानवरों-नुमा व्यवहार : चेतन गतिविधि; स्वचेतना की अनुपस्थिति

3. वैयक्तिक व्यवहार : स्वयं की चेतना; स्वयं-केंद्रित गतिविधि
4. सामाजिक व्यवहार : स्वयं की चेतना; समाज-केंद्रित गतिविधि

पौधों-नुमा व्यवहार

नींद उस व्यवहार का केवल एक भाग ही रोकती है जो मनुष्य जागते समय करते हुए दिखाई देते हैं। नींद के समय सारी क्रियाएं न्यूनतम और बस जीवित रहने मात्र के लिए काफी लगती हैं। लेकिन शरीर की कुछ क्रियाएं, जैसे पाचन क्रिया, नींद के दौरान और भी गतिशील हो जाती हैं। जागने और सोने में सबसे स्पष्ट अंतर यह है कि नींद में चेतना अनुपस्थित रहती है; सोए हुए को किसी भी क्रिया का अनुभव नहीं होता। सपना देखना जागने के समय की चेतना से एकदम अलग है, इसलिए यहां उसके उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं है। नींद की अचेतन स्थिति में शारीरिक व्यवहार के लक्षण पौधों से अलग नहीं लगते।

जानवरों-नुमा व्यवहार

जागते समय की हमारी गतिविधियां हमारी नींद की गतिविधियों से भिन्न हैं क्योंकि हमें उनका अहसास है। लेकिन फिर भी इस चेतना में अब तक न तो कोई एकरूपता है न ही उसकी कोई पहचान। इन बेतरतीब घटनाओं में कोई सामंजस्य नहीं है और हम बाहरी प्रेरकों से बाध्य होकर पल प्रतिपल बदलते रहते हैं। सोते हुए से जागते हुए दिमाग को बाहर से कुछ सूचना दे पाना अधिक संभव है, लेकिन इस अवस्था में भी 'स्वयं' के जागरूक होने में शक है। स्वयं की चेतना कभी इस स्थिति को अलग वर्ग में खड़ा कर देती है। इस अटपटी, उनींदी स्थिति में, यह तो पता रहता है कि कुछ गतिविधि हो रही है लेकिन यह नहीं कि हम ही उसे कर रहे हैं या उसका कोई फल भी है। हम बिना सचमुच देखे हुए देखते हैं, बिना सुने सुनते हैं, बिना स्वाद समझे खाते हैं। हम पूर्णरूप से दूसरों पर आश्रित होते हैं और इस बात का अहसास भी नहीं होता कि आत्मसात की कोई संभावना भी है।

वैयक्तिक व्यवहार

हालांकि चैतन्य गतिविधि का पहलू पिछली अवस्था की भांति ही बना रहता है, मगर यहां स्वयं के प्रति चेतना का पदार्पण क्रमविकास में एक बड़ी छलांग की तरफ इशारा करता है। इस जगह हम विशेष रूप से अपने आप से आमुख होते हैं, जैसे हम सुकरात की मशहूर सीख, "स्वयं को जानो" को चरितार्थ कर रहे हों। बचपन से हम अपने चारों तरफ और अपने हालात की तरफ थोड़ा बहुत ध्यान ही नहीं देते, बल्कि दूसरों की मदद भी करते हैं। लेकिन मनुष्य की प्रकृति का तथ्य यह है कि हमारे जीने का तरीका, हमारा अपना आप, सिर्फ खुद अपनी आवश्यकताओं और

इच्छाओं को पूरा करने का उद्देश्य ही पहचानता है। अपने आप को जानने के इस शुरुआती पड़ाव में हमारा व्यवहार अपने पर ही केंद्रित रहता है। अपने ही आप की तरफ यह रुझान पहले तो भावनात्मक होता है, और फिर धीरे धीरे तर्कसंगत बनता है।

सामाजिक व्यवहार

यह जानकारी कि हम से ऊंचे और परे भी कुछ है, हम में एक नए स्वयं को अंगीकार करती है और स्वयं का यह विकसित स्वरूप एक अधिक व्यापक सामाजिक अनुभव की ओर ले जाने में सहायक होता है। बल्कि इस अवस्था में हमारी चेतना का केंद्र यही बन जाता है।

विज्ञान की विभिन्न शाखाओं से मिलता जुलता एक वर्गीकरण अपने आप उभर कर आता है :

1. शारीरिक जीवन : स्वयं के होने की एक अचेतन स्थिति।

2. मनोवैज्ञानिक जीवन : बिना स्पष्ट उद्देश्य के लिए चैतन्य गतिविधियों की स्थिति।

3. नैतिक जीवन : मानव जीवन के अंतिम ध्येयों को निथार कर, प्रमुख खोज की स्थिति।

अंततः, इन सब मापदंडों के सामंजस्य से हमें एक ऐसे वर्गीकरण की परियोजना मिलती है जिसके द्वारा शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित किया जा सकता है, और साथ साथ उस लक्ष्य को पाने की शैक्षणिक विधियों पर विचार भी।

1. अचैतन्य जीवन : पौधों की तरह, शारीरिक व्यवहार। स्वचेतना के बिना, अचेतन गतिविधि।

2. अर्द्ध-चैतन्य जीवन : जानवर-नुमा व्यवहार, पराधीन, दिशाविहीन ऐंद्रीय जीवन।

3. चैतन्य जीवन : आदि-मानव की भांति मनोवैज्ञानिक जीवन, दिशाविहीन भावात्मक जीवन।

4. स्वयं-चैतन्य जीवन : व्यक्तिगत-तुष्टि तक सीमित स्वःचेतना, लाभ और सुंदरता की चैतन्य खोज।

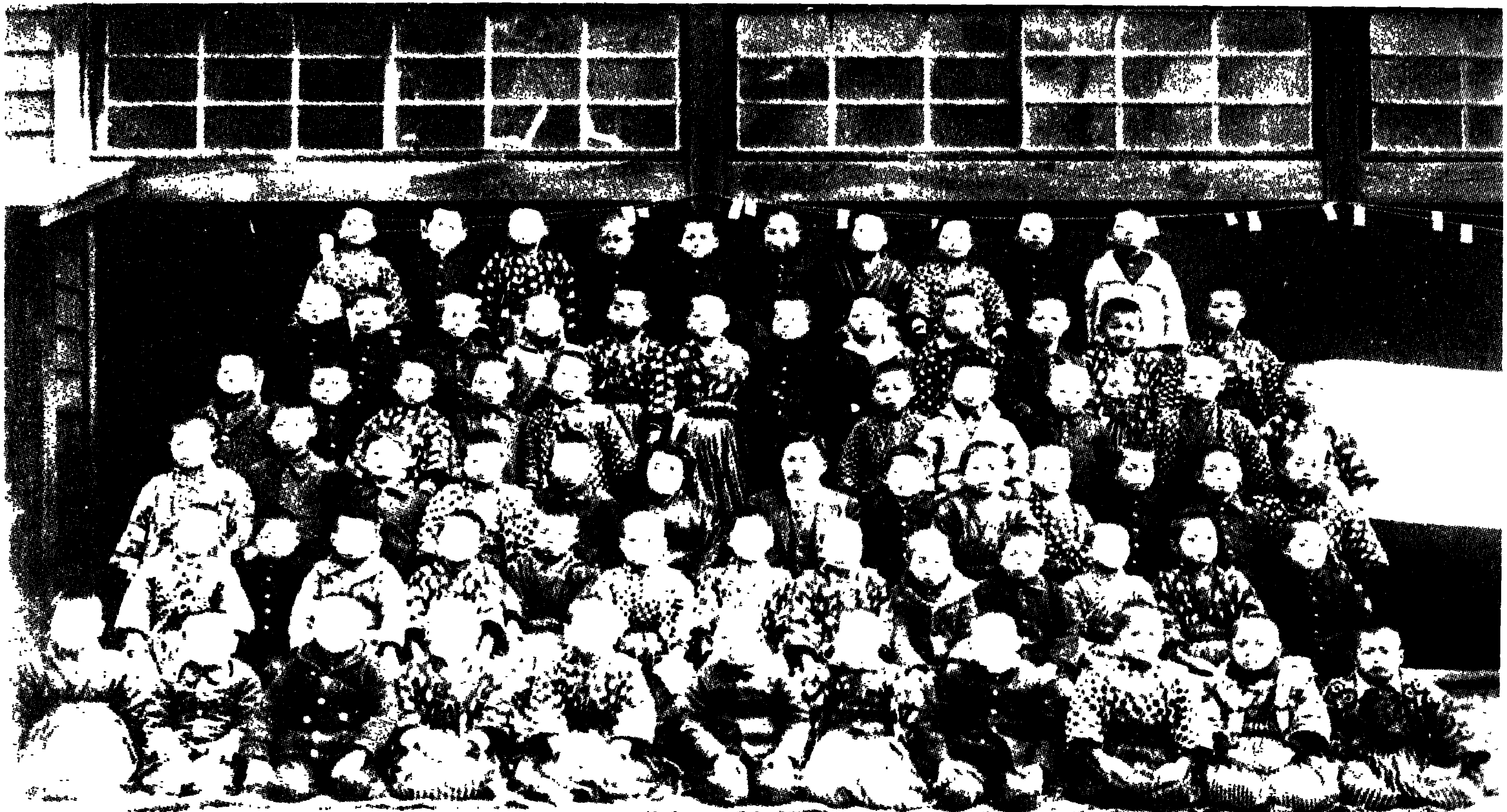
5. समाज-चैतन्य जीवन : स्वःचेतना संपूर्ण समाज की तुष्टि पर केंद्रित। नैतिक मूल्य की चैतन्य खोज।

भावात्मक और बुद्धिसंगत व्यवहार

जीवन के रूपों की संकल्पना हमें यह बात समझने में भी मदद करती है कि भावात्मक और बुद्धिसंगत व्यवहार किस तरह से हमारे जीवन को गढ़ते हैं। अनुभव के यह



त्सुनेसाबुरो माकीगुची (बाएं से दूसरे) शिरोगने एलीमेंटरी स्कूल के मुख्य द्वार के सामने अपने शिष्यों के साथ



माकीगुची अपने विद्यार्थियों के साथ शिरोगने एलीमेंटरी स्कूल में

दो रूप न केवल मनुष्यों के समूह में बल्कि एक व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक विकास की प्रक्रिया में भी अलग दिखाई पड़ते हैं। जीवन की शुरुआत में भावुकता व्यक्ति के व्यवहार पर हावी होती है। लेकिन जैसे जैसे वह बड़ा अथवा परिपक्व होता जाता है, भावुकता में तर्क सम्मिलित हो जाता है। इस प्रक्रिया के बिना, साधारण सामाजिक संबंधों से लेकर अंतर्राष्ट्रीय व्यवहार-कौशल तक, एक बेसुरा सुर लग सकता है। सही मायनों में सामाजिक सद्भावना के साथ जीवनयापन करना तब ही संभव है जब दूसरों के साथ शांतिपूर्ण सहयोग की स्थिति बनी रहे। और इसके लिए आवश्यक होता है व्यक्तिगत व्यवहार में भावुकता और तर्क का संतुलन।

जहां तक हम अंदाजा लगा सकते हैं, आदि-मानव को तर्क की समझ नहीं थी। बिना ज्यादा सूझ-बूझ के, तात्कालिक परिस्थितियों में भावनाओं के सहारे जीते हुए, उसने काफी अच्छी तरह से अपना काम चलाया। और जब तक सब चीजें बिना रोक टोक के चलीं, सब कुछ ठीक ही था। लेकिन जब भी समस्याएं उठ खड़ी होतीं तो वे अनर्थकारी हो सकती थीं। कभी भी कुछ अनर्थ हो जाने की आशंका व्याप्त रहती थी, लेकिन आदि-मानव ने अपनी सुरक्षा की ओर फिर भी ध्यान नहीं दिया। और यह इसलिए हुआ क्योंकि उसने भविष्य की रूपरेखा पर कोई विचार नहीं किया।

इसके विपरीत, सभ्य लोगों के लक्षण होते हैं दूरदृष्टि और अनिश्चितताओं से जूझने की तैयारी के लिए सोच विचार। यही विवेकपूर्ण जीवन की शुरुआत है। जब कुछ होता है तो हमारा ध्यान सबसे पहले इस पर जाता है कि उससे हमारे जीवन पर कैसा और कितना प्रभाव पड़ेगा। हम लाभदायक घटनाओं को दोहराने और साथ ही हानि से बचने या छुटकारा पाने की कोशिश करते हैं। हम उन पूर्वस्थितियों का मुआयना करते हैं जिनमें वह सब कुछ हुआ और उसके कारणों की तलाश करते हैं। कारण ढूंढ़ने की अवधारणा हमारी प्रकृति में शामिल हो गई है। लेकिन सच्चा सबूत तो घटनाओं की शृंखला को दोहरा पाने में है। वैसे यह केवल आगमिक विधि (इन्डक्टिव मैथड) का उदाहरण है। विवेकपूर्ण जीवन को तर्कसंगत जीवन भी कहा जा सकता है। जिस तरह प्राकृतिक दुनिया युक्तिगत सिद्धांतों से चलती है, उसी तरह समाज की तर्कसंगत जीवन व्यवस्था यह आज्ञा नहीं देगी कि कोई व्यक्ति बस अपनी खुद की पसंद और नापसंद के बूते पर जिए। ऐसा व्यक्ति दया का पात्र है जो सैद्धांतिक रूप में तो तर्कसंगत युक्तियों के जीवन को समझे और स्वीकारे, लेकिन व्यावहारिक जीवन में उसको लागू करने में असमर्थ रहे। ऐसा व्यक्ति दुविधाग्रस्त हो जाता है, फिर समाज के चलन में विश्वास खो बैठता है। कितनी भी मुश्किल क्यों न हो, उस व्यक्ति को विवेक का मूल्य सीखना होगा, एक बार नहीं बारंबार।

आध्यात्मिक विकास के स्तरों के अनुसार जीवन-व्यवहार का वर्गीकरण।

ऑगस्त कोम्ते ने मानव ज्ञान का तीन अवस्थाओं में वर्गीकरण किया था। मानव अनुभव के वर्गीकरण की सार्वभौमिक परियोजना बनाने के अपने प्रयास में, हम कोम्ते के वर्गीकरण की सहायता ले सकते हैं। यह वर्गीकरण चेतना के विभिन्न चरणों की तुलना में, जीवन-व्यवहार के सामाजिक पहलू को स्पष्ट करता है :[10]

1. अलौकिकता में रमे धार्मिक विश्वासों पर आधारित ब्रह्मवैज्ञानिक चिंतन।

2. कारणात्मक संकल्प, सत्ता-मीमांसा, आंतरिक सिद्धांत और पदार्थ पर आधारित तात्विक चिंतन।

3. वैज्ञानिक और अनुभव-सिद्ध सकारात्मक चिंतन।

मानवता के सामान्य विकास का यही अनुक्रम व्यक्तिगत विकास की शृंखला में भी देखा जा सकता है। शिक्षकों के रूप में हम इसी विकास क्रम को बच्चों के मानसिक विकास के प्रेक्षण पर भी रोपित कर सकते हैं। इस तरह हम उनके अन्य लोगों से और चारों तरफ की दुनिया से संबंधों को तीन सुस्पष्ट वर्गों में बांट सकते हैं :

1. विश्वास और परिपाटी के प्रतिमान पर अनुकरणशील जीवन।

2. हठधर्मी और प्रश्नात्मकता पर आधारित स्व-निर्मित जीवन।

3. तर्कसंगत, वैज्ञानिक जीवन।

पहली अवधि में बच्चे अपने माता-पिता और शिक्षकों में असीम विश्वास दर्शाते हैं और उनकी आज्ञा का बिना किसी शर्त के पालन करते हैं। शिक्षकों की यह भूमिका है कि वे बच्चों का इस पहली अवस्था से दूसरी अवस्था तक मार्गदर्शन करें और इसी प्रकार अंततः तीसरी अवस्था तक। लेकिन अक्सर यह विकास नहीं होता। कुछ व्यक्ति अपने जीवन का बेहतर हिस्सा अंध-विश्वास में जीते हैं। जो कुछ उनसे कहा जाता है उसे बिना किसी सवाल के स्वीकारते हैं और अपने आप को दूसरों के आदेशों और उदाहरणों के अनुरूप बनाते हैं। विडंबना यह है कि स्वयं शिक्षक भी ज्यादातर अपने बड़ों और शिक्षा-शास्त्रियों की नकल भर करते हैं। हमें अक्सर उन खराब शिक्षा प्रणालियों के बारे में सुनाई पड़ता रहता है जो सिद्धांतों पर अंध विश्वास और उनके गलत प्रचलन या गलत समझ से पैदा हुई हैं।

विश्वास एक खतरनाक चीज हो सकती है, और अक्सर यह तय करना मुश्किल होता है कि धर्म और विज्ञान में से क्या अधिक हानिकारक है ? अंतिम परिणति में दोनों में से किसी का भी अंधानुसरण नहीं किया जाना चाहिए। दोनों में से कोई भी सत्य उजागर करने का दावा तब ही कर सकता है जब ब्रह्मांड में निहित क्रम को जैसा धर्म दिव्य-शक्ति के स्वरूप में दर्शाये, वैसा ही, विपरीत दिशा से यानी आगमिक प्रयोग से, विज्ञान प्राकृतिक विधान की दृष्टि से दर्शाये। हमें उन अधकचरे

विद्वानों से भी बच कर रहना चाहिए जो दूसरे के विश्वासों को इसलिए झुठलाते हैं ताकि स्वयं अपने विश्वास की हठधर्मिता से उद्घोषणा कर सकें।

फिर भी, व्यक्तिगत अनुभव को छोड़ के, विश्वास ही सबसे अच्छा शिक्षक प्रतीत होता है। विद्वान और दार्शनिक अपने अध्ययनों को उस सीमा तक खींचें कि उनके विचार किसी को समझ में ही न आएं, कोई अनहोनी बात नहीं है। ऐसे विचार किसी पर कोई प्रभाव नहीं छोड़ते, सिवाय उन पर जो उनसे सहमत हों। ज्यादातर लोगों के लिए उनके अपने जीवन के अनुभव के दायरों से बाहर की चीज समझ से बाहर भी रहती है। यह आशा नहीं की जा सकती कि लोग उन गूढ़ बातों को समझ पाएंगे जो उनके अनुभवों के भंडार में हैं ही नहीं। शास्त्रीगण शास्त्रार्थ में उलझते हैं तो उलझे रहें। मगर उन्हें ऐसे व्यक्तियों को समझाने की कोशिश बेकार है जिन्होंने न तो उन क्षेत्रों का अध्ययन किया है न उसमें काम। वयस्क आदमी बच्चे को अपनी बात सुनने के लिए तो बाध्य कर सकता है, लेकिन अगर बात बच्चे के अनुभव-क्षेत्र से परे है तो वह उसके पल्ले भी नहीं पड़ेगी। फिर भी बड़ा बच्चे को अपनी बात पर विश्वास करने के लिए मजबूर करता है, चाहे वह उसे समझ में न ही आए। यह उस व्यक्ति के अधिकार की सहमति भर है, उसके विचार की सहमति नहीं। इन बुजुर्गों के और सत्य के ज्यादा समझदार ठेकेदारों के बढ़ा-चढ़ा कर बात कहने का नतीजा यह होता है कि समस्या को बहुत मुश्किल समझकर, दबाने की कोशिश करने की इच्छा होती है। इसलिए बहुत से लोग जितना कहा गया है उससे आगे सोचने का कष्ट भी नहीं करते।

किसी भी ऐरे-गैरे अधिकारी के विचारों के अंधानुसरण की प्रवृति बहुत फैली हुई है, चाहे वे उन विषयों को लेकर हों जो जीवन पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं। हमारी समझ कितनी भी पैनी क्यों न हो जब हमारे सामने ऐसी चीजें आती हैं जो हमारी समझ से बाहर हों तो हम गहराई से सोचने की कोशिश भी नहीं करते और अपने बड़ों या अन्यों के उन विचारों को अंधे होकर मान लेते हैं जो अधिकारपूर्वक कहे हुए लगते हैं। बल्कि इससे भी बदतर यह है कि कुछ लोग अपने जीवन के बारे में निर्णय लेने के लिए ज्योतिष विद्या, भविष्यवाणियों या 'आई चिन्ग' इत्यादि जैसी चीजों पर निर्भर करते हैं। दूसरे छोर पर, हम सहज और आम बातों को अनदेखा-सा कर देते हैं और तर्कसंगत विश्लेषण के बजाय अंतर्दृष्टि पर निर्भर करते हैं। ज्यादातर हम अपना काम ठीक ही चला लेते हैं, हालांकि बार बार उन्हीं गलतियों को दोहराने से निपटना भी पड़ता है, ठीक उसी तरह जैसे अनुभव के सांचे में व्यावहारिक गलतियां हो जाती हैं।

जाने माने दृष्टिकोणों और विचारों को बिना समझे-बूझे, बिना जांच-पड़ताल किए विश्वास कर लेने की हमारी बच्चों जैसी आदत है। इसके साथ ही, अनुभवों के हमराह विरोधाभास और त्रुटिपूर्ण परिकल्पनाएं भी आती हैं। इनसे अनिश्चितता

और संदेह पैदा होते हैं। इस अनुभूति को चिंतन की दरकार होती है। बोध और अधिक बोध को जन्म देता है और तभी बुद्धिसंगत जीवन की शुरुआत होती है। इस तरह यह देखा जा सकता है कि अनिश्चितता एवं संदेह एक बिचौली स्थिति के द्योतक हैं जो तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक जीवन की ओर अग्रसर करती है।

यानी, आधुनिक शिक्षा का उद्देश्य है बच्चों की अविकसित अवस्था से उन्हें तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक जीवन की ओर अग्रसर करना। इस बात का यह मतलब नहीं निकालना चाहिए कि धर्म और तर्कसंगत एवं वैज्ञानिक जीवन में विरोधाभास है। कभी कभी लोग सोचते हैं कि धर्म और विज्ञान में संगति नहीं है मगर यह निष्कर्ष ठीक नहीं है। आगमिक कारण से स्थापित और प्रयोगों द्वारा सिद्ध वैज्ञानिक सत्य को सत्य और विश्व-विधान माना जाना चाहिए। लेकिन, जैसा कि कई धर्म दावा करते हैं, अगर विश्व की सारी घटनाएं ईश्वर की ही अभिव्यक्ति हैं और विश्व का विधान भी ईश्वर की ही देन है, तो वैज्ञानिकों के अनथक प्रयास से स्थापित सत्यों और धार्मिक सीखों में विरोध नहीं होना चाहिए।

सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन : व्यक्ति सापेक्ष बनाम सामाजिक अस्तित्व के स्वरूप में

सांसारिकता और आध्यात्मिकता का अंतर मानव-जीवन पर एक और परिप्रेक्ष्य देता है। हालांकि यह सही है कि मानवता केवल सांसारिकता के सहारे ही नहीं जीती, लेकिन साधारण मनुष्य के उद्यम के ध्येय जीवनयापन के परे भी नहीं होते। चाहे उद्देश्य कितने भी उच्च क्यों न हों, मनुष्य का लक्ष्य होता है एक बेहतर जीवन। ऐसा हो सकता है कि लोग ऐसे ध्येयों के लिए काम करें जिनका जीवनयापन से सीधा संबंध नहीं है, लेकिन वास्तव में यह तब ही संभव है जब जीने की मूलभूत आवश्यकताएं पूरी हो चुकी हों।

यह तो स्पष्ट है कि जीवनयापन की आवश्यकताएं व्यक्ति के आर्थिक-वर्ग, पालन-पोषण इत्यादि के सापेक्ष अलग अलग होती हैं। लेकिन इसमें कोई अनूठापन नहीं है। लक्षण वही रहते हैं, सिर्फ मात्रा का अंतर होता है। आवश्यकताएं आज के जीवनयापन के स्तर के सापेक्ष और अगले स्तर के लिए साधन होती हैं। जैसा कि चीनी दार्शनिक कुआन-त्सु ने बहुत पहले कहा था : 'जब खलिहान भरे हों तो आप व्यवहार और ईमानदारी पर ध्यान दे सकते हैं; जब आपके पास पर्याप्त कपड़े और खाना हो तब आप मान और अपमान के बारे में चिंता कर सकते हैं।"[11] कुआन-त्सु का कथन दुनिया भर पर लागू होता है। उच्च-विचारों का पहला आधार सांसारिक ही है।

किसी भी प्रकार के आध्यात्मिक जीवन के लिए सांसारिक आधार की महत्ता समझने के बाद, हम यह बात और जोड़ सकते हैं कि मूल्य जीवन के सापेक्ष होता

है। लोग अपने जीवन के मूल्य को जितना गौण समझते हैं, वे उतनी ही अधिक महत्ता सांसारिक वस्तुओं को देते हैं। अपनी आय के गुलाम और कंजूस लोग रुपये-पैसे को भी उतना ही मूल्यवान समझते हैं जितना अपने जीवन को। वे अपने धन के प्रति उतने ही भयभीत रहते हैं जितने अपने अस्तित्व के प्रति। अगर वे कभी इतने गंभीर रूप से बीमार पड़ जाएं कि उन्हें अपना सारा संचित धन इलाज पर खर्च करना पड़े, तो वे शायद जीवन के मूल्य के प्रति चेतन हो जाएं। लेकिन जब खतरा टल जाएगा तो फिर वे बहुत ज्यादा काम और धन बटोरने के ढर्रे पर पड़ जाएंगे, यह भूलकर कि वही उनके जीवन को कितना कम कर रहा है।

इसके विपरीत कुछ लोग अपने आदर्शों के लिए अपनी जान देने के लिए तैयार हैं। उदाहरण के लिए ऐसे कलाकार जो कला की साधना कला के लिए ही करते हैं; जीवन को कला के लिए ही लुटा देते हैं। अगर कोई किशोर या किशोरी प्रेम में असफल रहे तो वह शायद महसूस करने लगे कि जीवन जीने लायक नहीं बचा। इन उदाहरणों में, जीवन का लक्ष्य और लक्ष्य पाने का साधन, दोनों में फेरबदल हो गयी है। अमूमन यह फेरबदल अस्थायी स्थिति होता है और ज्यादा देर नहीं चलता। बहरहाल, यह सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन में किसी पारस्परिक विरोध को तो बिल्कुल ह्री नहीं दर्शाता।

एक और आम गलतफहमी यह भी है कि व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक अस्तित्व में तालमेल होता ही नहीं है। व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को अलग-अलग देख पाने की कल्पना तो की जा सकती है, मगर दैनिक जीवन में इनमें अंतर देख पाना मुश्किल है। हर व्यक्ति में सैद्धांतिक रूप से तो हम दो अलग अलग आयाम देख सकते हैं, मगर वे सचमुच में अलग नहीं होते। हर व्यक्ति का एक आयाम है व्यक्तिगत एवं आध्यात्मिक अस्तित्व। और दूसरा है ; भावना, विचार, विश्वास और आदत, लेकिन ये सब व्यक्ति विशेष को नहीं बल्कि उस संगठन या समाज को प्रतिबिंबित करते हैं जिनका वह व्यक्ति एक हिस्सा है। ये सब मिलकर किसी व्यक्ति के सामाजिक अस्तित्व की संरचना करते हैं और शिक्षा का लक्ष्य है कि वे इन्हें हर व्यक्ति में अंगीकार करे। यह फिर मेरी इस धारणा पर ध्यान आकर्षित कराता है कि शिक्षा को हर व्यक्ति में यह भावना पैदा करनी चाहिए कि हम अपने जीवनयापन के लिए समाज के कर्जदार हैं।

इस प्रकार हम सामाजिक चेतना की अनुपस्थिति या उपस्थिति के मापदंडों पर, दो बिल्कुल अलग अलग तरह के जीवन लक्षणों को केंद्रित देख सकते हैं।

1. सांसारिक और आत्मतुष्टि पर केंद्रित व्यक्तिगत जीवन।

2. सामूहिक व आध्यात्मिक उत्थान पर केंद्रित सामाजिक जीवन।

जीवन के ये दो स्वरूप जो साधन और साध्य में एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत हैं, आधुनिक समाज में प्रत्यक्ष हैं। स्पष्ट है कि शिक्षा को दूसरे स्वरूप को प्रचारित

करना चाहिए।

सहकारी और प्रतियोगी जीवन

पहले मैं उस बात को दोहराता हूं जो अभी प्रमाणित की गई है। स्व-केंद्रित, अचेतन जीवन व्यक्तिगत और सांसारिक संचन पर जोर देता है, तो दूसरी ओर, समाज-केंद्रित, चेतन जीवन पूरे समुदाय की आध्यात्मिक संपन्नता पर। यह अहसास हमें समझ पाने में मदद कर सकता है कि मानव जीवन में हार्दिक सहयोग और जबरदस्त होड़ दोनों का अस्तित्व होता है। बहुत समय तक यह बात मुझे अपनी समझ के बाहर लगी। ऐसा कैसे हो सकता है कि वही गतिविधियां और संबंध एक तरफ तो सुखद पारस्परिक निर्भरता और मिल बांटने के अहसास जगाएं और दूसरी तरफ अविश्वास और लालच से उपजे बदनुमा जुल्म ? दशकों के गंभीर चिंतन के बाद मैं इस सहज निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि जहां प्रतियोगी जीवन व्यक्तिगत चेतना से जुड़ा है, वहीं सामाजिक-चेतना उदय होने के साथ सहकारी जीवन का पदार्पण होता है। जब तक मनुष्य सिर्फ अपने बारे में ही सोचेगा, नैतिकता के लिए कोई स्थान नहीं होगा। सहकारी और सद्भावपूर्ण नैतिक जीवन का मतलब तब ही समझ में आएगा जब पहले लोग दूसरों की जरूरतों को समझने की कोशिश करेंगे। यानी, जब उनमें हर जीवन में समाज के अर्थ और महत्व का अहसास जग चुका होगा। अगर ऐसा नहीं हुआ है तो उपदेश देने का कोई लाभ नहीं होगा। यद्यपि एक स्वकेंद्रित व्यक्ति अचेतन जीवनयापन करता हुआ नैतिक व्यवहार का आवरण ओढ़ सकता है, लेकिन दिल ही दिल में उस व्यक्ति के अनुभव कड़वे और परस्पर संघर्षरत होंगे। अपने आप में ही उलझे रहना अब भी दुनिया का चलन है। सहकारिता के भुलावे में रहकर भी हम सिर्फ जिंदा रह पाने की लड़ाई के दृश्यों से बच नहीं सकते।

सहकारी जीवन तब ही विकसित हो सकता है जब हर व्यक्ति खुद अपनी कमियों और क्षमताओं को उतनी ही अच्छी तरह आंक पाए जितनी दूसरों की कमियों और क्षमताओं को। पारस्परिक कमियों और क्षमताओं को समझ पाने पर ही प्रयत्नों का ऐसे रूप में एकजुट हो पाना संभव है कि सभी लाभान्वित हो पाएं। पारस्परिक संबंधों के लाभ समझ पाने पर ही, समुदाय के सदस्य ऐसे स्थायी विश्वास की नींव डाल सकते हैं जिस पर पूर्ण सहकारिता रचने की संभावना बने।

अगर शिक्षा को यह कार्य करना है कि वह एक-दूसरे से होड़ में लगे हुए लोगों में सहकारी जीवन के लाभों का मूल्य समझने और सराहने की भावना पैदा करे तो उसे विद्यार्थियों में पारस्परिक सामाजिक चेतना को जगाना होगा। इस तरह के सामाजिक जीवन के बीजारोपण के लिए स्कूल एक आदर्श प्रांगण है।

श्रम-विभाजन जीवन के स्वरूप में

अगर हम जीवन में उसके श्रम-विभाजन के स्वरूप पर विचार करें तो हम इस काम की प्रकृति को और उसे कार्यान्वित करने में स्कूल की भूमिका को अच्छी तरह समझ सकते हैं। समाजशास्त्री मनुष्य के सामाजिक व्यवहार को, समुदाय में प्रेक्षित श्रम के विभिन्न विभाजनों के अनुसार बांटते हैं। इनमें से एक वर्गीकरण निम्नलिखित है :

1. राजनीतिक गतिविधि
2. आर्थिक गतिविधि
3. सांस्कृतिक गतिविधि

अन्य संभव वर्गीगरण में ये गतिविधियां भी शामिल हो सकती हैं : कानूनी, नैतिक, धार्मिक, रूढ़िवादी, तकनीकी, कलात्मक, शिक्षा-संबंधी इत्यादि। लेकिन ये सब भी उपर्युक्त तीन वर्गों के ही हिस्से हैं :

1. राजनीतिक गतिविधि : संसदीय, प्रशासकीय, न्यायिक;
2. आर्थिक गतिविधि : उपज, विनिमय, वितरण, उपभोक्ता;
3. सांस्कृतिक गतिविधि : रूढ़िवादी, कलात्मक, धार्मिक, शिक्षा-संबंधी।

आर्थिक गतिविधि राजनीतिक गतिविधि का आधार है और ये दोनों मिलकर सांस्कृतिक गतिविधियों की नींव डालती हैं। लेकिन हमारे जीवन के स्वरूपों की व्याख्या में इन गतिविधियों का स्थान कहां है ? अब तक हमने चेतना-स्तर के अनुक्रम में तीन तरह के मानव-व्यवहार को स्थापित किया है :

1. अचेतन व्यवहार;
2. चेतन व्यवहार;
3. आत्म-बोधित व्यवहार (व्यक्तिगत चेतन जीवन और सामाजिक चेतन जीवन)।

इन्हें व्यक्ति-विशेष की चेतना के अंतर्गत घटना-क्रिया-विज्ञान से उद्धृत किया गया है। जब हम इस स्थिति का बाहर से अवलोकन करते हैं तो एक बिल्कुल अलग छवि उभरती है। अगर जीवन के इन वर्गों को उनकी वस्तुपरक जड़ों में जाकर देखा जाए तो हमें मनुष्य की गतिविधियों में ही प्रबल धारे दिखाई देते हैं। उदाहरण के तौर पर कानून वैध और अवैध आंकने के लिए निवारक और दंडात्मक कसौटी है। सरकार अवैध से वैध की लड़ाई का साधन है, यानी दूसरे शब्दों में यह वह साधन है जिसके जरिए पूरा समाज कुछ बुरे लोगों को सत्ता के अवैध उपयोग से रोकता टोकता है। शिक्षा और सांस्कृतिक उन्नति सुसंगत व्यवस्था को बढ़ावा देती है।

मनुष्य समाज में आंखें खोलता है। हर मनुष्य को यथासंभव सर्वश्रेष्ठ सेवाएं समाज में सबके भले के लिए अर्पित करनी चाहिए। कोई अलग जिंदा नहीं रहता;

कोई काम अपने आसपास के लोगों की जरूरतों से परे पैदा नहीं होता। पारस्परिकता की सुसंगत व्यवस्था में हर व्यक्ति, हर श्रम एक संपूर्ण का अंश होता है। जहां तक एक व्यक्ति का सवाल है, केवल शारीरिक और मनोवैज्ञानिक जीवन-साधन पर्याप्त हो सकते हैं। लेकिन सहकारी जीवन में प्रवेश के लिए इन व्यक्तिगत साधनों को एक अधिक व्याप्त और साझे जीवन की पूर्ति के लिए अर्पित करना होता है। स्पष्ट है कि ये अनगिनत साधन व्यक्ति-विशेष की अनूठी क्षमताओं और सामाजिक वातावरण में विशेष लक्षणों के परिप्रेक्ष्य में बदलते रहते हैं। वस्तुतया, मनुष्य की गतिविधियों की विभिन्नता सामाजिक जीवन में सहयोगी विभिन्न श्रेणियों में विभाजित हो जाती है। इन सामान्य शीर्षकों के अंतर्गत व्यावसायिक विशेषताएं पदार्पण करती हैं। हम पाते हैं कि मानव जीवन में ये गतिविधियां जिस क्रम में होती हैं, वह यह है :

1. निर्भरता का जीवन : अन्य लोगों के प्रयास के भागी, बिना स्वयं को जाने पहचाने।

2. स्वावलंबिक जीवन : अपने प्रयास से, स्वचेतना और परिभाषित निजीपन के साथ।

3. सहयोगी जीवन : अपने प्रयत्नों को दूसरों के लिए जुटाकर, एक व्यापक स्वयं की चेतना और सार्वजनिक स्वयं की परिभाषा के साथ ।

या, ऊर्जा-व्यय के आधार पर :

1. निर्भरता का जीवन

लाभकारी जीवन : आम साधनों की सहायता से जीवनयापन। भिक्षा से जीवनयापन।

लूट खसोट का जीवन : हिंसा से जीवनयापन। चालबाजी से जीवनयापन।

2. विनिमय का जीवन : आर्थिक जीवन; राजनैतिक जीवन; सांस्कृतिक जीवन।

3. सहयोगी जीवन

अमूमन लोग संपूर्ण समाज की सीमा में ही जीते हैं। जब किसी को यह अनुभव होता है कि समाज में किसी अवयव की कमी है, यह कमी समाज के लिए समस्याकारक है और फिर वह उस कमी को पूरा करने के लिए काम करता है, तो प्रत्यक्ष है कि लोकजन उसका स्वागत करते हैं। उदाहरण के तौर पर अगर कोई नया आविष्कार करता है या बाजार में नया माल लाता है, तो लोग उसका स्वागत भी करते हैं और खुशी खुशी इस्तेमाल भी। जब काफी लाभ की उम्मीद हो तो कोई नया उद्योग स्थापित करके उससे जीविका कमाएगा। लोगों से अलग अलग संपर्क करने के बजाय, वह लोगों में विज्ञापन करेगा और आशा करेगा कि वे उचित मूल्य देंगे। यह दूसरे वर्ग का एक आम उदाहरण है और इसको विनिमय के जीवन की संज्ञा दी जा सकती

है। इसके विपरीत पहला वर्ग (निर्भरता) और तीसरा वर्ग (सहकारी सहयोगी) अचेतन विनिमय के जीवन हैं। पहले वर्ग में, पाने की चेतना तो होती है लेकिन बदले में कुछ देने की भावना नहीं। तीसरे वर्ग में, समाज को कुछ देने की चिंता सर्वोपरि होती है लेकिन बदले में किसी प्रतिफल की अपेक्षा नहीं होती। सहयोगी जीवनयापन करता हुआ व्यक्ति संपूर्ण समाज की संपन्नता और सुख के लिए प्रयत्न करता है, प्रतिफल की चेतन अपेक्षा के बिना। इस तरह वे लोग जो स्वयं अपने जीवन पर ध्यान दिए बिना समाज में योगदान देते हैं उन्हें समाज में इज्जत मिलती है। चाहे उन्हें उसके लिए अनुकूल वित्त साधन का योग न मिले। लेकिन किसी न किसी रूप में उन्हें अपने प्रयत्नों का प्रतिफल मिलता है जो दुनिया में उनका अस्तित्व बने रहने का आश्वासन देता है।

सार यह है कि इस पूरे वर्गीकरण के दो अंश हैं : सांसारिकता का सांसारिक से विनिमय और सांसारिक का आध्यात्मिकता से विनिमय। क्योंकि समाज का हर अवयव आकाशीय और सांसारिक रूप में एक-दूसरे से जुड़ा हुआ है, इसलिए एक अवयव दूसरों से अलग नितांत एकाकीपन में रह भी नहीं सकता - यानी, बिना किसी आदान-प्रदान के। इसलिए समाज में व्यवहार के अलग अलग रूप इस तरह देखे जाते हैं : भौतिक और भौतिक का विनिमय, भौतिक और अभौतिक का विनिमय और अभौतिक और अभौतिक का विनिमय। इन्हें चेतन विनिमय और अचेतन विनिमय या फिर प्रत्यक्ष विनिमय और अप्रत्यक्ष विनिमय के प्रकार में देखा जा सकता है।

अपनी मां की छाती से चिपके हुए उस छोटे-से शिशु का उदाहरण लेते हैं जिसके पास विकास के अलावा और कोई शक्ति नहीं है। वह नन्हीं-सी जान भी मां-बाप के बीच प्रेम बढ़ाने का कारण बन सकती है और इस तरह पारिवारिक रहन-सहन और संपन्नता में सहयोग देती है। इसलिए, एक नन्हें शिशु के जीवन को भी पूरी तौर पर सहारे पर निर्भर जीवन नहीं कहा जा सकता।

इन विचारों के चलते ऐसा आभास होता है कि उपर्युक्त वर्गीकरण विशिष्टता या श्रम-विभाजन को कम बल्कि सहयोग की किस्मों को ज्यादा दर्शाता है। दूसरे शब्दों में, अगर श्रम-विभाजन समाज का स्थिर वर्गीकरण है तो सहयोग की इन किस्मों को विकासशील वर्गीकरण की संज्ञा दी जा सकती है।

अगर हम पहले उपर्युक्त अवयवों को साथ साथ ऐसे मिलाएं कि सहयोग की किस्मों को सामाजिक विनिमय के स्वरूप में देखें, और फिर उस स्वरूप को अपने स्वयं को पा लेने की खोज के संदर्भ में देखें, तब मानव-व्यवहार का निम्नलिखित वर्गीकरण उभरता है :

1. असामाजिक पारस्परिक क्रिया	अंध-जीवन, पराश्रयी और स्व-चेतना के बिना

2. सामाजिकाभासी पारस्परिक क्रिया	धुंधला जीवन, स्वतंत्र और आंशिक चेतनामय व्यक्तित्व
3. पूर्ण सामाजिक पारस्परिक क्रिया	ज्ञानोदित जीवन, संपूर्ण स्वचेतनामय, अग्रणी या सहयोगी के स्वरूप।

वातावरण के सापेक्ष जीवन के रूप

हमें अब तक यह अहसास हो जाना चाहिए कि काफी हद तक मानव जीवन लोगों और उनके वातावरण के बीच चेतन शारीरिकता एवं मानसिकता की पारस्परिक क्रिया का ही नाम है। इसलिए यह उपयोगी रहेगा कि जीवन को हम गतिविधियों के चार विलग धरातलों में विभाजित कर लें :

गतिविधि का धरातल	*संबंध*	*संचालन विधान*
1. प्रकृति	आश्रय	भौतिक-विधान
	सुसंगति, द्वंद्व, विजय	
2. व्यक्ति	द्वंद्व, सहयोग	मनोवैज्ञानिक सिद्धांत,
	सामाजिक विधान	
	(सरकारी एवं निजी),	राजनीति, अर्थ
3. समाज	सहयोग	आचार-शास्त्र, नैतिकता,
		सामाजिक रीति-रिवाज
4. विश्व	कारण और प्रभाव	कारणात्मक विज्ञान,

प्रकृति की तरफ हमारा पहला रवैया यह समझने का होना चाहिए कि हम प्राकृतिक जीव हैं और भौतिक विधान से संचालित हैं। लेकिन क्या हम केवल 'प्राकृतिक मार्ग' पर ही चलते हैं ? या हमारा रवैया यह होता है कि हम प्रकृति पर विजय पाएं। एक तीसरी संभावना है : संतुलन एवं प्रकृति की सुसंगति के साथ, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लाभ उठाने की। एक हद तक हम प्रकृति को पालतू भी बना सकते हैं, सभी लाभों से लाभान्वित और विजय की कठिनाइयों से अप्रभावित। वातावरण और अपने बीच एक शांत, बौद्धिक पारस्परिक क्रिया प्रकृति से इस संबंध का गुर है।

अपनी बराबरी के लोगों से संबंध में हम अहसास और भावनाओं को उजागर करते हैं। लेकिन हम और ये संबंध वस्तुपरक भी हैं, इसलिए हम अपने लिए एक विशेष मगर संबद्ध स्थान या पहचान भी बनाना चाहते हैं। इसके लिए जरूरत है स्वेच्छा से अपने स्वयं का स्वामी होने की। अपने बारे में मनन से हम उन सिद्धांतों तक पहुंचते हैं जिनसे हमारा अस्तित्व संचालित है। अपने कर्मों का इन सिद्धांतों से तालमेल करके हम एक ऐसा जीवन बना सकते हैं जिसमें दूसरों के साथ सहानुभूतिपूर्ण सहभागिता हो। अन्य व्यक्ति एवं स्वयं हम भी इस स्थिति में सुरक्षा से उच्च ध्येयों के प्रति अंधे हैं लेकिन फिर भी कुछ समरूपताएं मिलती हैं। न्यायपूर्ण

रुख, विनिमय मूल्य, स्वलाभ और पर लाभ - यानी हमारी राजनीतिक और आर्थिक जीविका के आधार पारस्परिक रूप में व्याप्त होते हैं।

जब हम अपने आप को ऐसे समाज के हिस्से के रूप में देखते हैं जो सदस्यों के योग-मात्र से अधिक विशाल है और जब अपने जीवन को इस विशाल एकता से जोड़ते हैं, तो हम आचार-संहिता के समक्ष होते हैं। अब से सामूहिक सामाजिक रीति-रिवाजों के प्रति हमारा रवैया या तो चेतन को चुनौती देने या मानने का होना चाहिए।

जब जीवन-मृत्यु को लेकर मूलभूत प्रश्नों से हम आमुख होते हैं, तब ज्ञान-सीमाओं से परे विशाल ब्रह्मांड के सामने हम बहुत छोटे हो जाते हैं। सृष्टि की संपूर्णता में सब असहाय कण-मात्र हैं, वे चाहे संत हों, विद्वान हों, हमारे आदर्श नायक हों या हमारी सृजक-क्षमताएं हों। हालांकि वस्तुतया हम अपने सामाजिक अस्तित्व को इस चेतना के अंतर्गत देख सकते हैं, मगर इस मापक में अपने सूक्ष्म जीवन को आंकने के लिए हमें धर्म के सहारे की आवश्यकता पड़ेगी। इस तरह हम धर्म और नैतिकता के संबंध सूत्र को पा सकते हैं।

काल के सापेक्ष जीवन के रूप

अंततः हमें मानव जीवन के रूपों और काल के बीच संबंधों को समझने का प्रयास करना चाहिए। हमारा अस्तित्व वर्तमान में है, यानी समय के एक बिंदु में और यहीं से हम अतीत का पुनर्वालोकन और आशान्वित होकर भविष्य के लिए तैयारी कर सकते हैं। कुछ लोग वर्तमान का उपयोग भविष्य के लिए तैयारी के धरातल के रूप में करते हैं। कुछ अन्य केवल अतीत के बारे में ही विचार करते हैं और वर्तमान को अतीत का प्रभाव-मात्र मानते हैं। इसके अलावा कुछ लोग आज के पल की गतिविधियों में इतने डूब जाते हैं कि वे न अतीत का ध्यान करते हैं न भविष्य का। ऐसे व्यक्ति संपूर्णता सिर्फ एक पल में जीते हैं। घटनाओं के बेतरतीब धारा में डूबे हुए, स्थानों, वस्तुओं और घटनाओं के उतार-चढ़ाव को देखते हुए, इन लोगों के पास वह अंतराल है ही नहीं जिसमें आगे या पीछे देखा जा सके।

वह अनासक्ति जिसमें हम काल का एक संतुलित परिप्रेक्ष्य पा सकते हैं, केवल समय के साथ ही आती है। इस बात को अगर हम उम्र बढ़ने के दृष्टिकोण से देखें तो ज्यादा अच्छी तरह समझ में आती है। शिशु-अवस्था में हमारा पूरा ध्यान वर्तमान या तात्कालिक अतीत में जुटा होता है। हम अपने आसपास के हालात में इतने डूबे होते हैं कि हमारे लिए भविष्य का अस्तित्व ही नहीं होता। युवावस्था में, आदर्शों और आशाओं का बोलबाला होता है, लेकिन बुनियादें खोखली। हमें होश भी नहीं होता कि इस पल में हमारे पैर कहां पड़ रहे हैं, और हम लड़खड़ा जाते हैं। दूसरी ओर वृद्धावस्था में भविष्य को लेकर हमारी भौतिक इच्छाएं लुप्त होने लगती हैं। विचार संस्कृति का रूप लेने लगते हैं। हमारी बुद्धि होने लगती है

और हम दिन-ब-दिन रूढ़िवादी होते जाते हैं।

इन तीन प्रकार की गतिविधियों का अवलोकन किसी भी व्यक्ति के जीवन-काल में किया जा सकता है। इसके अलावा, व्यक्ति विशेष की जन्मसिद्ध परिस्थितियों और सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन की पारस्परिक क्रियाओं के कारण, जीवन के प्रति आशावादी या निराशावादी रुझान पनपते हैं। इस प्रकार, काल के संदर्भ में, जीवन के छह स्वरूप पहचाने जा सकते हैं :

1. वर्तमान में तात्कालिक उत्तेजन एवं प्रतिक्रिया की क्रिया
   (क) आशावादी (ख) निराशावादी
2. भविष्य के लिए प्रत्याशी एवं उपक्रमात्मक गतिविधि
   (क) आशावादी (ख) निराशावादी
3. अतीत के प्रति विचारशील एवं संकलन गतिविधि
   (क) आशावादी (ख) निराशावादी

शिक्षा को बच्चों में जीवन के प्रति सकारात्मक एवं आशावादी दृष्टिकोण और अतीत, वर्तमान एवं भविष्य से संतुलित एवं प्रभावकारी संबंध पैदा करने में योगदान देना चाहिए।

शैक्षिक लक्ष्य और सृजनात्मकता

अभी तक मैंने यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि शैक्षिक-लक्ष्य का उचित अभिरूप विद्यार्थी में मूल्य-सृजन की क्षमता जगाना है। दूसरे अध्याय में मैं मूल्य के प्रश्न पर सूक्ष्मरूप में विचार करूंगा। लेकिन अभी सृजन के लक्षणों की परिभाषा और विवेचना अधूरी है।

पहली बात हमें यह समझ लेनी चाहिए कि सृजनशीलता मानव-शिक्षा की एक अनूठी विशेषता है। अन्य जानवर अपने मां-बाप से सीख पाते हैं और अपने हुनर में मानव से अधिक चतुर हो सकते हैं, लेकिन उनका व्यवहार स्वाभाविक ही रहेगा और पीढ़ी दर पीढ़ी उनके ढर्रे में कोई अंतर नहीं आता। जानवरों के व्यवहार में बदलाव शारीरिक रूप में अंगीकार होते हैं। असल में, क्रम विकास से इच्छा भी यही है। मानव-शिक्षा शारीरिक स्वरूप की अथवा 'जीन' द्वारा संचालित सूचना की संरचना नहीं करती। एक पीढ़ी जो कुछ सीखती है वह, सिवाय शिक्षा के माध्यम के, दूसरी पीढ़ी तक संचालित नहीं होती। ये मानव-शिक्षा की खुली हुई और अप्रायोजित प्रकृति ही है जिसके कारण मानव में सृजनात्मकता पाई जाती है।

मनुष्य प्रकृति में व्याप्त शक्ति की प्रमात्राओं और पदार्थों को बढ़ा घटा नहीं सकता। लेकिन वह उनको नियंत्रित करके अपने लिए मूल्य वाली वस्तुएं बना सकता है। उसे मौलिकता की संज्ञा दें या खोज की, हममें रूपांतर करने की शक्ति है, प्रकृति के उपहारों को मानवता के लाभ की ओर दिशान्वित करने की क्षमता है।

वह हमारा हमारे जीवन के प्रति स्थापित या मान्य लक्ष्य ही है जो हमें इस दिशा में प्रेरित करता है। विद्यार्थियों की मूल्य-सृजन की क्षमताओं को समाज की और स्वयं अपनी संपन्नता की ओर अग्रसर करना शिक्षा का लक्ष्य है। इसे पाने के लिए शिक्षा-प्रयासों को तीन विधियों के परिसर में विभाजित करना होगा : मूल्य-विकास, लाभ और सुंदरता। इनमें से हरेक संपूर्ण मानव व्यक्तित्व का केवल एक पहलू है और अपने आप में अधूरा है। मानव व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास के लिए, त्रिमुखी शिक्षा आवश्यक है।

शिक्षा में लक्ष्य का विकास

दुनिया में हर जगह लोग अपने एक ज्ञानोदय के दौर से गुजरते हैं जब उन्हें शिक्षा की आवश्यकता अनुभव होती है, वह चाहे कितनी भी धुंधली क्यों न हो। वे शिक्षा देना शुरू करते हैं और इस प्रक्रिया में शिक्षा-विधि सीखते हैं। धुंधलके में लिपटी शिक्षा की आवश्यकताओं की छवि, समाज में शिक्षा की भूमिका के संदर्भ में पैनी होती जाती है। साधन और साध्य की जानकारी शिक्षार्थियों की संख्या बढ़ने के साथ साथ पनपती है। विस्तार से और विस्तार पैदा होता है और अपने साथ सार और विधि का विकास एकाकीकरण लेकर आता है।

शिक्षा के लक्ष्य के ऐतिहासिक विकास में दो अलग अलग धाराएं दिखाई देती हैं। एक धारा तो हुनर और मानव-चरित्र के विभिन्न अंशों से संबद्ध विभिन्न शाखाओं के अध्ययन पर से ध्यान बंटाकर पूरे व्यक्तित्व को संवारने की दिशा में बढ़ता है। इसका अर्थ यह नहीं कि तीन 'आर्‌ज' (अंकगणित, लिखना, पढ़ना) की शिक्षा नहीं देनी चाहिए। स्पष्ट है कि मां-बाप और शिक्षकों की कल्पना का आदर्श व्यक्ति इन मौलिक कौशलों को आवश्यक और मूल्यवान पाएगा। यहां मुद्दा यह है कि संपूर्ण व्यक्ति की संरचना के लिए क्या महत्वपूर्ण है, न कि वे अवयव जिनका गठन करना है। यहां दिशा वही रहती है, यानी व्यक्ति-विशेष से परे, व्यक्ति की आसपास के वातावरण से और अंततः पूरे समाज से संबद्धता की प्रक्रिया। इसी तरह, हम पाते हैं कि शिक्षा कुछ विशेष समूहों और वर्गों की सीमाओं से निकलकर, सब व्यक्तियों तक पहुंचने लगती है।

दूसरी धारा इस मान्यता की ओर बहती है कि मानव अपने प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण के साथ सहअस्तिव में रह सके। इस तरह तीन ऐतिहासिक कालों को पहचाना जा सकता है :

1. लोगों को उनके सामाजिक वर्ग के अनुसार कौशल सिखाने के लिए विशिष्टता - केंद्रित शिक्षा का काल। कुलीन परिवारों में उनके पद से अपेक्षित नैतिक और साहित्यिक निपुणताएं सिखाई जाती थीं, योद्धाओं को दुर्बल-रक्षा और युद्ध-संबंधी

कौशल, व्यापारियों को व्यावसायिक और हिसाब-किताब करने का प्रशिक्षण दिया जाता था।

2. व्यक्ति के चहुंमुखी विकास के लिए सब वर्गों में सामान्य शिक्षा का काल। इस अवस्था में, शिक्षा को व्यक्ति-विशेष के अपने लाभ के साधन के रूप में देखा जाता है। व्यक्तिगत अस्तित्व सर्वोपरि है और सामाजिक जीवन की महत्ता और आवश्यकताओं का मान कम। आम लोगों की धारणा यह होती है कि राजनैतिक प्रतिक्रिया समाज के नेताओं के स्वार्थलाभ के लिए इस्तेमाल होती है। इसलिए वे अपनी असीम स्वतंत्रताओं की 'व्यवस्था' का विरोध करते हैं।

3. समाज के विशाल शरीर और प्राण की संरचना में व्यक्तियों को अवयव समझने की चेतन मान्यता का काल। पूरे समाज की संपन्नता की छवि को सर्वश्रेष्ठ मानने की भावना होती है। जब समाज के सदस्य इस अवस्था को चरितार्थ कर लेते हैं, तो उसके नायक और नेता जन-साधारण को अपने स्वार्थी साध्य का साधन-मात्र ही नहीं समझते और समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए सहयोगपूर्ण प्रयत्न करते हैं।

जब हम जापान में अपने अनुभवों का इन ऐतिहासिक धाराओं के सापेक्ष विश्लेषण करते हैं तो हम देखते हैं कि शिक्षा में उलटी गंगा बही है - वह राजनीतिक नियंत्रण और प्रभाव के इशारे पर एक वर्ग से दूसरे वर्ग की ओर फैली है। भौतिक-संपन्नता के आर्थिक आधार पहले सिर्फ कुलीन परिवारों की जागीर हुआ करते थे। राजा-रजवाड़ों और योद्धा वर्गों में से गुजरते हुए, वे आधार और व्यापक हुए और अंततः जन-साधारण तक पहुंचे। जब तक शिक्षा सामान्य वर्गों तक पहुंची, सामाजिक व्यवस्था में दरारें पड़ने लगीं। इसी तरह केवल सामाजिक नैतिकता के प्रचलन को महत्ता देने की सीमाएं टूटने लगीं। इसकी जगह शिक्षा का समतावादी प्रतिरूप सामने आया। जीवनयापन और आधुनिकीकरण से जूझने के लिए ज्ञान और निपुणता का व्यापक प्रचार। मेजी-काल (1868-1912) से ताइशो-काल (1912-1927) के बदलाव-काल में स्पष्ट रूप से उपयोगिता को ही शिक्षा का लक्ष्य माना गया। सांस्कृतिक चिंतन और उद्देश्य तो लोकतांत्रिक विकास के मार्ग की तरह अब भी दूर की बातें थीं।

आज जापान में बराबरी की होड़ और फैशन लोगों के जीवन के मुख्य प्रेरणा स्रोत हैं। यह बंदरनुमा नकल अब भी कई लोगों के लिए शिक्षार्जन की सबसे प्रबल प्रेरणा है। यानी जहां तक शैक्षिक लक्ष्य के ऐतिहासिक विकास का सवाल है, जापान अब भी दूसरे चरण में है। हमारे सामने सवाल यह है कि क्या जापानी शिक्षा सार्वभौमिक और सामाजिक दिशा पाकर, तीसरे चरण में प्रवेश कर सकती है ? बहरहाल अब से संपूर्ण शिक्षा का उद्देश्य ही हमारे लिए नियत कार्य और चुनौती है।

2. मूल्य के बुनियादी तथ्य

मूल्य के प्रश्न का जवाब खोजते समय पहली समस्या यह आएगी कि हम मूल्य की प्रकृति को सत्य की बनिस्पत जानें। इसलिए पहले इसका परिकाल्पिक स्पष्टीकरण कर लें। इस मुद्दे का भी एक इतिहास है। ऐसे अनेक दार्शनिक हैं जो सत्य को सैद्धांतिक मूल्य की एक किस्म मानते हैं या सतत 'सत्य-हित-सुंदरता' का एक तत्व मानते हैं। उसी पर उनकी मूल्य प्रणाली आधारित है। लेकिन, यह हमें मूल प्रश्न से भटकाकर मूल्य या सत्य को परखने में अड़चन डालता है।

ज्ञान और मूल्यांकन की विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के तथ्यपरक परीक्षण से पता चलेगा कि वास्तव में सत्य और मूल्य किस कदर भिन्न हैं। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि दर्शनशास्त्र में मान्य 'सत्य-हित-सुंदरता' के स्वयंसिद्ध क्रम को ध्वस्त किया जाए। ऐसा करने से ही अधिक अच्छे स्पष्टीकरण की रूपरेखा को बनाया जाना संभव होगा।

आइए, हम ऐसा मूल्यांकन विज्ञान बनाने की संभावना पर विचार करें जिससे मूल्यों को समझने और परखने के मानक मिल सकें, ठीक उसी तरह जिस तरह तर्कशास्त्र के वैचारिक ढांचे से हमें सत्य पहचानने के नियम मिलते हैं।

मूल्य एवं शिक्षा

समाजशास्त्र की शाखाओं के रूप में शैक्षिक सिद्धांतों और अर्थशास्त्र दोनों ही का ध्येय मूल्य का अध्ययन है। शिक्षा के क्षेत्र में मूल्य का प्रश्न अधिक पेचीदा है। मैं इस प्रश्न से वर्षों जूझा हूं लेकिन मैं अब भी दावे के साथ यह नहीं कह सकता कि मुझे इसका कोई निश्चित उत्तर मिल गया है। दूसरी ओर, इन मुद्दों को एकदम सुलझाने की सख्त जरूरत है। इसलिए मुझे लगता है कि जो भी कुछ मैं खोज पाया हूं, उसे प्रस्तुत करना चाहिए।

कोई पूछ सकता है कि मैं मूल्य पर ही अपना ध्यान क्यों केंद्रित कर रहा हूं और इस कठिन समस्या से इतनी हठधर्मी से क्यों जूझ रहा हूं ? मेरा मानना है कि अगर हमें शिक्षा को सार्थक या शिक्षा प्रणाली को मानवोचित बनाना है, तो यह प्रयास जरूरी है। मानव जीवन मूल्य सृजन की एक प्रक्रिया ही है, और शिक्षा

हमें इस ध्येय तक पहुंचने में मार्गदर्शन करती है। यानी शैक्षिक पद्धति का काम मूल्य सृजन को प्रोत्साहन देना है। यह एक बहुत ही गहन मुद्दा है। सामाजिक संदर्भ में हम इस पर जितना अधिक चिंतन करेंगे, मूल्य का सैद्धांतिक स्पष्टीकरण उतना ही सार्थक होगा।

मूल्य सृजन से मानवीय आनबान उभरती है। एक विद्धान का तो यहां तक कहना है कि मूल्य सृजन ही सर्वोच्च प्रकार की मानवीय प्रक्रिया है। मानवता के प्रांगण में, जीवन की अनंत मांगों को पूरा करने के लिए मूल्य सृजन की दिशा में हर किसी को अपनी अपनी भूमिका निभानी पड़ती है। इस बुनियादी मानवीय संभावना को पूरा करने में शिक्षा बहुत कुछ कर सकती है। अपनी पिछली गलतियों पर पछतावा करने की कोई जरूरत नहीं है, बल्कि शिक्षकों को अपने प्रयास और बढ़ा देने चाहिए। ताकि शिक्षा जीवंत हो उठे और लोगों को मूल्य सृजन में जोड़ने का निमंत्रण दे। लेकिन सवाल इस बात का है कि शिक्षक स्वयं किस तरह मूल्य सृजन की समस्या से संबद्ध होते हैं ?

यह बात तो एकदम स्पष्ट होनी चाहिए : हमें जैसी शिक्षा मिलती है, हम वैसे ही बन जाते हैं, वह भले के लिए हो या बुरे के लिए। इसलिए तर्कसंगत यही है कि हम शिक्षा भले के लिए ही चुनें। यह तो हमने देखा ही है कि चेतना के विभिन्न स्तरों पर, हम सभी सुख तुष्टि और आत्म-बोध की खोज में जीते हैं और शिक्षा का भी लक्ष्य यही है। अपनी पूरी क्षमता को अंगीकार कर पाना ही मूल्यों को प्राप्त एवं कार्यान्वित करना है। शिक्षा का आशय भी मूल्य-सृजक के रूप में जीवनयापन करना होता है।

मूल्य का महत्व केवल दार्शनिक अटकलों पर आकर खत्म नहीं हो जाना चाहिए क्योंकि इस विषय पर चिंतन शिक्षा की दिशा तय करने के सिद्धांत का आधार भी है। सच्ची शिक्षा वही है जो लोगों की जीवन प्रणाली से संबद्ध हो। आज तक ऐसा न करने से, शिक्षा अप्रासंगिक और निष्प्रभावी बन कर रह गई है। मूल्य वास्तविक जीवन का चिंतन है, और वास्तविक जीवन पर लागू होता है। शिक्षकों को इस बात का अहसास पैदा करना चाहिए कि हमारे जीवन और शिक्षार्जन दोनों के लिए मूल्य कितने महत्वपूर्ण हैं।

ज्ञान एवं मूल्यांकन

सत्य और मूल्य

मूल्य के सिद्धांत को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम पहले इसे उन सिद्धातों से अलग करना होगा, जो इसकी श्रेणी में नहीं हैं। यहां सत्य और मूल्य को एक दूसरे से अलग पहचानना बहुत जरूरी है, ताकि इन दोनों के संबंध को ठीक से

समझा जाए। सत्य को जानने के लिए हमें कुछ व्यापक अथवा सार्वभौमिक लक्षणों को अन्य अनगिनत वस्तुओं से अलग करके देखना होगा। लेकिन मूल्य को समझने के लिए हम उस खास या अनूठे लक्षण को जानने का प्रयास करेंगे जिसके कारण हमारे निजी जीवन व सामुदायिक जीवन के संदर्भ में, कुछ चीजें दूसरी चीजों से भिन्न होती हैं। इस तरह वस्तु जैसी है उसकी वैसी ही अभिव्यक्ति सत्य अथवा तथ्य मानी जाती है, जबकि उस वस्तु और उससे स्वयं का संबंध मूल्य है। सत्य केवल एक सिद्धांत है - किन्हीं वस्तुओं के आपसी संबंध या किसी वस्तु की वास्तविक परिकल्पना। दूसरी ओर, मूल्य एक भावात्मक संबंध है जो किसी वस्तु को मानव जीवन में सम्मिलित करता है। मूल्य मूल्यांकन करने वाले के जीवन में वस्तु के औचित्य का मापदंड है। इसके विपरीत सत्य उस वस्तु में निहित गुणों के समरूप है।

जिन चीजों से मनुष्य का कोई लेना-देना नहीं होता, उन पर वह ध्यान भी नहीं देता। वह तो शायद उनके अस्तित्व से भी अनभिज्ञ होता है। केवल वे चीजें जो हम पर कोई प्रभाव छोड़ती हैं, वही हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं और व्यक्तिगत रूप से निकट आती हैं। हमारे जीवन के लिए जो चीजें जितनी अधिक आवश्यक होती हैं, उन्हें अनदेखा करना उतना ही मुश्किल होता है।

यह बात जंगली और पालतू जानवरों के अंतर में खूब झलकती है - एक ऐसा अंतर जिसमें मानवीय तत्व की उपस्थिति या अनुपस्थिति एक अहम भूमिका निभाती है। पहले तो मनुष्य ने जंगली जानवरों को खुद के लिए अनावश्यक समझकर छोड़ दिया था। फिर उसने जानवरों को नियंत्रित कर पाने की संभावना देखी, और उनके व्यवहार में अनुकूलता भी। जहां कहीं वे उपयोगी लगे, मनुष्य ने उन्हें पालतू बनाने की युक्ति की। जानवरों को घरेलू बनाने के प्रयोग उनके लिए लाभप्रद सिद्ध हुए, इसलिए इसका चलन बढ़ता चला गया। तब से जानवरों और मनुष्यों की जीवंत पारस्परिक निर्भरता ने हमारी चेतना को जिस गहराई तक छुआ है और सुसभ्य बनाया है, वह उस मूल्य का सबूत है जो हम जानवरों से अपने रिश्तों को देते हैं। स्पष्ट है कि मनुष्य और जानवरों के संबंधों को काफी मूल्यवान समझा गया है।

दूसरी ओर, किसी भी चीज को उसके यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करने वाले सत्य की धारणा असंख्य बातों पर निर्भर करती है। यहां हम वास्तविकता को बिना भावात्मकता के देखते हैं। चाहे मनुष्य के जीवन पर कुछ भी असर पड़े, सत्य सत्य ही रहेगा। जबकि मूल्य के सिद्धांतों को उस वास्तविकता से जोड़े बगैर जिसे हम जीते हैं नहीं देखा जा सकता।

इस सबके साथ ज्ञान मीमांसा के विशेष अध्ययन का अनुक्रम भी जुड़ा हुआ है। अपने सबसे मौलिक रूप में वास्तविकता हमारी संवेदी इंद्रियों से संकेत पाकर शुरू होती हैं, जो पहले छवियों और फिर धारणाओं के रूप में उभरती हैं। लेकिन बोध का प्रभाव केवल एंद्रिय उत्तेजना पर ही समाप्त नहीं हो जाता। कोई भी बौद्धिक

सूचना व्यक्ति के जीवन में अंतर या बदलाव लाने की शक्ति रखती है, उस ऊर्जा से बहुत अधिक जो उसके शुरू करने में व्यय हुई थी। कोई भी जीव स्थिरता की स्थिति से बदलाव की चुनौती को या तो स्वीकार करता है या नकारता है; इसी के चलते हमें प्रसन्नता या अप्रसन्नता का अनुभव होता है। बोधात्मक वस्तुओं को स्वयं से जोड़ने वाली इस व्यक्तिपरक प्रक्रिया के आधार पर जो स्तर हम बनाते हैं उसे सामाजिक सहमति से मूल्य कहा जाता है। और इन बोधात्मक वस्तुओं के सबसे अधिक सतत और व्याप्त लक्षणों के आधार पर जो विचार बनें, उन्हें सत्य कहा जाता है।

सत्य का अर्थ होता है : बोधात्मक सूचनाओं के वस्तुपरक विश्लेषण से निथारे हुए समरूप लक्षण। मूल्य से मुराद है उस व्यक्तिपरक प्रतिक्रिया की जो बोधात्मक सूचनाओं के हम पर पड़े प्रभाव की तीव्रता या गहनता के चलते होती है। सत्य का बोध केवल 'हां' या 'न' के दायरे में होता है। यह सत्य है, और वह असत्य, इसके बीच कोई विकल्प नहीं है। दूसरी ओर मूल्य-निर्धारण तुलनात्मक है। हमें अपनी दृष्टि में यह सही लगता है और वह गलत, बिना किसी दावे के कि वास्तव में सत्य है क्या ? सत्य किसी व्यक्ति या समय के साथ बदलता नहीं है जबकि मूल्यों को व्यक्तियों से अलग नहीं किया जा सकता।

मानवीय संदर्भ में यह अंतर बहुत विशाल है। सत्य पैदा नहीं किया जा सकता। हम केवल वही उजागर कर सकते हैं जो प्रकृति में निहित है। इसके विपरीत, हम मूल्यों का सृजन कर सकते हैं। बल्कि मूल्य केवल बनाने से बनते हैं। सब प्राकृतिक पदार्थों का उपयोग उनके मौलिक रूप में शुरू हुआ, उनके मूल्यों में बिना किसी बढ़त के। लेकिन जैसे जैसे सदियां बीतती गईं, मानवता के अनुभव, आविष्कार करने की क्षमता और प्रयास के फलस्वरूप सुधार आए और साथ साथ वस्तुओं की उपयोगिता भी बढ़ी। प्रगति के इसी मार्ग पर चलते चलते हम वर्तमान तक पहुंचे हैं।

जब हम सृजन की बात करते हैं, तो हम एक प्रक्रिया को उजागर करने का उल्लेख करते हैं । प्रकृति में विद्यमान तत्वों का मानव जीवन पर प्रभाव, इन रचनाओं का मूल्यांकन, और मानव-प्रयासों से इनकी उपयोगिता में बढ़त दूसरे शब्दों में सृजन प्रकृति में निहित क्रम को एक ऐसे क्रम में बदलता है जो मानवता के लिए विशेष रूप से लाभकारी है। इसलिए यह सुनिश्चित है कि सृजन केवल मूल्य पर लागू होता है सत्य पर नहीं क्योंकि सत्य का दायरा आविष्कार पर ही समाप्त हो जाता है।

हमारे बड़े-बूढ़ों और पुरखों की मान्यताओं को हमारी अंधश्रद्धा सच नहीं बना देती। वैसे कभी कभी ऐसा भी होता है कि हम केवल मूल्य की ही खोज करें। उन चीजों को उजागर करना जिन पर पहले ध्यान नहीं दिया गया है - यह एक

खोज का कार्य है न कि सृजन का। लेकिन जब कोई आज तक असंबद्ध चीजों को ऐसे जोड़ता है कि मानवता के लिए लाभ नजर आए, या पुरानी खोजों पर उपयोगिता बढ़ाने का काम करता है, तो उसे आविष्कार, उत्पत्ति या सृजन कहा जाता है।

इस संक्षिप्त प्रेक्षण से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्य को मूल्य और मूल्य को सत्य के परे देखना चाहिए। हमारे बड़े-बूढ़ों और पुरखों की मान्यताओं के प्रति हमारी अंधश्रद्धा उन्हें सत्य नहीं बना देती। सत्य का मतलब यह भी नहीं है कि हम साहित्य में से अपनी पसंद के सिद्धांत का चयन कर लें, यह समझ कर कि हर चीज में कुछ न कुछ सही होता ही है। हम कैमरे के लिए लैंस का चयन थोड़े ही कर रहे हैं। लेकिन हमें किसी एक मूल्य-शृंखला को इसलिए भी अमान्य करार नहीं दे देना चाहिए क्योंकि वह किसी और मूल्य-शृंखला का विरोध करती है। मूल्य की धारणाएं एक दूसरे से अलग ही हों या सही और गलत हों, यह जरूरी नहीं है। कुछ हद तक मूल्यों का सह-अस्तित्व संभव है, लेकिन सत्य एकदम एकाकी होता है।

सत्य के लिए सबूत जरूरी है। भले ही उसके बारे में स्पष्टीकरण कितना भी अर्थपूर्ण क्यों न हो, सबूत के बिना सत्यता पर प्रश्नचिह्न लगा रहता है। यही नहीं, किसी भी प्रस्ताव की सचाई केवल बुद्धिसंगत और सावधानीपूर्ण विचार से ही पता लगाई जा सकती है, उसके प्रति हमारी भावना से नहीं। यथातथ्य अध्ययन के लिए आवश्यकता है एक औचित्य-मर्यादा बनाए रखने की - भावावेश, पसंद नापसंद से परे, अन्यथा विषय की सुसंगता ही समाप्त हो जाएगी। हम स्वयं अपने भावात्मक विश्व के बंदी हैं। भावनाएं इस मूल्यांकन के अलावा कुछ भी नहीं करतीं कि इस बंदी रूप में हमारी अन्य चीजों से पारस्परिक क्रिया कैसी है। इसलिए सत्य को मूल्यांकन के माध्यम से आंकने में कोई लाभ नहीं है, यह तो प्रयत्नों को बेकार करने वाली बात है। यह बात अगर हम भूलते हैं तो संकट को बुलावा देते हैं।

एक उदाहरण लेते हैं, मान लीजिए भूकंप या आग लगने की एक खबर है। इस स्थिति से जिन लोगों की हानि होने की संभावना है पहले वे ये जानना चाहेंगे कि तथ्य क्या है : ऐसा हुआ या नहीं ? अगर ऐसा हुआ तो खबर सच्ची थी, नहीं तो झूठी। इसमें अच्छे या बुरे का निर्णय करने की कोई गुंजाइश नहीं है। इसकी सौंदर्य-मीमांसा की भी कोई आवश्यकता नहीं है। खबर की सचाई या उसमें झूठ की मात्रा का प्रश्न नहीं है। अधिक से अधिक, यह कह सकते हैं कि किसी घटना का कोई पहलू उससे खराब या अच्छा था जितना कि हो सकता था। हम तथ्यों की तुलना करने के लिए स्वतंत्र हैं। अगर हमारे हाथ 10^0 तक गर्म पानी के अभ्यस्त हैं तो 20^0 तक गर्म पानी हमें गर्म लगेगा लेकिन अगर वे 30^0 के अभ्यस्त हैं तो वही हमें ठंडा लगेगा। यहां बात तुलनात्मक है।

यह बात हमारी पसंद-नापसंद से बिल्कुल जुदा है; व्यक्तिपरक सुंदरता, अच्छाई और लाभ से परे। इन चीजों में सार्वभौमिकता नहीं होती । जो किसी एक के लिए खूबसूरत है वही दूसरे के लिए बदनुमा। एक आदमी का जो लाभ है वही दूसरे की हानि। हालांकि अच्छे या लाभप्रद होने में मूल रूप से चाहे थोड़ा ही अंतर हो, लेकिन वह अपरिवर्तनीय भी नहीं है। इस निर्णय में व्यक्ति-परकता शामिल है - वह चाहे पूरे समाज के सापेक्ष हो या व्यक्ति सापेक्ष। यानी मूल्यांकन करने वाले के आंकने का अंतर ही अच्छे और लाभप्रद के मूल्यों को विलग करता है। 'लाभ' या 'हानि' हर व्यक्ति के जिंदा रहने के साधनों का मूल्यांकन करते हैं। दूसरी ओर, भला या बुरा समाज की संपन्नता के परिप्रेक्ष्य में लोगों की समझ-बूझ से की गई क्रियाओं का मूल्यांकन है।

यह मनुष्य का आम लक्षण है कि जिसे हम बुरा, बदसूरत या हानिकारक समझें उसे हम पसंद न करें। लेकिन इसका सचाई या मिथ्या से कोई सरोकार नहीं है। झरने को नदी नहीं कहा जा सकता। वह उसे गलत संज्ञा देना होगा। लेकिन झरने की वास्तविकता बदलती नहीं है चाहे हम कोई नाम दे लें। वह जो है सो है। बात विवरण की है, जो या तो सही है या गलत । यानी वास्तविकता को एक बार झरने का नाम दे दिया गया है तो वह मानव-संचार के परिसर में झरना ही रहेगा, मानव-जीवन के परिसर में वह चाहे जो अर्थ रखे। बहरहाल किसी को भी कोई चीज इसलिए पसंद या नापसंद नहीं होती क्योंकि वह सच्ची या झूठी है।

इस मान्यता के विपरीत कि मनुष्य स्वभाव से ही सत्य की खोज करता है, शुद्ध सत्य का लोगों के लिए कोई मूल्य नहीं है। 'सत्य-हित-सुंदरता' का परंपरागत दार्शनिक सिद्धांत तब पूरा नहीं बैठता जब सत्य और मूल्य में समरूपता नहीं होती। अच्छाई और सुंदरता के सिद्धांत सत्य से भिन्न होते हैं। मूल्य की धारणाएं हमें किसी चीज की वास्तविकता से अवगत नहीं करातीं। दूसरी ओर, सत्य की परिभाषा ही यह है कि वह अपने आप में परम धारणा है। शब्दों के माध्यम से सत्य की व्याख्या इससे अधिक नहीं हो सकती; हम केवल अपनी अंतर्दृष्टि से ही जान सकते हैं कि सच क्या है। मूल्य को समझने के लिए हमारे पास विकल्प है क्योंकि उसके पीछे व्यक्ति-वस्तु के संबंध की परिकल्पना है। मूल्य को आध्यात्मिकता से साबित नहीं किया जा सकता। व्यक्ति और वस्तु के संबंध की प्रबलता जो मूल्य को आंकती है, उसका वास्तविक व्यवहार में परीक्षण जरूरी है। तब ही हम यह निश्चित रूप से जान पाएंगे कि कोई वस्तु हमें कितना प्रभावित करती है।

इन कारणों के प्रकाश में यह बात स्पष्ट रूप से उभरती है कि सत्य और मूल्य के एकाभास या समरूपता की धारणाएं कितनी गलत हैं - जैसे उपयोगितावाद का वह सिद्धांत जो सत्य को "सैद्धांतिक मूल्य" के स्वरूप मानता है। उपयोगितावाद में इसका स्पष्टीकरण यूं है : मूल्य की वैधता जितनी व्यापक होगी - यानी उसकी

व्यावहारिकता जितनी अधिक होगी, मूल्य "सैद्धांतिक-मूल्य" अथवा सत्य के उतने ही नजदीक पहुंचेगा। यह कहकर कि सत्य और मूल्य मूलरूप से एक हैं और उनमें केवल नाममात्र का अंतर है, हम भीषण वैचारिक दलदल में फंस गए हैं। इसीलिए हमें ऐसे वक्तव्य सुनने को मिलते हैं कि मूल्य के मापदंड पर, कोई चीज सच इसलिए है क्योंकि वह उपयोगी है। यहां यथार्थहीनता प्रत्यक्ष है। भाषा के दुरुपयोग से उपजे इस असमंजस को दूर करने के लिए, हमें या तो यह सिद्ध करना होगा कि मानव जीवन में उपयोगिता-मात्र ही सत्य कहलाए जाने के लिए पर्याप्त है। या फिर सत्य और मूल्य के बीच एक ऐसी लक्ष्मण रेखा बनाई जाए जो उनको अलग अलग किस्मों या वैचारिक वर्गों में बांट दे। अगर हम निरे उपयोगितावाद पर ही न उतर आएं तो हमारे दैनिक जीवन में कुछ भी ऐसा नहीं है जो इस उलटे समीकरण का समर्थन करे कि सत्य चीजों को उपयोगी बनाता है। हमें ऐसे सत्यों की खबर है जो हमारे जीवन पर लागू ही नहीं होते।

सत्य की खोज निरंतर चलती रहती है, चाहे उसके चलते कुछ विशेष उपयोगी वस्तु प्राप्ति हो या नहीं। कम से कम हमें यह बात तो माननी ही होगी कि आदिकाल से चले आ रहे खोज और आविष्कार के सिलसिले, केवल भौतिक कल्याण की भावना से ही प्रेरित नहीं थे। लेकिन हम इस नतीजे पर भी नहीं पहुंच सकते कि महान विद्वान मानवता के प्रेम से इतने ओतप्रोत हैं कि वे व्यावहारिक चिंताओं से परे हैं।

मैं यह नहीं कहता कि सच की खोज स्वार्थपूर्ण गतिविधि है, क्योंकि वैधता की पड़ताल और मूल्य-सृजन दोनों ही आवश्यक हैं। लेकिन निस्वार्थ रूप में सबकी भलाई करने के अलावा सत्य का कोई अर्थ नहीं है। इस बात पर मानवतावादी और उपयोगितावादी दोनों सहमति प्रकट करेंगे। हम 'सत्य' नहीं जी सकते; हमें 'मूल्यों' को जीना होगा। जीवन हमें सत्य तक पहुंचा सकता है, लेकिन वह आगे मूल्य के आधार पर ही बढ़ता है। जीवन सत्य से आमना-सामना तो होता है, मगर मूल्य के साथ उसका स्पर्श रहता है। सुंदरता-हित-लाभ के मापदंड पर देखने में, मूल्य उस गहराई को दर्शाते हैं जहां तक चीजें हमारे जीवन में पहुंचती हैं। लेकिन सत्य एक शुद्ध विश्लेषणात्मक गतिविधि की तरह दूरी पर रहता है। और हमें यह दूरी बनाए रखनी भी चाहिए ताकि सुंदरता-हित-लाभ के प्रति असमंजस किसी और रूप में न उभरें। हालांकि यह खतरा तो है कि इस बात पर कुछ अधिक ही व्याख्या हो जाएगी, लेकिन फिर भी इन पृथकताओं की पड़ताल एक और परिप्रेक्ष्य में कर लेते हैं।

सत्य अपरिवर्तनीय है जबकि मूल्य परिवर्तनशील। लेकिन यह बात भी चुनौती के परे नहीं है। जो जग-हंसाई करने वाले या उदासीन लोग हैं वे सत्य की नियमितता पर संदेह करते हैं। तोलेमैक सृष्टि शास्त्र का उदाहरण ही लीजिए। बहुत समय तक उसे सत्य समझकर पूजा जाता था लेकिन कॉपरनिक्स की विचारधारा ने उसका तख्ता

पलट दिया। इस बात की क्या गारंटी है कि हमारी खास पसंदीदा हकीकतों का भी यही हश्र नहीं होगा ? हमारे शिक्षा के मिजाज के लिए यह चलन और क्या क्या नुकसान तारी करेगा ? इसीलिए बहुत से विद्वानों की धारणा है कि शिक्षा प्रणाली के सिद्धांतों को स्थिर और अपरिवर्तनीय सत्य नहीं माना जा सकता।

लेकिन पहले इन दलीलों को परख लें। संदेह करने वालों में किनकी धारणा इतनी दृढ़ है कि वे अपनी निजी जिंदगी में भी इतनी ही प्रबल उदासीनता बरतें ? यानी वे उसी न्यूनतम दैनिक काम को अंजाम दें जिनके बारे में वे पूर्ण रूप से आश्वस्त हैं या उन्हें बिल्कुल ही रोक दें। क्या कोई आलोचनात्मक विधि में इतना परिपक्व है कि वह तर्क की छोटी-मोटी बातों पर भी शक कर सके या उन्हें अमान्य पाए ? आखिर सहज समझदारी की यह कौन-सी मंजिल होगी जहां सचाई पर शक खत्म हो सके।

तीन वर्ष का बच्चा भी यह जानता है कि बिना किन्हीं दुर्गम परिस्थितियों के चलती रेलगाड़ी पटरियों से नहीं उतरेगी। लेकिन हमेशा शक करने वालों को इस पर भी संदेह होगा। चूल्हे पर केतली में पानी गरम करने रखें तो वह उबलते उबलते समाप्त हो जाएगा। कारणता की सचाई का इससे अधिक आम लेकिन सटीक उदाहरण और क्या होगा ? जिस दिन लोग इस पर भी संदेह करना शुरू कर देंगे, उन्हें चिंता से एक पल को भी छुटकारा नहीं मिलेगा। ऐसी आग कभी हुई ही नहीं जो पानी में उबाल न ला पाए, न ही ऐसा सोचने की कोई वजह कि ऐसा पानी भी होगा जो भाप न बने। क्या कोई महान विद्वान इन तथ्यों का खंडन करने खड़ा होगा, जैसे कॉपरनिक्स ने पुराने दृष्टिकोणों को चुनौती देने का बीड़ा उठाया था ?

संदेहात्मक दलीलों का दोष यह है कि वे दैनिक जीवन से परे किसी दूर की चीज के विरुद्ध होती हैं। पता नहीं कि ऐसी दलीलों से क्या प्राप्त हो सकता है जो दैनिक चलन के आरामदेह आंचल के तले बैठे बैठे दी तो जाती हैं, और काम करती हैं समझदारी की मान्यताओं की बखिया उधेड़ने का ? भला ये अटकलें नए सैद्धांतिक सूत्रों के आक्रमण से कैसे बची रह सकती हैं ?

कुछ लोग दलील देंगे कि ये सत्य की उसी श्रेणी में नहीं हैं। लेकिन क्या सत्य के भी दो प्रकार हो सकते हैं ? जब हम प्रतिदिन की जिंदगी की सचाइयों को आराम से स्वीकार कर लेते हैं तो हम उस हकीकत पर क्यों संदेह करते हैं जिसे साबित किया जा चुका है। तोलेमैक की मान्यताएं भी तो झुठलाई गईं। आखिरकार उसे भी तो अपने जमाने में अटल सत्य माना गया था, मगर फिर भी उसे निकाल फेंका गया। जैसा कोपरनिक्स ने दर्शाया, इस तरह का विश्वास वैज्ञानिक सबूत नहीं होता। क्या वे सिद्धांत जिन पर आज हमें पूरा विश्वास है आने वाले दिनों में नए सत्यों के पदार्पण से चकनाचूर नहीं हो सकते ? यह केवल अटकलों पर अटकी बहस तो अनंत तक जारी रह सकती है, हालांकि उसका न सिर है न

पैर। हर पिछले तथ्य पर संदेह हमें सच के निकट नहीं लाता। वैसे भी, क्या हम इसलिए सारे सत्यों को अस्वीकार कर दें क्योंकि कभी कोई अवैज्ञानिक विश्वास झुठला दिया गया था ? इस असमंजस की जड़ है यह गलत सोच जिसके तहत सच को बहुत ही ऊंची और गहरी चीज मानकर, उसे बहुत ही अधिक श्रद्धा का पात्र बना दिया गया है। प्रश्न यह उठता है कि सत्य की मूलभूत प्रकृति है क्या ? मेरा मानना यह है कि सत्य किसी भी वस्तु की वस्तुपरक अभिव्यक्ति से अधिक और कुछ भी नहीं है। इसलिए वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा जाने गए सत्यों पर संदेह की समस्या का उन सत्यों से कुछ लेना-देना नहीं है। बल्कि उसकी जड़ है संदेह करने वालों में कोई अस्थिरता या अनियमितता। हम अपने आसपास की दुनिया में इस बात का अनुभव अक्सर करते आ रहे हैं।

तो फिर मूल्य क्या है और किस तरह बदलता है ? जैसा पहले कहा गया है। सत्य से विपरीत, मूल्यों में न तो निरंतरता है न सामंजस्य। हम अपने सामान्य अनुभव से इस तथ्य को भलीभांति जानते हैं कि यदि कोई चीज किसी एक के लिए बहुत महत्वपूर्ण है तो दूसरे के लिए बेकार हो सकती है; कम से कम उसकी तुलनात्मक आवश्यकता अलग अलग हो सकती है। यह भी हमें अच्छी तरह से पता है कि उसी चीज का मूल्य एक ही व्यक्ति के लिए समय चलते बिल्कुल बदल सकता है। कहना न होगा कि किसी भी वस्तु का मूल्य आसपास की परिस्थितियों के साथ साथ बदलता रहता है।

किसी वस्तु के मर्म को हम उसके उन स्थिर लक्षणों से पहचान सकते हैं जो वस्तुपरक अवलोकन द्वारा प्रमाणित हों। इसी मर्म की अभिव्यक्ति सत्य है। दूसरी ओर, मूल्य पैदा होता है उस संबंध से जो मूल्य-आंकने वाले और वस्तु विशेष के बीच होता है। अगर इनमें कोई भी एक दूजे के बनिस्पत बदल जाए तो अंकित मूल्य भी बदल जाएगा। इतिहास में नैतिक नियमावली में पनपे अंतर और बदलाव इस बात के जीते जागते सबूत हैं कि मूल्य परिवर्तनशील होता है।

कुछ विरोधाभास भले ही लगे लेकिन इस परिभाषा में कोई असंगति नहीं है : मूल्य एक अपरिवर्तनीय सत्य को ही बदलता है। वह वस्तु जो बदलती है (मूल्य) और उस वस्तु की निष्ठापूर्ण प्रस्तुति (सत्य) में अंतर समझना चाहिए। विज्ञान दुनिया की निष्ठापूर्ण प्रस्तुतियों का एक क्रमिक संगठन ही तो है - यानी उन परिकल्पनाओं का जो बारंबार वैध और सार्वभौमिक सिद्ध होती हैं और निरंतर बदलते हुए वातावरण में से निथारी जाती हैं। उन अटल सिद्धांतों के अलावा जिन्हें वैज्ञानिक विधि से पारित किया जाता है, वास्तविक सत्य और क्या हो सकता है ? यह औपचारिक सबूत नहीं है वरन एक लोकप्रिय व्याख्या है, मगर फिलहाल इससे काम चल जाएगा। सत्य की प्रकृति की विस्तृत व्याख्या मैं बाद में करूंगा। फिलहाल मेरा उद्देश्य मूल्य और सत्य के अंतर को और उजागर करना है, अस्थायी और स्थायी लक्षणों के बीच

सहज और स्पष्ट अंतर के आधार पर। मुझे अहसास है कि ऐसा करते हुए मैं सुकरात और प्रोटागोरस की दो हजार वर्ष पूर्व हुई बहस को केवल दोहरा भर रहा हूं। वे लोग जो स्थायी और अटल सत्य के हामी हैं और वे संदेही स्वभाव वाले जो लोगों को ही सब चीज का माप मानते हैं - इन दोनों प्रकारों में टकराव आज भी जारी है। उपयोगितावाद वाले उपयोगिता को ही सत्य करार देते हैं, यानी सत्य के उच्च और अपरिवर्तनशील स्वरूप पर प्रोटागोरस की चुनौती दोहराते हैं। मैं उस चुनौती का यह मतलब निकालता हूं कि वस्तुओं की वास्तविकता के सापेक्ष, नैतिक नियम समय के साथ बदल सकते हैं और बदलेंगे। यह स्वयं अपने आप में अपरिवर्तनशील सच्चाई है। जो उन्होंने कहा वह मूल्य के बारे में तो बेशक सही है, और उसके चलते व्यक्ति ही हर चीज का माप है। बहरहाल यह बात अजीब है कि यह तनातनी और शब्दों का जंजाल इतने अरसे से जारी है, जब कि इस तरह की समस्या सत्य और मूल्य की परिकल्पनाओं को पृथक करने से आसानी से सुलझ सकती है।

आज जब मैं दुनिया को देखता हूं तो उस असमंजस से अधिक छलपूर्ण और कुछ भी नहीं पाता जो सत्य व मूल्य और ज्ञान व मूल्यांकन के बीच तारी है। इन दोनों के गड़बड़ हो जाने से वास्तविक समझ संकुचित हो जाती है और लोगों को अपने विचारों के प्रति स्पष्टता पाने और जिम्मेदारी निभाने से रोकती है। आमतौर पर जो जानकार बुद्धिजीवी हैं उनके रोजाना के कथनों में भी यह अस्पष्टता घुलमिल गई है। वे बड़े जोरशोर से चीजों पर बहस करते है और उनका मूल्यांकन करते हैं, बिना यह जाने कि वे दरअसल सिर्फ अपनी पसंद और नापसंद को ज्ञान का आवरण ओढ़ा रहे हैं।

कुछ लोग कहेंगे कि नैतिकता का विधान पारित किया जा सकता है या अगर शिक्षा के बोध-ज्ञान की शानदार उद्घोषणा की जाए तो शिक्षार्जन को प्रोत्साहन मिलेगा। सिद्धांतों को चाहे बढ़ा चढ़ाकर कितना भी क्यों न सराहा जाए, बिना उन्हें समझे बूझे ऐसा करना केवल खोखली औपचारिकता या स्वांग मात्र है। तथ्यों को समझने के बाद ही उचित मूल्यांकन हो सकता है। यह बात शिक्षा के क्षेत्र में बहुत ही महत्वपूर्ण है। इसका मतलब यह नहीं है कि शिक्षा पद्धति में बोध ज्ञान नहीं होना चाहिए, वरन केवल यह कि हमें पहले यह मालूम होना चाहिए कि हम उसे इतना मूल्यवान क्यों समझते हैं। अंधानुकरण से कोई राह नहीं पाता, और उससे भी जरूरी बात यह कि वह हमारा ज्ञान बढ़ाता भी नहीं है।

मान लीजिए कि कोई छात्र अपने अध्यापक से पूछता है, "इसका अर्थ क्या है ?" अध्यापक जवाब में डांटता है, "क्या मतलब ? तुम अभी तक यह नहीं समझे ?" प्रत्यक्ष है कि अध्यापक को मूल्यांकन पर ज्ञान का भ्रम है। छात्र ने अपनी क्षमता का मूल्यांकन किए जाने के लिए प्रश्न नहीं किया था, वह तो समझ न आने पर प्रश्न पूछ रहा था। अगर किसी व्यक्ति का आलोचनात्मक मूल्यांकन करना ही पड़े

तो वह पूरी सोच समझ के बाद ही करना चाहिए। प्रश्नकर्ता से ही जवाब-तलब करने से या प्रश्न को टाल देने से अध्यापक ज्ञान में वृद्धि नहीं करता। छात्र के प्रश्न को अनदेखा करके अध्यापक केवल छात्र की बुद्धि पर ही वार नहीं करता, बल्कि अध्यापन के साथ भी ईमानदारी नहीं बरतता। दुर्भाग्यवश निरे अनुशासकों का तरीका यही है। कुछ अध्यापक चिढ़ जाते हैं और छात्र के सुस्त-विकास को लेकर डांटते हैं। या फिर, ज्ञानार्जन की प्रक्रिया पर बिना ध्यान दिए उन्हें लगता है कि छात्र बहुत कुछ समझ गया है। ऐसे अध्यापक शिक्षा प्रक्रिया को बिल्कुल नष्ट कर देते हैं। इस तरह के अध्यापक ज्ञान और छात्र के बीच की खाई को और भी गहरा बना देते हैं। अफसोस यह है कि तथ्यों को लांघकर मूल्यांकन करने की ऐसी छलांगें, समाज के हर स्तर पर नजर आती हैं - सरकार में, व्यापार में, और घर में भी। लोग ज्ञान, तथ्य और सत्य के मार्ग से भटक जाते हैं। विनम्र विचार-विमर्श झगड़ों या खराब संबंधों में बदल जाते हैं। शब्दों के भावार्थ को लेकर नहीं बल्कि सत्य व मूल्य और ज्ञान व मूल्यांकन को लेकर अस्पष्टता के कारण।

और अधिक भ्रम न उपजें, इसलिए हम अभी तक की चर्चा का सार निकाल लेते हैं।

1. सत्य	स्थानिक धारणाएं	आकृति, पदार्थ और वास्तविकता में मूल लक्षणों की पहचान।
	सांसारिक विधान	परिवर्तन और स्थायित्व के मूल तत्वों की पहचान
2. मूल्य	सौंदर्यबोध	सुंदरता का मूल्यांकन
	लाभ	निजी लाभ : लाभ का मूल्यांकन सार्वजनिक लाभ : हित का मूल्यांकन।

बोध और मूल्यांकन

हमारा दिमाग आसानी से बोध और मूल्यांकन की क्रियाओं को अलग अलग पहचान सकता है। मगर चूंकि इन दोनों को आमतौर पर एक ही चीज मान लिया गया है, इसलिए इनके अंतरों की तरफ ध्यान देना तो अलग, कोई इनको समझता भी नहीं है। लेकिन जैसा सत्य व मूल्य को लेकर होता है, वैसा ही भ्रम हमारी ज्ञान-मीमांसा की प्रगति में अवरोध डालता है। इसलिए इनमें अंतर कर पाना जरूरी है।

बौद्धिक रूप से चीजों को जान पाने की मानसिक क्रिया को बोध या पहचान कहा जाता है। जैसा कि शब्द-विन्यास से प्रत्यक्ष है, मूल्यांकन में वस्तुओं का मूल्य

निर्धारित करना या उन्हें आंकना शामिल है। मानसिक क्रियाओं के रूप में दोनों ही एकीकृत मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति हैं - एक दूसरे से संबंधित मगर समरूप नहीं। जैसा पहले ही इशारा किया गया है, बोध अथवा पहचान वाली किसी वस्तु का अन्य वस्तुओं के सापेक्ष ज्ञान, वस्तुपरक प्रक्रिया है। मूल्यांकन यानी किसी वस्तु का स्वयं के सापेक्ष ज्ञान, व्यक्तिपरक है। एक में हम सार्विकता देखते हैं तो दूसरे में मापदंड भावात्मक है जो जितना मनोदशा पर निर्भर करता है उतना ही बाहरी वास्तविकता पर।

बोध के वस्तु-पात्र स्थिर या जड़ हों, यह जरूरी नहीं है। इनमें परिवर्तनशील एवं गतिशील घटनाएं भी शामिल हो सकती हैं, जैसे स्वयं परिवर्तन की गूढ़ धारणा। इस तरह बोध में दोनों तरह की क्षमताएं होती हैं - तुलनात्मक और भेदात्मक। यह विश्व की यथार्थपूर्ण छवि बनाने की मानसिक क्रिया है।

बोध इस बात की पुष्टि करता है कि कोई चीज है या नहीं, फिर किसी ऐसी चीज से जोड़ता है जिससे पहले वास्ता पड़ा हुआ हो, और दोनों में समानताओं और अंतरों का अंकन करता है। उदाहरण के तौर पर यह वाक्य, "यह एक कुत्ता है", आंखों के सामने की चीज की दिमाग में बसी चीजों से तुलना करता है और उसे बाकी सब चीजों से अलग करके उस कतार में ला खड़ा कर देता है जिस पर 'कुत्ते' का लेबल लगा हुआ है, क्योंकि देखी जा रही चीज में भी उसके लक्षण मौजूद हैं। यह ज्ञान कि "कुत्ता स्तनपायी है" कोई नया अवबोधन नहीं जगाता, केवल जानकारी की दो पूर्विकाओं से जोड़ता या अलग करता है। दोनों स्थितियों में एक संदर्भ निहित है; हम केवल वही चीज पहचान सकते हैं जिससे हम पहले से परिचित हों।

मूल्यांकन की प्रक्रिया में संदर्भ की पड़ताल भी शामिल होती है। किसी चीज को खूबसूरत या बदसूरत कह देने में, या यह तय करने में कि वह हमारी खूबसूरती के सांचे में उतरती है या नहीं, दिमाग वैसी ही कसरत करता है जैसी पहचान या अवबोधन करने में। इन स्थितियों में हम इन सवालों पर ध्यान नहीं देते हैं कि वे चीजें क्या और क्यों हैं ? हम उनके मान्य अस्तित्व या अनास्तित्व, सच या झूठ इत्यादि से परे इस बात पर ध्यान लगाते हैं कि वे हमसे सकारात्मक रूप से संबंधित हैं या नकारात्मक रूप से। इस तरह बोध प्रतिवादों, असामंजस्यताओं और असंभावनाओं की छांट-पीट करके सत्य की खोज करता है। दूसरी ओर, मूल्य को सापेक्षता, पूरकता और विरोध के पैमाने पर तोला जाता है।

कहना न होगा कि इन दोनों प्रक्रियाओं में पारस्परिक क्रिया लगभग सतत रूप से चलती रहती है। लेकिन अगर हम अपने दैनिक जीवन पर ध्यानपूर्वक विचार करें तो हम पाते हैं कि ऐसे तीन प्रबल प्रतिमान हैं जिनकी सहायता से हम अपने जीवन के वातावरण की घटनाओं को समझते हैं। हम पूरे संज्ञान के बाद मूल्यांकन कर सकते हैं, या मूल्यांकन करके बोध प्राप्त कर सकते हैं, या बिना किसी निश्चित

बोध के चीजों का मूल्यांकन कर सकते हैं। जैसे अपने घर के लिए कुछ चीज खरीदने के लिए हम पहले बाजार के बारे में यह जानकारी प्राप्त करते हैं कि हमारी जरूरतें पूरी करने के लिए क्या मिल रहा है, और फिर इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि क्या वह चीज खरीदने लायक है। या सिर्फ हम इसलिए भी उसकी इच्छा कर सकते हैं क्योंकि वह फैशन में है या किसी ने उसकी पैरवी की है। अब कई बार हमारे इस खोखले विश्वास के तहत यह भी होता है कि हमारे मूल्यांकन ही तथ्य हैं, और हम उसी को बोध की संज्ञा दे देते हैं। कई बार तो हम किसी चीज की पड़ताल करने की कोशिश भी नहीं करते जब तक हमें यह न पता हो कि उसे 'अच्छा' माना जा रहा है।

किसी व्यक्ति के चरित्र के मूल्यांकन के सिलसिले में भी यही सांचे सही बैठते हैं। कुछ ऐसे लोग होते हैं जो किसी व्यक्ति की प्रतिष्ठा के आधार-मात्र पर उसका पक्ष लेते हैं - बिना उसे देखे, सुने या जाने। कुछ लोग बिना जल्दबाजी किए या स्थिति का जायजा लिए बगैर अपनी राय प्रकट नहीं करते। ऐसे लोग भी आम सम्मति के दबाव तले अपने विचारों को बदल सकते हैं। पहले वे किसी व्यक्ति को बहुत सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। लेकिन बाद में उन्हें संदेह होता है क्यों कि बिना आग के धुआं नहीं होता, जिस व्यक्ति के बारे में गंदी बातें कही जा रही हैं उसमें कोई न कोई खोट अवश्य होगा। अधिकतर समाज पर इसी तरह जनमत तारी होता है।

यह अनेक सामाजिक कमजोरियों का स्रोत साबित हो सकता है। ऐसे नागरिक जो किसी एक दृष्टिकोण के पक्षधर हैं वे दूसरी किसी बात को समझने की कोशिश भी नहीं करेंगे। वे किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति की बातों पर बिना सोचे समझे विश्वास कर लेंगे, चाहे वह व्यक्ति सच कहे या झूठ। लेकिन फिर यह बात भी सही है कि हमारी जानकारी से परे मामलों में हममें से हरेक किसी न किसी हद तक दूसरों की राय पर निर्भर करता है। ऐसा इसलिए कि किसी के लिए भी यह नामुमकिन है कि वह हर चीज को खुद ही पूरी तरह से समझ-बूझ सके।

फिर भी, लोगों को बोध और मूल्यांकन को लेकर भ्रम रहता है। समस्याएं जोड़े में आती हैं : मूल्यांकन बोध का स्थान ले लेता है, या मूल्यांकन अपने आप को गलत बोध पर आधारित करता है। यही कारण है कि हमारे बीच ऐसे डाक्टर और वकील हैं जिन्हें बने-ठने रहने की बहुत अधिक चिंता इसलिए रहती है क्योंकि उनके ग्राहक उन्हें उनके रंगढंग से आंकते हैं; बिना उनकी योग्यता जाने। किसी आधुनिक युवती के गहने-कपड़े भी ताड़ने वालों की नजरों के लिए की गई तैयारी के मापक हैं।

बोध और मूल्यांकन के बीच इस तरह के असंतुलन का अर्थ यह नहीं है कि मूल्यांकन की कोशिश ही न की जाए। मैं समझता हूं कि बाहर के जगत से

जूझने के लिए साधन, बोध और मूल्यांकन ही हैं। इसलिए इनमें से किसी एक को इस्तेमाल न करना बेवकूफी होगी। चीजों की संपूर्ण और गहरी छवि पाने के लिए हमें दोनों का इस्तेमाल करना होगा।

"चलो देखते हैं कि क्या होता है" - इस तरह के रुख का न सिर्फ हमारा अस्तित्व बल्कि स्वयं दुनिया का अस्तित्व भी विरोध करता है। इसके कारण बाहरी और आंतरिक स्थिति में अवरोध पैदा होता है और दूसरों की आंतरिक स्थिति लगभग अनदेखी हो जाती है। हमें केवल अनुभव-मात्र ही नहीं करने चाहिए बल्कि पारस्परिक क्रिया भी करनी चाहिए। अगर इस तरह से देखा जाए तो दुनिया से हमारा आचार लगभग हमारे अपने आंतरिक आचार जैसा ही होता है :

1. अनुभव : संवेदी या बौद्धिक गतिविधि
2. पारस्परिक क्रिया : ऐंद्रिय या भावात्मक गतिविधि

गैलीलियो और उसके बाद के वैज्ञानिकों ने पहले रुख को अपनाने की कोशिश की है। यानी भावात्मक और व्यक्तिपरक तत्वों को निकाल फेंककर, एक तीसरे व्यक्ति की तरह जिसका प्रेक्षित वस्तु से कोई लेना-देना ही न हो। पूरी कोशिश रहती है कि प्रेक्षित वस्तु से संवेदनापूर्ण संबंध न हो। यह बात समझ में भी आती है क्योंकि भावावेश में वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक आम आदमी की तरह अधकचरे नतीजों पर नहीं पहुंचना चाहते। लेकिन फिर भी कई बार इलाज रोग के जैसा ही खतरनाक होता है। अगर वैज्ञानिक वस्तुपरकता की धुन में हद से आगे निकल जाएं तो वे, संश्लेषण की कमी के कारण, अदूरदर्शी और संकीर्ण नतीजों पर पहुंचेंगे। इस तरह प्रखर वैज्ञानिक भी बौद्धिक अटकलें लगाने वाले बनकर रह जाएंगे और अपने बोध को प्रेक्षित वस्तु की संपूर्ण सच्चाई की संज्ञा देंगे। वे सिद्धांतों से चिपके हुए से रहते हैं। अगर कोई भावना या अंतर्दृष्टि उभरती है तो व्यावहारिक जीवन में मूल्य-सृजन की बात तो अलग, वे शोध के समय भी उनको अनदेखा कर देते हैं। उनके विचारों के बहाव को रोके रखती है ज्ञान की यही तलछट - जो वस्तुपरक सही मगर मृत छवि है।

यह रुख विज्ञान के असली उद्देश्यों को नकारता है। अगर हमें मानसिक और भौतिक विश्व के बारे में सब कुछ जानना है तो हमें अनुभव और पारस्परिक क्रिया में सुसंगति पैदा करनी होगी। इसके बिना हम अपने को अक्सर द्वेषों में फंसा पाएंगे। बर्गसन ने भी यही कहा था कि केवल बाहरी स्वरूप देखते रहने के कारण वैज्ञानिकों को अंतरधाम में झांकने का अवसर नहीं मिलता; और इसलिए उन्हें भी 'सहानुभूति' का यंत्र देना चाहिए, विशेषकर उनके आंतरिक जीवन के लिए।[1]

पहली नजर में तो विशुद्ध अनुभव और भावपूर्ण पारस्परिक क्रिया विलग प्रतीत होंगे। लेकिन बुनियादी तौर पर मनोवृत्ति का विभाजन नहीं हो सकता। विवेक और मनोभाव एक ही संपूर्णता के अंश हैं और वे वास्तविकता की तरह कभी विभाजित

नहीं हो सकते। अगर हमें पूरी वास्तविकता को जानना है तो हमें मस्तिष्क का पूर्ण दर्पण प्रयोग में लाना होगा। यह बात डिल्थे के आह्वान को ही दोहराती है कि शिक्षा के क्षेत्र में व्यक्ति के विवेक, मनोभाव और इच्छा का पूर्ण रूप से समाहन होना चाहिए।[2] यह आह्वान है तो शैक्षणिक साधनों की खोज के लिए लेकिन इसमें मस्तिष्क और शरीर के उस एकीकरण पर भी बल देने की अपील है जिसके सहारे हम दुनिया में जीते हैं। इसमें दोनों किस्म की जरूरतों की तरफ इशारा है - अनुभव व पारस्परिक क्रिया, बौद्धिक व मूल्यांकन की गतिविधि।

शिक्षा - अनुकूलन की द्विमुखी योजना पर हम इन विचारों को इस तरह लागू कर सकते हैं :

1. समझ-अनुभव-सोच की ओर संवेदी, बौद्धिक विधि
2. समझ-पारस्परिक क्रिया-भाव की ओर भावात्मक, अंतर्दर्शी विधि

बोध

बोधात्मक प्रक्रिया

जैसा कि हमने देखा है, विभेदीकरण और अनुरूपता बोध, दो विपरीत मगर पूरक प्रक्रियाओं को इस बात की पुष्टि के लिए उपयोग करता है कि कोई प्रत्यक्ष वस्तु क्या है, क्या नहीं। ये प्रकार्य अपने सबसे बुनियादी और प्राकृतिक रूप में जानवरों में दिखाई पड़ते हैं। मछली वही कांटा पकड़ती है जो खाने की सामग्री-सा लगता है। ऐसा लगता है कि पौधे भी उस पोषक का चयन करते हैं जिसकी उन्हें जरूरत होती है। यहां यह नहीं कहा जा रहा कि पौधों में भेदीकरण की क्षमता होती है लेकिन इसमें कम से कम मानव की अवबोधन शक्ति की विकास-प्रक्रिया की झलक मिलती है। हमारी चेतना निश्चित ही अधिक जटिल है, मगर फिर भी उसमें मानव-जीवन से परे जीवन में पाए जाने वाले सहजबोध से साम्यता मिलती है। अगर हम अवबोधन को भौतिक वास्तविकता का भाषा के माध्यम से पारित अंतर्मुखी वैचारिक वास्तविकता में स्थानांतरण मानते हैं तो वह विशिष्ट मानवीय क्रम की घटना है।

बोधात्मक और वैचारिक सूचनाओं का संचालन करने वाली औपचारिक एवं मौखिक भाषाओं में दो बातें निहित हैं : लिखा या कहा जाना और स्मरण-शक्ति। जब किसी नई घटना या नए तथ्य से हमारा सामना होता है तब हमें एक अहसास भर होता है। हमारे स्मृति-पटल पर कोई रेखांकन होता है, और पूर्वानुभव के अनुरूप, हम नए पहलू खोज पाते हैं। सांसारिक और स्थानिक स्वरूपों के अंतरों में से दिमाग एक अलग पहचान का भेदीकरण करता है। और साधारण तुलनात्मक विश्लेषण से कहीं अधिक, दिमाग अपने अवबोधन से कारणता की तलाश करता है। यानी विभेदीकरण के अलावा विचार की संरचना में हमारी बोध-ज्ञान की प्रक्रियाएं, विश्लेषण

की शक्तियों की भी सहायता लेती हैं।

विवेचना या अनुमान विचारों के अभिमुख होने की तरफ प्रगति को या दुनिया की एकीकृत छवि की ओर धारणाओं के क्रमबद्ध विकास को दर्शाते हैं। इस मानसिक संश्लेषण के माध्यम से हम यह प्रयत्न करते हैं कि हम बेतरतीब घटनाओं के बाहरी आवरण को चीरकर, वस्तुओं के आंतरिक तारतम्य तक पहुंच सकें। यानी वस्तुओं के सार और संरचना तक, बोधात्मक विशिष्ट वस्तुओं में व्याप्त अवयवों या यंत्रावली तक। यहां हम अपनी स्मरण और वर्गीकरण की शक्ति के आधार पर, सिद्धांतों और बोधात्मक प्रतिमानों की संरचना कर रहे हैं। हम निहित और प्रत्यक्ष समानताओं से अवगत होकर व्यापक वर्गीकरण की परियोजना में दक्षता बढ़ा रहे हैं। इसके चलते हम विरोधाभासी बोधों की तुलना करके ज्यादा सच्चे सच की खोज में लगे हैं। उदाहरण के लिए, हम अब किसी व्यक्ति को इस रूप में पहचान सकते हैं कि उसे हम तीन बरस पहले जानते थे, हालांकि मनुष्य हर पल बदलता है। कुछ तो ऐसा है जो बुनियादी तौर पर वही रहता है चाहे बहुत कुछ बदल जाए।

बोध के प्रकार अंतहीन होते हैं, लेकिन हमारी मानसिक क्रियाओं के कुछ सामान्य नियम होते हैं : पहले हम कुछ विशेष सत्यों को पृथक करने और पहचानने के लिए अपने अवबोधनों को विभाजित करते हैं। फिर, इनमें निहित सबसे अधिक सारभूत तत्वों के संपर्क को उजागर करते हुए, इन सत्यों की पुनर्व्यवस्था और पुनर्संरचना के द्वारा एक बड़े सत्य की रचना करते हैं। लेकिन सारभूत है क्या ? संश्लेषण करने से पहले सारभूत को असारभूत से कैसे अलग करें ?

सारभूत से हमारी मुराद है उन तत्वों की जो निरंतर बदलती हुई घटनाओं के अवलोकन के समय अपरिवर्तनीय रहते हैं। यह न सिर्फ वैज्ञानिक शोधों का लक्ष्य है बल्कि इसी से हम दिन-ब-दिन विश्वास और सुरक्षा से जीते हैं। अगर यह जागरूकता हम में नहीं होती तो हम बेतरतीब चीजों और घटनाओं के प्रबल प्रवाह में बह गए होते। वैज्ञानिक विधियों से प्राप्त किया गया सूचना योग, चेतन जीवन के प्रवाह के क्षणिक प्रतिनिधि अंशों का बेसिर पैर का कच्चा चिट्ठा होता, हमारे निरंतर जीवन के संदर्भ में तलछट-मात्र होता।

वास्तव में हमारी यह क्षमता कि हम विशिष्टताओं में से सार्वभौमिक तत्वों को निकालकर सामान्य व्याख्या कर सकते हैं, वह अनुभव है जो हमारी रक्षा करता है। अनुभव हमें सिखाता है कि हम किन चीजों पर विश्वास कर सकते हैं और कौन-सी चीजें बार बार सही साबित नहीं होंगी। हमें सिर्फ अपने ही अनुभवों से सब कुछ नहीं सीखना पड़ता क्योंकि दूसरों ने अपने अनुभवों के सार भी हमारे लिए छोड़े हैं। वो चाहे लेखन के रूप में हो या चित्रकारी, मूर्तिकला, संगीत या प्रकाशन के स्वरूप में, हमें सांस्कृतिक संपत्ति का ऐसा भंडार मिला है जिसे समाज संभालता ही नहीं उसका भौतिक संपदा से अधिक विनिमय भी करता है। जो चीजें हम अपने

आप आजमा कर नहीं सीखते वे अपने पूर्वजों की उन महत्वपूर्ण चीजों से सीखते हैं जिन्हें उन्होंने बौद्धिक विश्लेषण और संश्लेषण द्वारा अनावश्यक चीजों से अलग किया था।

बहरहाल, हमें यह स्वीकार करना होगा कि ज्ञानार्जन हमारे दैनिक जीवन में अंगभूत भूमिका निभाता है। बिना ज्ञान के जीवन अंधकार में भटकने के समान है। साथ साथ यह भी सही है कि जीवन से जुड़े बिना ज्ञान खोखला है। हमें अपने ज्ञान का अपने अनुभव के परिसर में परीक्षण करना चाहिए, विशेषकर तब जब हम स्वयं ही उस ज्ञान के स्रोत न हों। कभी न कभी हमें अंतर्दर्शी छलांग भी लगानी चाहिए, आसपास की छितरी सूक्ष्मताओं से आंखें हटाकर व्यापक छवि बनानी चाहिए। इसमें संदेह है कि हम अपने फिलहाल के ज्ञान की पुनर्रचना से ही कुछ और वास्तविक नई सीख ले सकते हैं। सीखने की प्रक्रिया में नए अनुभव का तत्व निहित है। अन्यथा हमारी मानसिक गतिविधि याद्दाश्त के दायरे में सिमटी रहती है, उससे कभी आगे नहीं निकलती। अगर हम वास्तव में जीना और ज्ञानार्जन करना चाहते हैं तो हमें नए स्पष्टीकरणों और अनुभवों के प्रति सजग रहना चाहिए।

अशिक्षित लोगों की यह एक आम कमी है कि वे अपने अनुभवों से हठधर्मितापूर्वक चिपके रहते हैं, बिना उनकी मदद से सामान्य विधान तक पहुंचे। वह अधकचरा ज्ञान भी उससे बेहतर नहीं होता जिसके चलते लोग, जीवन के इम्तहान से बिना गुजरे, सिद्धांतों से चिपके रहते हैं। आदर्श रूप में, जब हमें कोई अनुभव कारणता तक पहुंचाता है तो हमें उसे यूं ही नहीं जाने देना चाहिए। हमें उससे मिलती जुलती स्थितियों का विस्तृत प्रेक्षण करना चाहिए और तुलनात्मक विश्लेषण से, उस कारणता के सिद्धांत के मूल तत्वों को अलग करना चाहिए। इसके बावजूद हमें तब तक यह विश्वास नहीं होगा कि हम स्थिति का मूल खोज पाए हैं, जब तक कि बार बार उसका प्रमाण न दिखे। तब ही बोध में समझ का अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू जागता है। सबसे बड़ा विरोधाभास शायद यह है : हमें अनुभवों को बदलती हुई परिस्थितियों में फिर जीने पर ही पता चलेगा कि हमने शाश्वत सत्य को जान लिया है। दूसरी ओर, हमें चीजों का अनुभव तरह तरह से दोहराना होगा ताकि हम पूरी तरह जान सकें कि वे हमेशा एक-सी ही क्यों होती हैं।

अंतर्ज्ञान और तर्क

मानव मस्तिष्क को बोध अंतर्ज्ञान और तर्क के माध्यम से होता है। अंतर्ज्ञान की प्रक्रिया के चरितार्थ होने का बहुत अच्छा उदाहरण कवि या कलाकार की परिकल्पना है। वह अपने अनुभव का सार सबसे सहज और मूर्तरूप में बांधने का प्रयत्न करता है। पैमाने की दूसरी ओर वैज्ञानिक होते हैं जिनका काम होता है बहिष्करण की विवेकपूर्ण प्रक्रिया। अवबोधन की वस्तु को संपूर्ण रूप में देखते हुए भी कलाकार

की दृष्टि अनूठे और विशिष्ट तत्व पर ही पड़ती है। वैज्ञानिकों का तरीका इसके विपरीत है : वे आम और सर्वव्यापक तत्वों पर ध्यान केंद्रित करते हुए सामान्य धारणाएं बनाते हैं।

अंतर्ज्ञान और तर्क को अक्सर बोध के क्रमशः निष्क्रिय और सक्रिय लक्षण कहा जाता है। कलाकारों में संवेदनशीलता या ग्रहणशीलता विशेष रूप से जागी हुई मानी जाती है, जब कि वैज्ञानिक उन परिस्थितियों को पैदा करते हैं जिनमें वह कार्य हो सके जिसकी वह पड़ताल करना चाहते हैं। बहरहाल, अवबोधन कभी भी पूरी तरह निष्क्रिय नहीं हो सकता। अवबोधन की पूर्वापेक्षा होती है शुद्ध और सरल चेतना, लेकिन ये दोनों पर्यायवाची नहीं हैं। अवबोधन सदा याद्दाश्त की हूबहू तस्वीर नहीं होती है। हम बारंबार अपनी अनुभूति के लैंसों की स्थिति-परिस्थिति बदलते रहते हैं, ताकि हम छवियों को साफ देख सकें और अपने दिमाग में बैठा सकें। हम नए विचार खोजते हैं।

फिर भी, अंतर्ज्ञान और चिंतन में भारी अंतर है। प्रश्न केवल अधिक या कम, मूर्त या अमूर्त स्वरूप का नहीं है बल्कि विधि का है। माना कि दोनों ही अंतिम परिणति में विवेक या समझ तक पहुंचने के मार्ग हैं; व्याप्त और प्रत्यक्ष सत्यों को निथारने के तरीके हैं। लेकिन विकास और संरचना की सीढ़ी पर चिंतन अधिक ऊंचाई पर है। विवेचन का पहला पग अंतर्ज्ञान ही है और वही अनुभवात्मक तथ्यों का स्रोत है। इसके बाद विवेचन विधिवत अनावश्यक बातों को अलग हटा के, सामान्य सत्य को उजागर करने के लिए आगे बढ़ता है। अंतर्ज्ञान सचेत परीक्षण को लेकर विशिष्ट परिणामित सत्य उपलब्ध कराता है, जब कि विवेचन खुली किताब की तरह होता है। अपनी अभिधारणा की संरचना में हम वैज्ञानिक का अनुसरण भले ही न करें, लेकिन हमारा विचार प्रवाह स्वाभाविक एवं अवश्यंभावी रूप से एक खास ढर्रे पर ही चलता है। कारणता का विधान ही वह ढर्रा तय करता है। अगर हम अपने दैनिक जीवन में विचारों की तर्कपूर्ण संरचना पर जोर न भी डालें, तब भी हम सदैव वैज्ञानिक विधियों के स्वरूप ही आचरण करते हैं। वास्तव में तर्क ही अनुभव किए हुए तथ्यों की संरचना करता है और इस तरह हमारे विचारों की सार्वभौमिकता की गारंटी लेता है।

मूल्य

मूल्य की संकल्पना

मूल्य की संकल्पना अब केवल अर्थशास्त्र तक ही सीमित नहीं रही है बल्कि कला, विज्ञान, नीतिशास्त्र और धर्म जैसे विभिन्न क्षेत्रों में इसका प्रयोग होने लगा है। इसलिए अब यह और भी महत्वपूर्ण हो गया है कि हम मूल्य शब्द के उस सही अर्थ को

समझ लें जिसका प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में करना है। इन व्यावहारिक परिभाषाओं के परीक्षण का उद्देश्य यह है कि हम अपने खुद के लगाए हुए अर्थों और अटकलों से परे जाकर, मूल्य शब्द पर वस्तुपरक विश्लेषण के साधन से विचार कर सकें। इस तरह हम उनके विशेष या व्यावसायिक शब्दार्थों से भी अलग रह सकते हैं।

शायद मूल्य का पहले पहल इस्तेमाल आर्थिक क्षेत्र में हुआ, किसी वस्तु की मांग या इच्छा पूरी करने की क्षमता के रूप में। किसी रईस आदमी के लिए मैले कुचैले कपड़ों की न इच्छा हो सकती है न ही उनका कोई मूल्य । मगर यह कल्पना की जा सकती है कि वह किसी गरीब की आवश्यकता या इच्छा की पूर्ति कर पाएंगे।

जैसा कि पहले कहा गया है, मूल्य उस संबंध की एक परिमाणवाचक अभिव्यक्ति है जो मूल्यांकन करने वाले व्यक्ति और मूल्यांकन की जाने वाली वस्तु के बीच होता है। सूक्ष्म और वृहत अर्थशास्त्र के अनुसार इस संबंध को निजी या सार्वजनिक लाभ बनाम व्यय कहा जा सकता है। वह चीज जो किसी विशेष व्यक्ति के लिए लाभ है, व्यक्तिपरक विश्लेषण में लाभप्रद होती हुई भी समाज के लिए अहित हो सकती है। इसके विपरीत, वे किसान जिन्हें अपने खेत सरकार के हुक्म से रेल पटरियां बिछाने के लिए बेचने पड़ें, सार्वजनिक हित के लिए जीविकार्जन में हानि उठाते हैं। यानी, अधिकतर मूल्यांकन वस्तु के बजाय मूल्य निर्धारण पर अधिक निर्भर करता है। परिप्रेक्ष्य और दृष्टिकोण के चलते, वही वस्तु लाभ की भी हो सकती है हानि की भी, हित की और अहित की भी। यहां भ्रांति से बचने के लिए एक सावधानी बरतनी होगी। और वह यह कि एक संकीर्ण संदर्भ में व्यक्तिगत कार्य के लिए 'हित' और 'अहित' शब्दों का प्रयोग, व्याप्त सामाजिक संदर्भ में कार्यों के मूल्यांकन से अलग है।

लेकिन मनुष्य केवल आर्थिक परिसर में ही नहीं जीता। वह हर चीज जो मूल्यवान है, उसका मूल्य नहीं लगाया जा सकता। फिर भी, साधन और साध्य की व्यापकता के चलते मूल्य को पहचाना जा सकता है। यानी, मोटे तौर पर, हमारे दैनिक जीवनानुभव में कुछ भी ऐसा नहीं है जो इस कसौटी पर न आंका जा सके कि वह मूर्त या अमूर्त रूप में हमारे साध्य के लिए कितना अच्छा साधन है। भौतिक निकट दृष्टिता से बहुत परे, हम यह जरूरी पाते हैं कि अपनी दिन-प्रतिदिन की जिंदगी में जिंदादिली बनाए रखने के लिए हम थकन, एकाकीपन और दुख को हटाएं क्योंकि ये हमारी इच्छाशक्ति, ऊर्जा और विकास का हनन करते हैं। हमें सांत्वना नामक आध्यात्मिक खुराक की जरूरत पड़ती है। चाहे सक्रिय हो या निष्क्रिय, चेतन या अचेतन, यह जरूरत मानव जीवन का स्वाभाविक और आवश्यक हिस्सा है। इस साध्य के साधन के रूप में, हम सौंदर्य के परिसर राहत ढूंढ़ते हैं।

कोई भी इस बात को नकार नहीं सकता कि मूल्य पर निर्णय लेने में भी भावुकता का एक तत्व होता है। जिस वस्तु को हम मूल्यवान पाते हैं वह हमें कोई

न कोई प्रसन्नता देती है, लेकिन मूल्य की अनुभूति को केवल प्रसन्नतादेय सिद्धांत के रूप में देखना बिल्कुल विपरीत सिरे तक पहुंच जाने जैसा है। क्या कुछ ऐसी चीजें भी हो सकती हैं जो हमें प्रसन्नता देती हों मगर फिर भी मूल्य-विहीन हों ? स्पष्ट है कि ऐंद्रिय तुष्टि के प्रति हमारा रुझान अधिक रहता है। लेकिन अगर हमारी शारीरिक या भौतिक प्रसन्नता की खोज दूसरों को हानि या चोट पहुंचाती है या हमारे स्वार्थी कार्यकलाप दूसरों की मिल्कियत से टकराते हैं, तो फिर हमारे कुछ करने का मूल्य ही कहां है ? कुछ नहीं तो हमारी शर्म-ओ-हया हमें ऐसा करने पर धिक्कारती है; या सवाली होती है अगर कोई और ऐसा करे। सच तो यह है कि सामाजिक रूप से अस्वीकृत प्रसन्नताएं भी कुछ तरह के लोगों के लिए मूल्य रखती हैं। अगर ऐसा नहीं होता तो कोई उनको करना ही नहीं चाहता। मगर संतुलन की दृष्टि से इस तरह के मूल्य सही नहीं उतरते। इस प्रकार, विभिन्न और अनेक मूल्यों के अस्तित्व को स्वीकारते हुए, हमें इस बात पर बल देना होगा कि विशेषरूप से शिक्षा-संबंधी मूल्य अधिकतम हित के सबसे विशाल दायरे से संबद्ध हैं।

संबंध का मूल्य

जैसा कि हमने देखा, बोधात्मक वस्तुओं का तथ्यों या चीजों से संबंध मात्र ही मूल्य की संरचना नहीं करता। मूल्य पैदा करने के लिए एक विषय-वस्तु का संबंध आवश्यक है। केवल उन्हीं संबंधों को लाभकारक या हानिकारक अथवा हितकारी या अहितकारी कहा जा सकता है जिनके द्वारा कुछ वस्तुओं का प्रभाव हमारे अस्तित्व को दृढ़ या कमजोर अथवा लंबा या छोटा बनाता है। पहले हमें इन संबंधों के अस्तित्व की जानकारी मिलती है; और फिर हम मानव जीवन के लिए उनकी महत्ता को आंकते हैं। मूल्यांकन की कई आधार-शिलाओं पर संरचना होती है, जिन्हें हम आर्थिक, नैतिक और सौंदर्यपरक मूल्यों के मानदंड कह सकते हैं।

मान लीजिए कि हम मानव जीवन और उसके पात्रों के संबंधों के मानदंडों से मूल्यों की परिभाषा जानें। सवाल उठता है कि यह मूल्य उस उपयोगिता या प्रभावशीलता से किस तरह भिन्न है जिसका जिक्र अर्थशास्त्री करते हैं। यह तो निश्चित है कि ये संकल्पनाएं व्यक्ति-वस्तु के उन्हीं संबंधों को प्रभावित करती हैं, मगर केवल एक ही दिशा में। यानी जैसे अगर हम उपयोगिता-विरुद्ध बात नहीं करते तो नकारात्मक मूल्य पर विमर्श भी टाल सकते हैं। मैं मूल्य शब्द के इतने अटपटे प्रयोग से बचूंगा।

जो चीजें हमें नुकसान पहुंचा सकती हैं उनसे भी हमारा संबंध होता है। वे हमें उदासीनता से वैसे ही अलग रखती हैं जैसे हमारी मददगार चीजें। लेकिन दोनों हालात में, हमारा मूल्यांकन संबंधों के बल पर ही निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, पानी में या पानी का अपने आप में कोई मूल्य नहीं है। अक्सर वह उपेक्षित

रह जाता है। लेकिन जब पानी की प्यास लगती है, तो उससे जुड़ाव पैदा हो जाता है। तब यह देखा जाता है कि पानी में प्यास शांत करने की क्षमता है, जिस तरह से प्यासे व्यक्ति में तृप्त होने की। बाढ़-प्रकोप जैसे अवसरों पर पानी केवल विनाशकारी लगता है। मूल्य न तो व्यक्ति में निहित है न वस्तु (पानी) में बल्कि वह दिखाई देता है उनके बीच आकर्षण अथवा विकर्षण में।

फिर भी, यह परिभाषा दोषपूर्ण ही है। हमने देखा है कि दार्शनिक यह सवाल करते हैं कि कहीं वस्तु की प्रासंगिकता उसी में तो निहित नहीं होती ? दुर्खीम का इशारा था कि लोगों के लिए जीवन का मूल्य इसलिए है क्योंकि वे खुद जीवित वस्तु हैं। इस प्रकार, गेहूं में निहित मूल्य जीवन-सहयोगी पोषक संबंध के कारण ही है। न्याय एक गुण है क्योंकि वह जीवन की महत्ता का हामी है, हत्या इसके विपरीत कारण से एक जुर्म है। बहुत दफा मूल्य केवल वस्तुओं में निहित गुणों की अभिव्यक्ति मात्र लगती है, एक तर्कपूर्ण निष्कर्ष में ढाली हुई।

इस तरह की दलीलों में कुछ सचाई हो या नहीं, वे प्रतीकात्मक मूल्य के तथ्यों को स्पष्ट नहीं करतीं। मूर्तिपूजा इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। पूरे इतिहास में शायद ही कुछ ऐसा हो जो मूर्तिपूजा के योग्य न माना गया हो। लकड़ी और पत्थर से बने आदर्शों में कोई गुणात्मक लक्षण हो, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। मानव ने सबसे अधिक दया के पात्र जानवरों तक के साथ धार्मिक भावनाएं जोड़ी हैं। यह मान्य धारणा कि पूजा की वस्तु वह होती है जो मानव की कल्पना को असीमित बनने की प्रेरणा देती है, इस तरह के ऐतिहासिक विरोधाभासों से धराशायी हो जाती है। लोगों ने कई तरह की ऐसी चीजों में अपना विश्वास प्रकट किया है जिनके मूल्य का उनसे कुछ सरोकार ही नहीं था। यह सब केवल धर्म तक ही सीमित नहीं है। ये विरोधाभासी प्रवृत्तियां हमारे नैतिक जीवन में व्याप्त होती हैं, जब भी प्रबल विश्वास समक्ष हों। झंडा कपड़े का एक टुकड़ा होता है लेकिन सिपाही उसकी रक्षा के लिए जान की बाजी लगा देते हैं। इसके अलावा, विलासिता की वस्तुओं का विनिमय मूल्य उनमें निहित गुणों से कहीं अधिक होता है। उनका मूल्य पैदा होता है क्योंकि समाज में उसके मालिक होने को उच्च-स्तरीय माना जाता है। इस प्रकार हम मूल्य के इस स्वरूप पर वापस आते हैं : वह जो हमें उस संबंध के लिए मान्य हो जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हमारे वातावरण में एक महत्वपूर्ण तत्व का प्रतिनिधित्व करता है।

मूल्य के अंशभूत तत्व

मूल्य की संकल्पनाओं का विश्लेषण करने में अब हम आगे बढ़ते हैं। इसके लिए हम उन लक्षणों को पृथक करेंगे जिनका हमने विषय और वस्तु के संबंधों में मूल्यांकन किया है, स्वयं विषय अथवा वस्तु के भेदीकरण द्वारा। हम इसकी शुरुआत ऐसे

कर सकते हैं कि पहले हम संपूर्ण संबंध-शृंखला में से वे संबंध पृथक करें जो हमें प्रासंगिक लगते हों, और फिर उसमें से व्यक्तिपरक तत्वों को वस्तुपरक तत्वों से पृथक करें।

जैसा कि हमने देखा, मनुष्य कुछ गतिविधियां अचेतन मन से करता है, जब कि अन्य को चेतन ध्यान की आवश्यकता पड़ती हैं। इसी तरह विभिन्न तथ्यों और संबंधों को हम चेतन अथवा अचेतन मन से बरतते हैं। जब उनकी तरफ हमारा रुख केवल बौद्धिक बोध के रूप में होता है, बिना किसी भावात्मक प्रभाव के, तब वे हमें विशेष प्रभावित करते हुए प्रतीत नहीं होते। इसमें हमें उनमें कोई विशेष मूल्य नजर नहीं आता। प्रतिदिन हम सड़क पर सैकड़ों लोगों के पास से गुजरते हैं लेकिन हमारी प्रतिक्रिया केवल उन्हीं के प्रति होती है जो हमारी शांत तटस्थता को झकझोर कर प्रेम या दुश्मनी जगाते हैं। इसके अलावा हमारे आसपास की दुनिया के प्रति हमारी तात्कालिक प्रतिक्रिया कई अवयवों से मिली जुली होती है जैसे हमारा ज्ञान का स्तर या हमारा व्यक्तिगत चरित्र यानी वे व्यक्तिगत अंतर जो हमारे अपने दृष्टिकोण को कुछ मापदंडों पर केंद्रित करते हैं दूसरे मापदंडों के बनिस्पत।

मूल्यांकन के लिए अपने अस्तित्व की निरंतरता को संज्ञान-आधार मानते हुए, हम पहले अलाभकारी और लाभकारी चीजों में भेद करते हैं । इस जगह हम यह प्राथमिक अंतर स्थापित करते हैं कि किस वस्तु का मूल्य है, किसका नहीं। लेकिन बहुत कम ऐसा होता है कि परिस्थितियां श्वेत-श्याम में विभाजित हों। उदाहरण के लिए, मान लीजिए हमारे पास कोयले के दस बोरे थे जिनमें से हमने जाड़ों में केवल आधे का ही इस्तेमाल किया, यानी पांच बोरे अनछुए रहे। जाड़ा शुरू होने पर हमारे पास कोई तरीका नहीं था कि हम यह जान सकें कि आने वाले महीनों में हमें गर्म रखने के लिए कितने बोरों की खपत होगी। इसलिए दसों बोरे उचित रूप से मूल्यवान थे। जब गर्मियां आईं तो बचे हुए बोरों का मूल्य ही नहीं बचा। यानी उनकी कोई तात्कालिक उपयोगिता नहीं बची, हालांकि यह दलील दी जा सकती है कि उनका इस्तेमाल अगले जाड़ों में हो जाएगा। केवल गर्मियों में ही कोयले का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि आधे साल बाद ही वह फिर मूल्यवान हो जाएगा। बल्कि कहना यह चाहिए कि हम उसमें फिर मूल्य पाएंगे। कुछ ही महीनों में मूल्य शून्य हो गया और फिर उतना ही श्रेष्ठ। वे चीजें जो आज पूरी तौर पर उपेक्षित हैं, हो सकता है कि व्यक्ति, समय और स्थान के उचित समागम से नए सिरे से उनके मूल्यवान होने का अनुभव हो।

उपयोगितावाद के चलते मूल्य को केवल उपयोगिता के रूप में देखना, वास्तविक दुनिया की जटिलताओं में कोई माने नहीं रखता। यह 'हां' या 'न' का सरल अंतर नहीं है। मूल्यांकन करते समय वर्तमान में जीवंत सिलसिलों की बहुतायत होती है। ऐसे सिलसिले जिनमें किसी भी वस्तु का मूल्यांकन भौतिक या प्रतीकात्मक, शारीरिक

या मानसिक-साधन और साध्य की तराजू में मूल्य को प्रासंगिकता के योग के रूप में देखता है। लेखा जोखा रखने को, हम इस ध्रुवीकरण की परिभाषा यूं भी कर सकते हैं : सक्रिय सहयोगी मूल्य बनाम निष्क्रिय अवरोधी मूल्य। यानी, हमारी मौलिक और रोपित आदतें जिसके चलते हम सक्रिय रूप से लाभप्रद की तलाश में रहते हैं और निष्क्रिय रूप से हानिकारक का अवरोध करते हैं। हम इसे सकारात्मक अथवा नकारात्मक मूल्य के विभाजन में ऐसे देख सकते हैं जैसे बही-खाते में लाभ अथवा हानि। अधिक स्पष्ट और जाने-पहचाने रूप में, हम अच्छे को बुरे पर, लाभ को हानि पर और खूबसूरती को बदसूरती पर प्राथमिकता या बढ़ावा देते हैं। कभी कभी हम विरोधात्मक मूल्यों को तर्क के अलग अलग स्वरूपों के ऊपर छोड़ देते हैं, या निर्णय को भविष्य पर टाल देते हैं। ऐसा तब होता है जब नकारात्मक और सकारात्मक दो संभाव्य नतीजों के साथ प्रकट होते हैं।

अटल सत्य के विपरीत मूल्य बदल सकता है और बदलता है। मेजी काल (1868-1912) में मिट्टी के तेल की लालटेनें शुरू हुईं तो उन्हें कागज की लालटेनों पर विकास माना गया। लेकिन कालांतर में बिजली की रोशनी आ जाने से उनका मूल्य एकाएक घट गया। लेकिन आज का यह रद्दी माल पुरानी चीजों के संग्रहकर्ता के लिए कल एक खजाना बन सकता है या कुछ देर अगर बिजली गुल हो जाए तो इस्तेमाल तो हो ही सकता है।

जब कभी व्यक्ति और वस्तु के बीच समीकरण बदलता है, मूल्य भी बदलते हैं। पहला, मूल्यांकन की जाने वाली वस्तु स्वयं ही बदल जाए, अवनति या उतक्रमता की प्रक्रिया के चलते। जैसे उपर्युक्त कोयले के उदाहरण में जो राख बन जाने के बाद अपना मूल्य खो बैठता है। दूसरी ओर हो सकता है कि व्यक्ति के दृष्टिकोण में ही कोई बदलाव आ जाए। मनुष्य के मनोयोग की अवधि काफी सीमित होती है और नयापन जल्द ही दूर हो जाता है। विशेष रूप से आर्थिक उपक्रमों में भी यही होता है। बाजार में गर्मागर्मी रहती है जब तक कि संतृप्ति बिंदु न आ जाए। गोसेन ने अपने 'मनोरंजन के ह्रासमान नियम' में बताया था कि - (i) मनोरंजन की मात्रा प्रदर्शन की अवधि के उलटे अनुपात में होती है, जो घटते घटते उदासीनता की कगार पर पहुंच जाती है; और (ii) नए सिरे से किए जाने वाला प्रदर्शन अपना पहले वाला आकार नहीं पाता है, बल्कि उसके प्रति उदासीनता और अधिक तीव्र गति से बढ़ती है। यानी पुनरावृत्ति से मनोरंजन की अवधि और मात्रा कम हो जाती है।[3]

मूल्य के प्रकार

मूल्य का श्रेणीबद्ध व्यवस्थापन

"सत्य-हित-सुंदरता" के संस्थापित प्रतिमान को नकार के हमने मूल्यों का 'लाभ, हित

और सौंदर्य' पर आधारित प्रतिमान बनाया है। अब हम इसे एक व्यापक संकाल्पिक व्यवस्था में समाहित करेंगे। संदर्भ के रूप में लाभ को हम वह मूल्य मानेंगे जिनकी मनुष्य के संपूर्ण जीवन से प्रत्यक्ष प्रासंगिकता हो। लाभ पूर्ण व्यक्ति के लिए निजी और प्रतिसंवेदी होता है। इसके विपरीत, सौंदर्यबोधी मूल्य केवल इंद्रियों को ही प्रभावित करते हैं। ये व्यक्ति के जीवन की संपूर्णता के साथ थोड़ा बहुत ही संबंध बनाते हैं। सौंदर्यपरक वस्तु बोधिन्द्रियों को उत्तेजित करती हैं, प्रसन्नता या अप्रसन्नता का भाव जगाती हैं जिसका मूल्यांकन खूबसूरती या बदसूरती के रूप में होता है। यह जीवन के व्यापक संदर्भ में समाहित हो जाने के चिंतन से मुक्त होता है। यानी, संपूर्ण स्वयं से कमतर ऐंद्रिय मूल्य विलग हो जाते हैं। इनके विपरीत, और भी उच्च स्थिति में जहां प्रासंगिकता केवल व्यक्ति विशेष तक ही सीमित रहने के बजाय व्यक्ति के सामाजिक जीवन को भी प्रभावित करे, समुदाय के संयुक्त नैतिक मूल्य हित की संरचना करते हैं। बड़ी आसानी से हम मूल्यों के श्रेणीबद्ध वर्गीकरण की छवि एक पिरामिड के रूप में उभार सकते हैं - जहां सौंदर्यबोधी-मूल्य आधार पर हों और नैतिक-मूल्य शिखर पर।

1. हित : सामूहिक सह-अस्तित्व से संबद्ध सामाजिक मूल्य।
2. लाभ : स्व-दिशान्वित व्यक्तिगत अस्तित्व से संबद्ध निजी मूल्य।
3. सौंदर्य : व्यक्तिगत अस्तित्व के एकाकी भागों से संबद्ध संवेदी मूल्य।

हर वर्ग में, मूल्यांकन का मूल्यांकित वस्तु की प्रकृति में निहित किसी चीज से लेना-देना कम है। बल्कि, वे मूल्यांकन के मापदंड ही हैं, जो पारस्परिक प्रासंगिकता के स्तर को स्थापित करते हैं। हर व्यक्ति उसी चीज का मूल्यांकन कई प्रकार से कर सकता है, अलग अलग पारस्परिक संबध ढूंढ़ सकता है, और उसके अनुसार उसे प्रशंसा या आलोचना का पात्र करार दे सकता है। अगर हम वस्तु को अच्छे या बुरे की तराजू में तौलें तो हम नैतिक मूल्य ढूंढ़ेंगे; लाभ और हानि या मुनाफे और नुकसान के संदर्भ में आर्थिक मूल्य और खूबसूरती और बदसूरती के पलड़ों में उसी वस्तु के सौंदर्यपरक मूल्य का आकलन करेंगे। यानी सब कुछ मूल्यांकन के मापदंडों पर निर्भर करता है।

मान लीजिए किसी वस्तु के संपर्क में आने पर हमारी प्रतिक्रिया इस प्रकार की है : "हां, अच्छी है, दिल बहलाती है।" यह बहुत सतही प्रतिक्रिया है और दर्शाती है कि वह वस्तु हमारी जीविका या सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण नहीं है। हम उस विचार से परे, केवल सौंदर्य बोध के आनंद में मगन होते हैं। अगर होशियारी हमारे आनंद में रुकावट न डाले, तो हम अपनी हर इच्छा को आजादी से पूरा करना चाहेंगे। दूसरी ओर, अगर वह चीज इतनी शानदार है कि हमारी पहुंच से बाहर है, तो हम श्रद्धा और विस्मय की हद तक ही जाएंगे। लेकिन इसके बजाय अगर हम उसी चीज को उपयोगी अथवा सहूलियत या लाभ देने वाली होने का आभास पाते हैं,

हमारी भावनाएं आनंददायक कम और उसके इस्तेमाल की तरफ ज्यादा हो जाती हैं। इस स्थिति में हम उस वस्तु का आर्थिक मूल्य पा लेते हैं। या फिर, समाज की निगाह से देखें तो, वह वस्तु शायद सर्वव्यापी रूप से इतनी हितकारी या अच्छी हो सकती है कि हमारे प्रेम और सम्मान की पात्र बन जाए। इस संबंध से, उसमें नैतिक मूल्य का पदार्पण हो जाता है।

यह जरूरी नहीं है कि नैतिक मूल्यांकन केवल मानवीय क्रिया तक ही सीमित हो जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है। न ही आर्थिक मूल्यांकन धन-संबंधी चिंतन तक सीमित है या सौंदर्यपरक मूल्यांकन कलाकृतियों तक। सामाजिक पद, पालन पोषण या पृष्ठभूमि की अन्य परिस्थितियों के चलते, मूल्यांकन करने वालों के विभिन्न परिप्रेक्ष्य किसी के व्यक्तिगत आचार को भी सौंदर्यपरक या नैतिक आलोचना का पात्र बना सकते हैं। एक शराबी का अटपटा व्यवहार राह चलते व्यक्ति के लिए मनोरंजन का पात्र है तो बच्चों के लिए चिढ़ाने का। उन सबके लिए वह निरा मजाक है। लेकिन वे चरित्रवान व्यक्ति जो सार्वजनिक नैतिकता को अपना नागरिक कर्तव्य मानते हैं, उसकी खिल्ली नहीं उड़ाएंगे। वे अपने ऊपर यह जिम्मेदारी ले लेंगे कि वह उस शराबी को उसकी नैतिक अवनति के लिए डांटें, फटकारें, समझाएं-बुझाएं। फिर शराबी के दोस्त और रिश्तेदार जिनके उसके साथ सामीप्य के संबंध हैं, वे उसकी करतूतों के साथ कितनी सख्ती कर पाएंगे ? अगर अपमान का बोझ उनके स्वाभिमान को ठेस पहुंचाता है तो वे उसके ऊपर आर्थिक अवनति का दोष लगाएंगे और कोशिश करेंगे कि उसका आचरण बदलें। अगर पति-पत्नी में झगड़ा हो तो यह तो हो ही नहीं सकता कि उस झगड़े को सगे-संबंधी शांति से, तटस्थ होकर देखें। लेकिन बाहर से देखने वाला उसको सौंदर्यपरक स्तर पर देखता है। प्रकृति में होते रहने वाली अजीब-सी घटनाओं के जैसे या सिर्फ एक क्षणिक दिलचस्प चीज जैसे। इस प्रकार हालांकि नैतिक, सौंदर्यपरक या आर्थिक मूल्यों में अंतर होता है, लेकिन विभिन्नता चीजों में नहीं बल्कि मूल्यांकन करने वालों के रुख में निहित होती है।

आर्थिक मूल्य

मूल्य की संकल्पना, पहले सिर्फ आर्थिक तथ्य के रूप में देखी जाती थी। अब ऐसा लगता है कि उसके सौंदर्यपरक, नैतिक और सामान्य दर्शन के क्षेत्रों में भी प्रभाव होते हैं। कम से कम उससे यह बात स्पष्ट होती है कि मूल्य की व्यापक परियोजना में या विभिन्न कार्यान्वित क्षेत्रों में मुनाफे या लाभ के रूप में मूल्य के नैसर्गिक स्वरूप का, क्या अर्थ निकलता है। अर्थशास्त्र में केवल एक मापदंड मात्र अब लाभ और हानि के बीच एक अनंतामुख बंधन के रूप में दिखाई देता है। अंततः यही वे तत्व हैं जो विषयक या व्यक्ति का जीवन क्रमशः बढ़ाने या घटाने में संलग्न

रहते हैं।

अर्थशास्त्री सामान्य रूप से मूल्य की संकल्पना को धन के रूप में स्पष्ट और विश्लेषित करते हैं। लेकिन अक्सर वे धीरे धीरे धन पर संपत्ति का भ्रम करने लगते हैं। सतही तौर पर दोनों एक ही जैसे लगते हैं, मगर तुलना करने पर पता चलता है कि दोनों के अर्थ में निश्चित रूप से विभाजन है। संपत्ति आमतौर पर धन का एक आयाम मानी जाती है। धन में वह हर चीज शामिल है जिसमें मनुष्य की भौतिक अथवा मानसिक इच्छाएं पूरी करने की क्षमता हो।

यहां मैं अपना प्रस्ताव दोहराना चाहूंगा कि मानव पदार्थ का सृजन नहीं कर सकता, हम केवल मूल्यों का सृजन कर सकते हैं। मोटे तौर पर अर्थशास्त्री इससे सहमत हैं, हालांकि उनकी शब्दावली अलग हो सकती है। चाहे उसे सृजन की संज्ञा देने के बजाय धन संपत्ति या उपयोगिता कहा जाए। मानव का श्रम अधिक से अधिक प्रदत्त वस्तुओं में नई उपयोगिताएं ढूंढ़ सकता है - दुबारा मिलाजुला के, पुनर्सरचना या पुनर्व्यवस्था करके।

मनुष्य संपत्ति को आर्थिक गतिविधि के रूप में पाने और इस्तेमाल करने के जतन करता है, और उससे जीवन के भौतिक पहलू को समृद्ध बनाता है। हम उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की क्षमताओं को स्वीकार करते हैं। यह गुण तब तक छिपा रहता है जब तक कि वह मानव की इच्छाओं से संबद्ध न हो। उपयोगिता प्रकट तब होती है जब कोई जीवन के लिए आवश्यक वस्तु किसी मांग को पूरा कर देती है। इच्छा और संपत्ति एक दूसरे को आकर्षित करती हैं और दोनों पारस्परिक प्रासंगिकता को अधिकतम बढ़ाने में प्रयत्नशील रहती है। इच्छा-संपत्ति के नए समीकरण के चलते, परिवर्तन उपयोगिता में बदलाव लाते हैं या उसकी पुनर्सरचना करते हैं। जैसे जैसे इच्छा बढ़ती है, ऐच्छिक संपत्ति की उपयोगिता बढ़ती है। जब इच्छा घटती है, जो उसी अनुपात में उपयोगिता भी घटती है। इसी तरह, अगर मांग स्थिर भी रहे तब भी, संपत्ति के स्वभाव में कोई घटत-बढ़त, उपयोगिता में भी परिवर्तन का कारण बन जाएगी।

अर्थशास्त्र मूल्य शब्द का इस्तेमाल दो रूपों में करता है। उपयोगिता-मूल्य, हर व्यक्ति के व्यक्तिपरक लाभ की अभिव्यक्ति है। विनिमय-मूल्य, उपयोगिता-मूल्यों की खुले बाजार में तुलना करता है ताकि व्यक्तिपरक व्यक्तिगत लाभ को सामान्य लोकजन के प्रति वस्तुपरक मान्यता मिल सके। फिर यही निर्धारित और प्रामाणिक अनुपात, संपत्ति के हस्तांतरण की विनिमय दर तय करता है। यही व्यक्तिपरक प्रयत्न का वस्तुपरक परिणाम है।

नैतिक मूल्य

हितकारी और अहितकारी की संकल्पनाएं अनूठे रूप में सामाजिक हैं क्योंकि वे किसी

समुदाय का अपने सदस्यों के प्रति निर्णय को दर्शाती हैं। वही उन्हें सराहना या धिक्कार का पात्र बनाते हैं। 'हित' को केवल इस रूप में परिभाषित करना कि वह लोकजन की भलाई में योगदान देता है, सरलीकृत लगता है। लेकिन, फिर भी इससे अच्छी अभिव्यक्ति और क्या हो सकती है ? व्यक्तिगत या पारिवारिक स्तर पर लाभ और इनके योग द्वारा बनाए गए समुदाय की उन्नति - इन दोनों के बीच एक पैना अंतर है। जब निजी और लोकजन के हितों में टकराव होता है तो निजी हित बुरा है क्योंकि वह समाज में अहितकारी प्रभाव डालता है। इन मामलों में मूल्यांकन बेशक समुदाय की तरफदारी करता है। दूसरी ओर, अगर कोई समाज की संपन्नता को प्राथमिकता देता है, तो उसका इस तरह अपने जीवन को एक विशाल जीवन के लिए अर्पित कर देना उसे सद्गुणी होने का मान देता है।

यहां विरोधात्मकता प्रत्यक्ष है। एक ओर तो व्यक्तिगत लाभ जिसकी साझेदारी सबके साथ है 'हितकारी' माना जाना है, जबकि दूसरों से परे व्यक्तिगत लाभ 'अहितकारी'। अगर मूल्यांकन का दृष्टिकोण बेढंगा नहीं है - यानी भ्रांतिपूर्ण, अव्यवस्थित या भ्रष्ट नहीं है, तो व्यक्तिपरक लाभप्रद की व्याख्या समुदाय के सदस्यों की सामूहिक लाभ की व्याख्या जैसी ही होगी। यह सहजबुद्धि मानव की प्रवृति है।

हमारे सारे सापेक्ष मूल्यांकनों की जड़ में स्वयं-की सुरक्षा की प्रवृति होती है। जिंदा रहना हमारे लिए अनपेक्ष मूल्य है और उसी में से सापेक्ष मूल्यों की शाखाएं फूटती हैं। यह रुझान मानवों ही नहीं बल्कि सब जीव-जंतुओं के व्यवहार में होता है। इसलिए हम यह मान सकते हैं कि वैयक्तिक विशिष्टता के बावजूद यह मानव की इच्छाओं का सार्विक आधार है। बहरहाल, इन सारे लक्षणों का वस्तुपरक मूल्यांकन सीमाओं का निर्धारण करने में निहित है। जिन चीजों की खोज लोग सक्रिय रूप में करते हैं उनकी तो अनंत किस्में हैं। लेकिन जिसका वे निष्क्रिय रूप से विरोध करते हैं, उसमें समानता है। संयम द्वारा निर्धारित दायरे नैतिकता का परम और अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्धांत इसी में निहित है। पश्चिम में अवरोध के इस धारे की अभिव्यक्ति 'गोल्डन रूल' में है : "औरों के साथ वैसा व्यवहार करो जैसा कि तुम उनसे अपने प्रति चाहते हो"। लेकिन यह उक्ति भी एतराज से परे नहीं है। क्योंकि इसमें सक्रिय रूप से यह सुझाव झलकता है कि यह अवश्यंभावी है कि हर कोई समान चीज चाहे। लोगों की इच्छाओं में इस तरह की सार्वभौमिकता नहीं होती, न ही यह नियम सर्वव्यापी तौर पर लागू होता है। इसके बजाय पूरब की यह कहावत वैज्ञानिक सत्य की वस्तुपरकता के नजदीक है : 'औरों के साथ ऐसा कुछ न करो जैसा कि तुम उन्हें अपने प्रति नहीं करने देना चाहते।'[4]

लेकिन फिर भी, सिर्फ कुछ गलत न करने से मनुष्य गुणवान नहीं बन जाता। बस उसे उस शर्मिंदगी का सामना नहीं करना पड़ता जो अनैतिक मनुष्य को उठानी पड़ती है। इस तरह के बंधन को सारी नैतिकता का एकमात्र सिद्धांत नहीं समझा

जा सकता, हालांकि इसमें नैतिकता के एक पहलू का पुट है अवश्य।

इस संदर्भ में अपराध को समाज-विरोधी व्यवहार कहा जा सकता है। केवल विकृत, मूर्ख या विक्षिप्त व्यक्ति के संकीर्ण मूल्यांकन में ऐसा चलन सही माना जा सकता है जो समाज के अन्य सदस्यों के लिए परेशानी का कारण होता है। कुछ लोगों को देखकर लगता है जैसे वे अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर ही नहीं सकते जब तक कि वे उन लोगों के अधिकारों क हनन न करें जो उनके साथ जीवन के वातावरण को बांटते हैं। अगर ऐसे लोगों में उनके सामाजिक अस्तित्व की जानकारी जगाई जा सके तो उन्हें मनाया जा सकता है कि वे सामाजिक हितों से समन्वय करते हुए भी अपने निजी लाभ खोज सकते हैं। यह शिक्षा और पोषण का ही एक प्रकार्य है। जब तक कि बच्चों के चरित्र का निर्माण अधूरा होता है, उन्हें दूसरों के अधिकारों के हनन करने की स्वाभाविक-सी सनक हो सकती है। लेकिन कटिबद्ध परिवार उच्छृंखलताओं को एक दूजे के प्रति सद्भावपूर्ण व्यवहार में बदलने के लिए अथक प्रयत्न करेंगे। घर पर मिली ऐसी शिक्षा उत्तरदायी नागरिकों को खड़ा कर सकती है।

कानून नैतिकता के न्यूनतम स्तरों का नियंत्रण करता है। वह लोगों को सक्रिय रूप से अच्छे काम करने के लिए प्रेरित नहीं करता, वरन सिर्फ उन्हें गलत काम करने के लिए सजा देता है। तकनीकी दृष्टि से, अदालतों के पास यह ताकत नहीं है कि वे उन लोगों के मामलों में दखल दें जो सकारात्मक हित के कार्य नहीं करते। अदालतें सिर्फ कानून तोड़ने वालों को इस फैसले के तहत सजा देती हैं कि वे गलत काम करने वाले या अपराधी हैं। इस तरह अधिकारीगण अपना ध्यान जुर्म करने वालों के ऊपर केंद्रित करते हैं और साथ साथ समाज के अन्य सदस्यों के अधिकारों की सुरक्षा भी। न्यायिक प्रशासनों का अस्तित्व हित के प्रोत्साहन के लिए नहीं बल्कि पुनश्चः के रूप में सजा सुनाने के लिए हैं। वे वास्तव में बुराई को रोक नहीं सकते।

यहां पर भी किसी भी व्यक्ति के चलन की नैतिकता, व्यक्तिगत लाभ का ही मूल्यांकन करती है। सामाजिक दृष्टिकोण से और अच्छे से लेकर बुरे तक के पैमाने में। कानून इस पैमाने के एक सिरे का नियंत्रण ही करता है; इस बात का निर्णय करता है कि क्या कोई करतूत नैतिकता की निचली सीमा का उल्लंघन करके अमानवीय सीमा में पहुंच गई है; और फिर, निर्णयानुसार, उसे सही करने के लिए कदम उठाता है।

आइए, इस नैतिक निर्णय की अधिक विस्तार में जांच करें :

1. क्या शब्द 'अच्छा' या 'बुरा' मनुष्यों के अलावा किसी और परिसर पर लागू किया जा सकता है ? नहीं - जिस रूप में हम इन शब्दों का इस्तेमाल कर रहे हैं, उसमें नहीं।

2. क्या सब मानवीय क्रियाओं को - 'अच्छी' या 'बुरी' की संज्ञा दी जा सकती

है ? फिर, नहीं। मानव गतिविधियों के एक विशेष अंश को ही नैतिक मूल्यांकन का विषय माना जा सकता है।

3. (क) मानवीय क्रियाओं के किस वर्ग को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है ? केवल वही कार्य जो समझ-बूझ कर किए गए हों।

(ख) मानवीय क्रियाओं के किस वर्ग को अच्छा या बुरा नहीं कहा जा सकता ? प्रत्यक्ष है कि वे काम जिन्हें जानबूझ कर न किया गया हो, क्योंकि सचमुच में वे अन्य प्राकृतिक कार्यों से अलग नहीं हैं।

4. क्या सब जानी-बूझी क्रियाओं को अच्छी या बुरी कहा जा सकता है ? जवाब फिर 'नहीं' है। सिर्फ वही जानी-बूझी क्रियाएं जिनका समाज पर असर पड़ता है, अच्छी या बुरी कही जा सकती हैं।

5. (क) क्या उन क्रियाओं को जिन्हें जानबूझ कर खुद अपने प्रति किया गया है, अच्छी या बुरी समझा जाना चाहिए ? आमतौर पर नहीं, मगर ज्यादातर समाज आत्महत्या जैसी क्रियाओं को बुराई मानते हैं।

(ख) क्या मनुष्य जाति से बाहर की वस्तुओं के प्रति जानबूझ कर की गई क्रियाओं को अच्छी या बुरी मानना चाहिए ? अगर वे अपरोक्ष रूप से दूसरों पर या मानव समाज के ऊपर प्रभाव न डालें, तो नहीं।

(ग) क्या दूसरों या समाज के प्रति की गई क्रियाओं को अच्छी या बुरी की संज्ञा दी जा सकती है ? हां - यही अच्छे या बुरे के मूल्यांकन का उचित दायरा है।

संक्षेप में, जब एक पूरा मानवीय समुदाय अपने किसी एक सदस्य का विरोध करता है, या जब समाज का एक हिस्सा बाकी का विरोध करता है, अच्छे या बुरे के मूल्यांकन की आवश्यकता होती है। बहरहाल, व्यक्ति-विरुद्ध-व्यक्ति अथवा समाज-विरुद्ध-समाज जैसे अन्य किसी विरोध में, इस तरह के निर्णय नहीं होते। (लेकिन यह बात दिलचस्प है कि समाजों के आपसी टकरावों के सिलसिले में हम आर्थिक लाभ या हानि के तुलनात्मक मापदंडों पर वापिस पहुंच जाते हैं।)

सकारात्मक नैतिक मूल्य यानी हितकारी मूल्य के मुद्दे को समझने के लिए दार्शनिक इतिहास की, विशेषकर प्लेटो के आदर्श की, मिसालों से सीख लेना श्रेयस्कर होगा। पहले हमें यह नोट करना चाहिए कि सुकरात ने 'अच्छाई' को 'विलास' अथवा 'प्रसन्नता' या 'इच्छापूर्ति' से अलग करार दिया है। इसी तरह, उपलब्धियां, स्वास्थ्य, धन और सम्मान इत्यादि वे तात्कालिक उद्देश्य जिनकी कामना लोग दैनिक जीवन में करते हैं, उन्हें केवल एक साध्य से या परम हित से संबद्ध साधन-मात्र ही समझा जाता है। पोलास के साथ एक वार्तालाप में सुकरात का सुझाव था कि क्रिया विचार के बाद शुरू होती है; अगर विचार न्यायपूर्ण है तो फलात्मक क्रिया हितकारी होगी। लेकिन जैसे ही यह लगने लगता है कि सुकरात ने न्याय को ही नैतिक मूल्यांकन

का परम सिद्धांत माना है, यह सवाल उठ खड़ा हो जाता है : हम इस तरह के फैसले कैसे कर सकते हैं, बिना यह जाने कि सही या गलत है क्या ? यानी, सुकरात के लिए सबसे उलझी हुई गुत्थी अब भी 'हित' या 'अच्छाई' रूपी मूल्य को लेकर ही है। जिस समाधान पर वह पहुंचे उसके अनुसार हर व्यक्ति और वस्तु में नैतिक हित या अच्छाई का तत्व निहित है। जब तक कि यह अपरिभाषित हित सार्वभौमिक है, दुनिया में एक नैतिक क्रम सर्वव्यापी है। और इसमें कोई इत्तफाक भी नहीं है। हम यह मान सकते हैं कि सुकरात के लिए यह क्रम एक सर्व-सम्मिलित एकजुटता है; एक जीवंत संपूर्णता है जिसके अंतर्गत हर चीज, हर क्रिया में निहित अच्छाई या हित, जीवन के पूर्ण और अखंड हित से संबद्ध होकर, प्रकट होता है। बाह्य परिवर्तनों से अनछुए इस अखंड हित का अस्तित्व आदिकाल से है।[5]

लेकिन हम चाहे हित को न्याय से संबद्ध रूप में देखें या न्याय को हित के रूप में, बुनियादी मुद्दा यह है कि हम वास्तविक दुनिया में इन मूल्यों को विश्वसनीय तरीके से कैसे पहचानें। मानव और सृष्टि की हर चीज में निहित अच्छाई की काल्पनिक अनंत निरंतरता के दावों के विवाद से, यह बात बिल्कुल अलग है। व्यावहारिक रूप में, प्लेटो के आदर्श और कन्फ्यूशियन रिवर्स गोल्डन रूल के बीच में कोई दर्शनीय अंतर नहीं है। यानी, कन्फ्यूशियस के मत का सार नैतिक रूप में गलत चीज के बारे में सुस्पष्ट वक्तव्य देना है - यह एक ऐसी परिभाषा है जो इतनी सुचारु और बुनियादी है कि न्याय-संगत कैसे किया जाए, यह किसी को सिखाना नहीं पड़ता। हमारी स्वाभाविक प्रवृतियों में यह सिद्धांत निहित है और हमें कभी गलत रास्ते पर नहीं जाने देगा।

यह जरूरी नहीं है कि 'अच्छाई' की इतनी परिभाषाएं और बारीकियां, जिन्होंने इतने बरसों में मान्यता भी पाई है, 'अच्छाई' की हमारी समझ से इत्तफाक करें। असल में हमने जो अच्छाई की समझ अपने विचार-विमर्श में अब तक बनाई है, उसे लेकर हमारी आपस में ही सहमति नहीं है। एक कट्टर व्यक्तिवादी कहेगा कि स्वयं से प्रेम ही 'अच्छाई' है, जबकि एक अच्छा क्रिश्चियन दूसरों से प्रेम में 'अच्छाई' ढूंढ़ेगा। प्राचीन यूनान में, शब्द 'गुड' से मतलब निकलते थे बल, वीरता और उदारता। लैटिन में यह बल और वीरता का स्वरूप ले लेता था और फ्रेंच में इसका भावार्थ था दिलेरी। 'अच्छाई' के ये मतलब आज के उसके भावार्थ से बहुत दूर लगते हैं। लेकिन इसमें कोई शक नहीं है कि उन दिनों के लिहाज से जब लोगों को शांति और सुरक्षा कायम करने के लिए बलशाली होना पड़ता था, ये मतलब सार्थक लगते हैं। यह बात बिल्कुल प्रत्यक्ष है कि अच्छाई या 'गुड' का अर्थ स्थिर नहीं रहता बल्कि बदलती सामाजिक परिस्थितियों के सांचे में ढल जाता है।

जरूरी यह है कि हम अपने सर्वेक्षण के चलते यह सार समझ लें कि कोई भी समय या जगह हो, यह बात अचल रही है कि सामाजिक संदर्भ ही 'अच्छाई'

के भावार्थ को उजागर करता है। यानी, यह फिर साबित हो जाता है कि 'अच्छाई' का निर्णय समाज ही लेता है। इसके अलावा यह भी कि सामुदायिक हित सौंदर्य और लाभ के मूल्यों से ऊंचा समझा जाता है क्योंकि इन मूल्यों का केंद्र बिंदु व्यक्ति है और व्यक्ति रूपी अवयव के जरिए ये मूल्य पूरे समाज पर केवल अपरोक्ष प्रभाव डाल सकते हैं।

सौंदर्यबोधी मूल्य

सौंदर्यबोधी मूल्य की संरचना क्या है ? सौंदर्य नाम का यह गुण कौन-सा है जो इसे लाभ और अच्छाई या हित से अलग करता है ? मूल्य के रूप में पहचान बनाने के लिए सौंदर्यबोधी मूल्य को साधारणता की कैद से बाहर निकलना होगा। साथ साथ यह भी सच है कि क्योंकि अद्भुत सौंदर्यबोधी मूल्य हमारे अस्तित्व की केवल परिधि पर है, इसलिए यह अधिक महत्व की अपेक्षा नहीं कर सकता। यह मूल्य हमारी संवेदी इंद्रियों को एक आनंददायी अनुभूति या रोमांचक अवलोकन की तरह बस छूता भर है, हमारी चेतना में सुरक्षा इत्यादि जैसे सवाल उठाने का दम नहीं भरता।

कुछ विद्वान यह मानते हैं कि सौंदर्यबोधी मूल्य इंद्रियों द्वारा अनुभव की हुई वस्तुओं पर लागू होता है - यानी अभौतिक अनुभव जैसे एक सुंदर कार्य या एक सुंदर आत्मा इसके दायरे के बाहर है। लेकिन फिर भी मानवों में प्रशंसापूर्ण अनुभूतियां कार्यों, घटनाओं और विचारों को लेकर भी ऐसे ही जागती हैं जैसे कि भौतिक वस्तुओं को लेकर। इसलिए मुझे इस बात में तर्क दिखाई नहीं देता कि उन्हें खूबसूरत चीजों में गिना ही न जाए। क्योंकि यूं तो सुंदर कहे जाने वाले कार्यों को हम उन क्रियाओं के जैसे देख सकते हैं जो नैतिक मूल्य के वर्ग में ज्यादा उपयुक्त रहेंगी। लेकिन हम पाते हैं कि हम उन कहानियों और घटनाओं की तरफ भी आकर्षित होते हैं जिनका नैतिकता से विशेष संबंध नहीं होता। अब जैसे कथात्मक और अकथात्मक साहित्य, पढ़ने या सुनने के विशुद्ध आनंद के लिए, पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रचलित रहता है।

अगर खूबसूरत नहीं तो वह क्या है जो किसी चीज को दिलचस्प बनाता है ? जो मैं कह रहा हूं वह और साफ हो जाएगा अगर उसकी तुलना किसी अरुचिपूर्ण वस्तु से की जाए। अरुचिपूर्ण वस्तु अधिक से अधिक थोड़े निचले स्तर की हो सकती है लेकिन उसमें बदसूरती जैसे घृणा के कारण नहीं होते। हम हर उस चीज के प्रति तटस्थ और निष्क्रिय होते हैं जिसमें न तो सकारात्मक छवि होती है और न ही कोई निंदक कलंक। इस तरह हम यह पाते हैं कि खूबसूरती और बदसूरती को लेकर हमारे निर्णय एक दहलीज की तरह होते हैं।

कोई भी तथ्य या घटना - वह उचित हो या अनुचित, सजीव या निर्जीव

- सौंदर्य के मूल्यांकन के लिए ली जा सकती है। यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि सौंदर्यबोधी मूल्य विपरीतता के स्तर के अनुपात में बढ़ता है - यानी, सफलता और असफलता, आनंद और पीड़ा इत्यादि के बीच विपरीतता। मगर केवल उस सीमा तक जहां तक उस वस्तु की, जिसका सौंदर्यबोधी मूल्यांकन किया जा रहा है, एकजुटता अथवा अखंडता को यह विपरीतता या अनेकता नष्ट नहीं करती। दूसरे शब्दों में, वे चीजें जो नैतिकता या ईमानदारी के दृष्टिकोण से नकारात्मक मूल्य वाली समझी जाती हैं, उन्हीं में वे तत्व होते हैं जो सौंदर्यबोधी मूल्य की संरचना करते हैं - अपनी अध्यात्मिक विपरीतता के कारण, अपने 'दूसरे खेमे' में होने के कारण। यह नाटकीय फैलाव ही सुंदरता का स्रोत है।

मानवीय गतिविधियां हर बार उन्हीं ऐंद्रिक अवयवों से आंकी जाती हैं। लेकिन अगर दिलचस्पी जगाने वाले वस्तु के अलग अलग पहलुओं पर ध्यान केंद्रित किया जाए, तो मूल्यांकन के स्तर भी भिन्न होंगे। खूबसूरती या बदसूरती औपचारिक पहलुओं पर केंद्रित होती है। ये इंद्रियों पर पड़े प्रभाव का मापन करती हैं - चीजों की निरी बनावट से और चीजों एवं घटनाओं के संयोजन से पड़े प्रभाव का, जो काल और स्थान में उभरता, गिरता रहता है। दूसरी ओर, नैतिक 'अच्छा' या 'बुरा' समाज के जीवन में उभरते हैं जब वे व्यक्ति विशेष के संपर्क में आते हैं। रुचि सौंदर्यबोध मूल्य को दर्शाती है; वह अगर ऐंद्रिय लाभ की चेतना से नहीं उपजी है, तो निष्क्रिय सुगमता के उस धरातल को ढूंढ़ती है जो हानि से परे हो। इसलिए इसके चलते अपने दैनिक जीवन की एकरसता तोड़ के और अपने मानसिक रुझान बदल के, लोग आराम पाते हैं, अपनी थकान मिटाते हैं, और उदासी की जगह आनंद का अनुभव करते हैं।

विज्ञान, धर्म, मूल्य-सृजन और शिक्षा में संबंध

धार्मिक मूल्य - एक आवश्यक संकल्पना ?

सत्य, उत्तम और सौंदर्य से परे, विंडरवैंड ने 'पवित्रता' के मूल्य को मान्यता दी और उसे धर्म का प्रकार्य माना।[6] कई दार्शनिकों ने इसका अनुसरण किया है, इस दावे के साथ कि मूल्य-नियोजन की संस्थापना के लिए मूल्य का यह प्रकार अनिवार्य है। उनका मानना है कि हमें दैनिक जीवन में जिन मूल्य की किस्मों का अनुभव होता है, उन सबकी जड़ एक अनपेक्ष मूल्य में है - चाहे वह हमारे कलात्मक जीवन का सौंदर्य हो या हमारे आध्यात्मिक जीवन का सत्य (हालांकि हमने सत्य को मूल से विलग करके देखा है)। लेकिन इस तरह के धार्मिक मूल्य की स्थापना करने के लिए आधार शिलाएं क्या हैं ?

अगर धार्मिक मूल्य की कल्पना उस चरम पवित्र स्थल के रूप में की जाए

जहां लोगों की नैया पार होती है या वे मानव अवस्था से छुटकारा पा लेते हैं, तो फिर क्या वह समाज में हमारे नैतिक मूल्य के चिंतन से संबद्ध स्थान नहीं पा लेता ? या, व्यक्ति विशेष के दृष्टिकोण से, एक लाभ-मूल्य ? लोगों को छुटकारा दिलाने या पूरी दुनिया को बचाने के अलावा क्या धर्म का समाज के संदर्भ में कोई और अर्थ भी है ? क्या व्यक्तियों को छुटकारा दिलवाना एक व्यक्तिगत लाभ नहीं है, और दुनिया को बचाना या छुटकारा दिलवाना एक नैतिक अच्छाई या हित नहीं है ? चाहे उसे हम दिव्य कृपा कहें या अनुग्रह की स्थिति, लेकिन ये शब्द इसी विचार की अभिव्यक्ति करते हैं।

कुछ लोग यह कहकर कि दिव्य शक्ति तो व्यक्तिगत लाभ और सामाजिक हित के परे होती है, इस बात पर आपत्ति कर सकते हैं। लेकिन मैं इन मूल्यों और पवित्रता में इतना सामंजस्य और सामीप्य पाता हूं कि धार्मिक मूल्य मुझे इनका विशुद्ध स्वरूप ही लगता है। मुझे पूरा विश्वास है कि सौंदर्य लाभ-हित से अब तक बने मूल्यों के सांचे में सारे मूल्य समाहित हो सकते हैं, बिना एक अलग पवित्रता-मूल्य पैदा किए।

व्यक्तिवादी शासन या वैधानिक शासन

पुराने जमाने में, राष्ट्र एक व्यक्ति के तानाशाही शासन के अंतर्गत होते थे, न कि कानून के शासन के। किसी शासक, कुलीन परिवार और मंत्रियों की बेटोक सनकों और मनमाने विचारों का आज्ञापूर्वक अनुसरण होता था, चाहे वे सार्थक हों या नहीं। कुबुद्धिपूर्ण निर्णयों और दुर्भाग्यपूर्ण नीतियों का दोष निचले स्तरों पर थोप दिया जाता था, हिंसात्मक विशुद्धीकरण के साथ। ऐसी व्यवस्थाओं में नेतृत्व पर 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की उक्ति चरितार्थ होती है। हालांकि कुछ लोगों ने कभी कभार आपत्तियां उठाई होंगी मगर ज्यादातर लोग उदासीन थे और परिस्थितियों के आगे सिर झुका लेते थे। ऐसा या तो इसलिए होता था क्योंकि लोगों को अन्य संभावनाओं की जानकारी नहीं थी, या वे किसी उथल-पुथल करने के नतीजों से भयभीत थे। वैधानिक सरकार की स्थापना का कारण एक सामूहिक जागृति थी कि वैधानिक शासन सामंतवादी शासन से श्रेयस्कर है। और अब जहां वैधानिक एवं व्यक्तिवादी व्यवस्थाओं में एक नामधारी शासक मान्य है, वह 'शासक' भी विधान में बंधा हुआ है। इसी तरह, मानव जीवन में निहित एक विधान और क्रम की जानकारी ही वह मूलभूत नींव है जिस पर विज्ञान टिका है।

अभिलेख बताते हैं कि शाक्यमुनि ने कहा था : "विधान को मानो, व्यक्तियों को नहीं"। मानवता के लिए बुद्ध-धर्म का दिया हुआ यह महानतम मार्गदर्शन है। यहां हमें निर्भरता से ऊपर सच्ची स्वतंत्रता का मार्ग दर्शाया गया है। चमत्कारी सत्ताधारियों के अधीन जीने के बजाय सार्वभौमिक क्रम के साथ समन्वय में रहने

की सीख दी गई है। इस बात पर बाद में विमर्श किया जाएगा कि दूसरों की या खुद अपनी कामनाओं का अंधानुसरण व्यक्तित्व पूजा करने का ही एक रूप है। हम अपने आप ही अपने को गुलामों की तरह बेच देते हैं। और चूंकि ये एकतरफा विश्वास और संबंध विवेक पर आधारित नहीं होते, इसलिए ये अक्सर अस्थिर और प्रतिघाती होते हैं। मतों या मूर्तिवाद को लेकर छोटे-मोटे मतभेद सांप्रदायिक झगड़ों और धार्मिक असहिष्णुता को बढ़ावा देते हैं।

हर जगह धर्म इतनी तीव्र सरगर्मी से करुणा, दया और पारस्परिकता के उपदेश देते हैं कि उसका अवश्यंभावी नतीजा बहुधा धार्मिक-युद्ध हुआ करता है - और यह इसलिए क्यों कि वे व्यक्तित्व-पूजा में समाहित हो जाते हैं। इस व्यक्ति विशेष पर निर्भरता के जीवन से उबर पाने का अवसर ही नहीं मिलता। जिस तरह प्रेमी की आंखों में सिवाय अपने प्रेम-पात्र के कोई नहीं होता, उसी तरह व्यक्तित्व-पूजापद्धति के भक्तों में वह वैज्ञानिक तेवर अपनाने की इच्छा भी नहीं होती जिसके चलते शांतिपूर्वक धर्मों की तुलना की जा सके, अधिक व्याप्त समानताओं का सम्मान किया जा सके और छोटे-मोटे अंतरों को निकाल फेंका जा सके।

धीरे धीरे हम जैसे जैसे ज्ञानार्जन के मार्ग में आगे बढ़ते जाते हैं व्यक्तिपरक भावात्मक तत्व अधिक विवेकपूर्ण विचारों को रास्ता देने लगते हैं। हम चमत्कारी सत्ताधारी से विलग होने लगते हैं जब हमारी निहितक्रम-व्यवस्था की चेतना अधिक उभरने लगती है । अचानक यह अहसास जागता है कि वह व्यक्ति जिसकी हम अब तक पूजा करते थे वह भी साधारण मनुष्य ही है। जिस तरह पौ फटने से सितारों की चमक मंद पड़ जाती है, उस एक पल में हमारी अग्रणी चेतना का केंद्र-बिंदु बदल जाता है। हमारे पूरे अस्तित्व का केंद्र स्वार्थी लाभ-हानि से संबद्ध व्यक्तियों से हटकर एक ऐसे प्राकृतिक क्रम एवं सामाजिक विधान की ओर अग्रसर होता है जो बिना किसी कृपा या भेदभाव के, सबके लिए समान रूप से कार्य करता है।

निहित क्रम के प्रति चेतना की जागृति और वैधानिक शासन न कि व्यक्तिपरक शासन में विश्वास - ये भविष्य के लिए आशा का संचार करते हैं। हमें निश्चय ही उन कठिन समस्याओं को समझना चाहिए जिनसे दुनिया उलझ रही है। इन समस्याओं और समकालीन जीवन के प्रति एक परिपक्व उपागम यह नहीं है कि दुर्भाग्यों और असमानताओं का रोना रोया जाए, बल्कि उन्हें, बढ़ती हुई चेतना के सहारे, एक अधिक न्यायपूर्ण और मानवीय सामाजिक क्रम की सीढ़ी समझा जाए। जैसे जैसे लोगों में इस बात की जानकारी बढ़ेगी कि उस सत्ता से जिस पर उनका अधिकार है उन्हें ही विलग रखा गया है, तब वे अपनी विभाजित और असामूहिक अस्तित्व की नपुंसकता को समझ पाएंगे। और तब वे एकजुट होकर अपने इन पुराने बंधनों से पारस्परिक छुटकारा पाने का यत्न करेंगे। इस बढ़ती हुई जानकारी और चेतना की ओर मनुष्य को अग्रसर करने का श्रेय शिक्षा को ही जाता है। भविष्य

में भी शिक्षा को ही हमारा अपेक्षित मार्गदर्शन करना है। हमेशा से ज्यादा अब, समाज के सब स्तरों को - ऊंचे और नीचे, शासक और शासित, पूंजीवादी और मजदूर - सबको स्वार्थी व्यक्तिवाद के भ्रम को समाप्त करने के लिए शिक्षार्जन या सीखने के मूल्य को पहचानना होगा।

स्पष्ट है कि यह कोई आसान बात नहीं है। जब तक हम अपने अस्तित्व की गहराई में अनदेखे मुद्दों से आमुख नहीं होंगे, शिक्षा के लिए कोई उम्मीद ही नहीं होगी। इसके अलावा, जैसा कि हमने बारंबार होते हुए देखा है, विद्वता के विशिष्ट क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धा और अलगाववादिता नहीं चल सकती। चाहे कोई विशेषज्ञ अपने क्षेत्र में कितने भी पूजनीय क्यों न हों, दूसरे क्षेत्रों से मिले सबकों को नकारने से, समाधानों से अधिक समस्याएं ही पैदा होंगी। और हमारे जीवन में समाधान लाने की कसौटी ही वह सच्ची कसौटी होगी जिस पर शिक्षा को खरा उतरना होगा। सैद्धांतिक सत्यों को वास्तविक जीवन मूल्यों में बदलने की प्रक्रिया को हम उन धार्मिक गुटों पर नहीं छोड़ सकते जो अपना समय इस बात पर लड़ने-झगड़ने में लगाते हैं कि किसके पास सबसे ज्यादा सच हैं। इन महान मतवादी विवादो की कीमत ही क्या है अगर ये हमें लालच, क्रोध और अज्ञानता से बचा नहीं सकते ? या उन भ्रमों और अज्ञानता से नहीं लड़ते जो हमारे जीवन को दिशाहीन बनाते हैं। अगर इन विवादों को जारी रहना है तो उन्हें भावुक तर्कों से छुटकारा पाना होगा और "विधान को मानो, व्यक्तियों को नहीं" के सिद्धांत को बल प्रदान करना होगा। इस विवेकपूर्ण प्रचलन से ही यह संभव होगा कि विज्ञान और धर्म, और उसी तरह, धर्म और शिक्षा साथ साथ मिलजुल कर आगे बढ़ें।

व्यक्तित्व एकीकरण

व्यक्तिगत मूल्यों का मूल्यांकन

अपने व्यक्तिगत मूल्यों का सही आकलन कर पाने के लिए, हमें 'स्वयं' और 'पर' दोनों की जानकारी की जरूरत है दोनों के साथ साथ कार्यरत होने की। यह स्वानुभूति केवल अपने अस्तित्व का भाव नहीं है, न ही उस वैयक्तिकता का अनुभव है जिससे अपने गुणों को दूसरों के गुणों से सापेक्ष देखा जा सकता है। बल्कि, यहां अपनी उस संपूर्णता के व्यक्तिगत मूल्य का जिक्र है जो समाज की वृहत संपूर्णता से संबद्ध है। सुकरात ने स्वयं के लिए वैयक्तिकता की जागृति का आह्वान दिया था ताकि अपने अंदर के दिव्य का प्रदर्शन हो सके। "स्वयं को जानो" के सिद्धांत के तहत, उन्होंने डेल्फी की देववाणी को अमान्य करार दिया। इसके स्थान पर उन्होंने स्व-चिंतन अथवा शिक्षा का रास्ता पकड़ा। स्व-चिंतन से उनकी मुराद शैशव अथवा आदिकालीन उस स्थिति से परे जाना था जिसमें 'स्वयं' और 'पर' में भेद नहीं होता अथवा केवल

दूसरे का ही भान होता है। साथ साथ, इसमें अपने आपको इस दृष्टिकोण से देखना भी शामिल था कि जिनके साथ हम सामुदायिक अस्तित्व का निर्वाह करते हैं, उनके जीवन में हमने अब तक बुरे या भले के लिए, क्या योगदान दिया है ? इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि सेन्गजी ने, जो "अपने अंदर दिन में तीन बार झांकता था", सुकरात द्वारा प्रस्तावित स्व-चिंतन का जीवन जिया।

मैं एक बार यह बलपूर्वक कहना चाहूंगा कि अपने चरित्र को अपने आप सही आंक पाने के लिए हमारे पास पहले दूसरों के मूल्यांकन का ज्ञान होना चाहिए। व्यक्तिगत मूल्य का उचित आकलन तब ही संभव है जब अपने और दूसरों द्वारा चरितार्थ किए हुए मूल्यों से चयन, तुलना, और उनका समावेश करके संश्लेषण कर पाएं।

अपने सबसे उच्च और प्रतिनिधि स्वरूप में, मानव जीवन सचेतन व्यवहार है। दूसरे शब्दों में, मानव व्यक्तित्व एक संपूर्ण सत्य है जो अपने लक्ष्य के लिए एकीकृत हुआ है। व्यक्ति ही वह संयोग है - वह कुछ जो स्थान और समय की निरंतरता में सारे तत्वों को समाहित करता है, उस स्वरूप में जिसे हम जीवन कहते हैं। यह संयोग तब तक चलता है जब तक कि मृत्यु उसका विघटन नहीं करती।

स्वाभाविक है कि वह संयोग जिसे हम व्यक्ति कहते हैं अपने बाह्य रूप के बनिस्पत बहुत गहरा है। आंतरिक सामंजस्य चरित्र के अधिक समीप है, बनिस्पत बाह्य स्वरूप से। मानसिक स्थिति में सामंजस्य की कमी दिन प्रतिदिन व्यवहार की भिन्नता में प्रतिबिंबित होती है जिसके कारण लोग उस व्यक्ति के चरित्र में कमी का शक करते हैं। वे यह असंभव पाएंगे कि उस व्यक्ति को सुयोग्य एवं बराबरी का मानें। सच तो यह है कि वे उसे मानव से कुछ हीन पाएंगे, एक विक्षिप्त व्यक्ति की तरह जिसके दिमाग में एकता की कमी होती है।

जैसा कि हमने बलपूर्वक कहा है, अगर स्व-चेतना का तथ्य उस सबका द्योतक है जो पूर्णरूप से मानवीय है (अन्य जीवों से भिन्न), तब हमें शिशुओं, विक्षिप्त और असंतुलित व्यक्तियों के दायरे से इस किस्म के एकीकृत व्यक्तिगत चरित्र को बाहर रखना होगा। वे लोग जिन्हें साधारणतया प्रथम अथवा सामान्य समझा जाता है, उनमें से भी कइयों के जीवन विरोधाभासों से भरे पड़े हैं। हालांकि वे उन पर पर्दा डालने की कोशिश करते हैं, लेकिन उनके इरादे अच्छे हों तब भी उनके कर्म उन्हें नकार देते हैं। उनके उद्देश्यों से उनके जीवन हर पल संघर्षरत रहते हैं, और एकता में यही कमी उनके व्यवहार में झलकती है। यह भी उनके चरित्र में कमी की तरह देखी जानी चाहिए। फिर भी, कोई भी ऐसा नहीं होता जो जीवन का अर्थ न ढूंढ़ना चाहे। अर्थ ढूंढ़ने के साध्य का अचेत साधनों के साथ समन्वय होना चाहिए, मगर लोग भ्रमित होकर उस साध्य के लिए अपर्याप्त साधनों का चयन कर सकते हैं। मैं इन लोगों को गलत काम करने वाला नहीं बल्कि बेचारा और अज्ञानी मानता

हूं क्योंकि ये केवल तात्कालिक उद्देश्यों से परे देख पाने में सक्षम नहीं हैं।

मूल्य-सृजन के लिए शिक्षा

ऊंचा या नीचा, अच्छा या बुरा व्यक्तिगत चरित्र किन तत्वों से मिलकर बनता है - इसको लेकर हम अपने विचारों का विश्लेषण कर सकते हैं। लेकिन अंतिम परिणति में, हमारे मूल्यांकनों के स्रोत विभिन्न व्यक्तियों के जीवनोन्मुख आदर्श ही हैं। जिस तरह मणि की फलिकाओं से प्रकाश फूटता है, वैसे ही जीवन-लक्ष्यों पर विचार एक पारदर्शी मर्म की भांति है जिनसे क्रमबद्ध धारणाएं प्रस्फुटित होती हैं। जीवन-लक्ष्यों को लेकर ये मार्मिक विश्वास दो तरह के बुनियादी रवैयों में झलकते हैं :

1. जीवन-लक्ष्य को लेकर परिपक्व मार्मिक विश्वास जो धीरे धीरे जीवन को विस्तृत करते हैं।

2. स्वयं पर केंद्रित धारणाएं जो अंततः स्वयं से टकराकर चकनाचूर हो जाती हैं।

परिपक्व मार्मिक विश्वास और जीवन का सुस्पष्ट लक्ष्य तन और मन में समन्वय की अनुभूति जगाते हैं - अंश और अंश के बीच और अंश और सर्वयोग के बीच एक मेल, जो कालांतर में मनोवैज्ञानिक सामंजस्य पैदा करता है। किसी व्यक्ति के जीवन में इस सामंजस्य की गहराई और मात्रा व्यक्तिगत चरित्र का सबसे महत्वपूर्ण तत्व है। इस तरह का व्यक्ति मूल्य-सृजन में सक्षम होता है। शिक्षा का कार्य यही है कि वह इस लक्ष्य की ओर दिशान्वित करे।

गुण-संपन्न शिक्षा के विकास में प्रायोगिक विज्ञान अमूल्य योगदान दे सकता है। उसके द्वारा हमें प्राथमिक दिशासूचक प्राप्त हो सकते हैं। और हम इस बात की योजना बना सकते हैं कि मूल्यों का सृजन कैसे करें। वास्तुकला में रचना शुरू करने से पहले हमें नक्शे बनाने होते हैं, परियोजना का बजट बनाना पड़ता है ताकि कुछ व्यर्थ का व्ययकारी न हो, जरूरी चीजों की सूची बनानी होती है। सारी प्रक्रिया के बारे में अच्छी तरह सोच-विचार करना पड़ता है ताकि कोई गलतियां न हों, न परियोजना को कोई हानि पहुंचे। पूर्वानुमान और सावधानी यहां दो बहुत महत्वपूर्ण शब्द हैं। इस तरह की पूर्वकल्पना अनुभवविहीन लोगों के लिए लगभग असंभव ही है। इसके अलावा उनके लिए भी जिन्हें अपनी प्राथमिकताएं समझ में नहीं आतीं और बस दूसरों के हुक्म बजा लाने की आदत है, या वे जो सिर्फ क्षणिक या तात्कालिक परिस्थितियों से निपटारा करना जानते है। पूरी तैयारी सिर्फ अपने अनुभव की बिना पर ही नहीं बल्कि दूसरे लोगों के अनुभवों को भी ग्रहण करते रहने से संभव है। हर व्यक्ति में जाने-बूझे अतीत के परिप्रेक्ष्यों से सीख लेकर, उन विचारों की मदद लेकर जिनके पीछे सफलता का इतिहास है, विभिन्न परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता होनी चाहिए। अतीत के अपने और दूसरों के अनुभवों की सीख के आधार

पर, सफलता के आधारभूत तत्वों और परिस्थितियों को अलग कर पाना मार्गदर्शन पाने का प्राथमिक स्रोत है। यही प्रायोगिक विज्ञान का सार है। यह बात हर शिक्षक को ध्यान में रखनी चाहिए क्योंकि इस जटिल, सारगर्भित और महत्वपूर्ण लक्ष्य की ओर ले जाने की भारी सामाजिक जिम्मेदारी शिक्षक पर ही है।

मूल्य-सृजन की प्रक्रिया में कारणत्व के विधान की खोज करके प्रायोगिक विज्ञान हमारे शैक्षिक प्रयत्नों को सही दिशा दे सकता है। आज तक की सफलताओं या असफलताओं की पड़ताल करके, प्रायोगिक विज्ञान कारणत्व के समीकरण बना सकती है। इन खोजों में से, वे नियम बन सकते हैं जो हमें भविष्य में अपने लिए मूल्य के सृजन में मदद करेंगे। प्रायोगिक विज्ञान से यह सुनिश्चित होता है कि हम इतिहास से सीख हासिल करें और बिना जांच पड़ताल किए हुए पिछली बातें ही न दोहराते रहें।

विशिष्ट रूप से यह बात शिक्षा के परिसर में कैसे लागू की जा सकती है ? हम शिक्षक प्रतिदिन शैक्षणिक कार्य में जुटे रहते हैं, मगर अपने तरीकों की क्षमता में सुधार नहीं ला पाते। हमारे ऊपर यह सवाल भारी पड़ता है कि आखिर वह क्या है जिसे हम अलग तरीके से करें ? इन मामलों में, हमें अपने पूर्वजों की विधियों पर चिंतन करना चाहिए, उनसे सीख लेनी चाहिए और उनके अभिलेखों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। यह जानने के लिए कि क्या कारगर साबित हुआ, क्या नहीं, यह विधि चिकित्सा, कृषि अथवा प्रायोगिक विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में शोधकर्ताओं की विधि से विलग नहीं है।

शिक्षा वह विज्ञान है जो शिक्षकों में व्यक्तिगत मूल्य उजागर करने को अर्पित हैं। ये शिक्षक ही फिर शिक्षार्थियों को मूल्य-सृजन की ओर दिशान्वित करेंगे। लेकिन शब्द 'विज्ञान' से कोई ठंडी या रूखी-सूखी छवि नहीं उभरनी चाहिए। मनोविज्ञान और समाजशास्त्र में किए गए अनुसंधान जैसे के तैसे लागू नहीं करने चाहिए, बल्कि शिक्षक और शिक्षार्थी के बीच मूल्य-सृजनता की स्थितियों और विधियों के प्रति उन्हें पहले प्रासंगिक बना दिया जाना चाहिए। वह एक मानविक विज्ञान होना चाहिए जो शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों की आवश्यकताओं को पहचाने।

ऐसे व्यक्ति विरले और असाधारण होते हैं जो अपने आप ही अनुशासन में बंधकर शिक्षार्जन करें। कुछ शिक्षा-इच्छुक अपनी योजनाएं और दिनचर्याएं अपने आप इस तरह से नियोजित कर सकते हैं कि वे अपनी वास्तविकताओं के अनुभव में मूल्य का योगदान करें या उनसे मूल्य-सृजन करें। मगर ऐसे लोग अपवाद होते हैं, और अपवादों को छोड़कर, हर शिक्षार्थी का मार्गदर्शन होना चाहिए। यह मार्गदर्शन भी शिक्षा का ही एक और अर्थ है। मार्गदर्शन का अर्थ है कि चरित्रपूर्ण व्यक्तियों (शिक्षक) के समझे-बूझे, सुनियोजित प्रयत्न किन्हीं दूसरों (शिक्षार्थी) में निहित सुग्रहणता को चरित्र-विकास की ओर गतिशील करें। यह शिक्षा का ही प्रकार्य है

कि वह अचेतन जीवन को चेतना की ओर, मूल्यहीन जीवन को मूल्य की ओर, और विवेकहीन जीवन को विवेक की ओर दिशान्वित करे।

सच्ची शिक्षा कोई आकस्मिक घटना नहीं है। अंतःकरणीय शिक्षण से विवेकपूर्ण और कारगर व्यवहार उत्पन्न होता है। यह इस तरह के जीवनयापन को बढ़ावा देती है जो केवल कुछ व्यक्तियों और सामयिकता की सीमाओं में नहीं बंधा होता बल्कि जीवन के मूल्यों की विश्व-व्यापकता को पहचानता है। यानी, शिक्षा वास्तविक जीवन के मार्गदर्शन के स्वरूप में लगातार यह प्रयत्न करती है कि शिक्षार्थी स्वयं अपने दैनिक जीवन में मूल्यों का अनुभव करे। चाहे कुछ भी पढ़ाया जाए, मगर मूल्य-सृजन का लक्ष्य धुंधला न पड़े।

इसके लिए आवश्यक हो जाता है कि मूल्य-सृजन की प्रक्रिया में कारणत्व के नियम खोजे जाएं। ऐसा कर पाने का एक कारगर तरीका है उन लोगों की सफलताओं की कहानी का अध्ययन करना जिनका जीवन मूल्य-सृजन को अंगीकार करता है। साधारण उपलब्धियों के बारे में चिंतन से बेहतर है कि लोगों के जीवन का अध्ययन मनोविज्ञान के संदर्भ में किया जाए, अंतःमन के ऊपर उनकी दुर्गम-विजयों की व्याख्या की जाए। वैसे दोनों की तुलना भी कुछ सीख दे सकती है।

एक शैक्षिक उद्देश्य के स्वरूप में मूल्य-सृजन हमारे चिंतन और अनथक प्रयत्नों की अपेक्षा करता है। हम शिक्षक यह कोशिश कर सकते हैं और करनी चाहिए कि अन्य व्यावहारिक विज्ञानों की सीखों को हम शैक्षणिक जीवन पर चरितार्थ करें। व्यावहारिक विज्ञानों का विस्तार न केवल अंतहीन विषय-वस्तु प्रस्तुत करता है बल्कि विधियों के मूल्यों पर भी जोर डालता है। यह हम उन सब लोगों को जिन्हें अपने समाज के भविष्य और बच्चों की चिंता है, यह चुनौती देता है कि हम एकीकृत शिक्षा-सुधारों से संबद्ध प्रयत्नों में सहयोग दें।

3. शिक्षा का जीवंतीकरण

शिक्षा-नीति में एक नई दिशा

शिक्षा के जीवंतीकरण-प्रयास की दलील

शिक्षा के जीवंतीकरण का प्रस्ताव आज की मानव संपत्ति को कल के आदर्श समाज की संरचना के लिए सजाना-संवारना है। जिस तरह कलाकार अपने कैनवस या संगमरमर पर नई सुंदरता पैदा करने के लिए काम करता है, और व्यवसायी कच्चे माल को उपयोगी वस्तुओं में बदलता है, ठीक वैसे ही शिक्षक का काम यह है : तात्कालिक समाज की कमियों का प्रेक्षण करके, ऐसी कार्ययोजनाओं का विस्थापन करना जो आने वाली पीढ़ियों को एक बेहतर दुनिया दे सकें। यह मूल्य-सृजन की मंजिल की तरफ ले जाने वाला महानतम और अत्यावश्यक कदम है। इस सफर में हर किसी को साथ लेकर चलना होगा, समाज के सारे समुदायों और वर्गों के सहयोग और मंजूरी को पाना होगा, और महल-दुमहलों के बजाय, वास्तविक शैक्षिक अनुभवों से सिद्धांत बनाने होंगे। राजनीतिज्ञों को नीति-सुधार का बीड़ा उठाना होगा, संबद्ध समूहों से सामान्य व सकारात्मक आलोचना मांगनी होगी और, शिक्षकों द्वारा कार्यान्वित करने से पहले, अभिभावकों की स्वीकृति पानी होगी।

आर्थिक लाभ या सौंदर्यपूर्ण वस्तु बनाने का कार्य निजी पदार्थों के चयन से सीधा संरचना की ओर बढ़ सकता है। लेकिन अगर मानव-संपत्ति से नैतिक हित के सृजन का कार्य हो, तो पहले हमें उस संपत्ति को सहेजना होगा। यह कार्य हरेक व्यक्ति में समाज के सामूहिक जीवन की चेतना जगाने से ही संभव होगा। ऐसा इसलिए क्योंकि सार्वजनिक हित और समाज-सुधार की जिम्मेदारी जिस हद तक लोग लेंगे वही अंततः बदलाव ला पाएगी।

सामाजिक बुराइयों को शिक्षा उचित रूप से संबोधित करती है। यह रूप बिल्कुल सही है। अगर डाक्टर वह है जो व्यक्ति की बीमारियों का इलाज करता है, और राजनीतिज्ञ वह है जो सामूहिक राजनीतिक अवयवों को शासन प्रदान करता है, तो शिक्षक को समाज के डाक्टर के रूप में ही देखना चाहिए। जब कि

डाक्टर और राजनीतिज्ञ ज्यादातर चिकित्सा या सुधार में कार्यरत हैं, शिक्षक का दृष्टिकोण निवारक अथवा रोकथाम का ही है। एक वर्तमान और तात्कालिक समस्या की चिंता करता है, तो दूजा भविष्य को नजर में बसाए, कठिनाइयों से बचकर निकलने का मार्ग ढूंढ़ता है।

इतना ही प्रभावोत्पादक उदाहरण आधुनिक परिवार की दोहरी भूमिका में भी मिलता है। उसे एक तरफ वर्तमान की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करनी होती है तो दूसरी ओर भविष्य को प्रशस्त करने के लिए बच्चों का पालन-पोषण। इसलिए यह आवश्यक है कि बच्चों की शिक्षा को लेकर अभिभावकों की चिंताएं और इच्छाएं सुचारु रूप से शिक्षकों तक पहुंच जानी चाहिए।

वर्ग-संघर्ष, दैनिक कलह, वैचारिक उथल-पुथल, नैतिक अवनति—घोर सामाजिक संकट हमें तकते हुए प्रतीत होते हैं। अहम सवाल यह है कि इस आक्रमण को कैसे रोका जाए ? उदासीनता सबसे बड़ा अवरोधक है। हमें उन सब मुद्दों की भलीभांति जानकारी है जिनसे दुनिया पीड़ित है। लेकिन जब तक हमारे सर पर ही संकट नहीं आता, उन मुद्दों से जैसे हमारा वास्ता ही नहीं होता। जब तक हमारे नेता, कानून बनाने वाले, विद्वान और धर्माधिकारी पूरी तरह लपटों में नहीं घिर जाते, हमें आग कहीं दूर दूसरे किनारे पर ही प्रज्वलित होते हुए लगती है। हम इस निराशाजनक स्थिति के निवारण में क्या योगदान दे सकते हैं ? क्या हमारे देश के सामने सबसे बड़ा खतरा यह नहीं है कि शिक्षा-प्रवाह के लिए सारे धारे सूख जाएंगे, और हमें मार्गदर्शक विहीन बना देंगे ?

स्पष्ट है कि किसी को इन सामाजिक संकटों से निपटने का रास्ता बनाना होगा। हालांकि इसकी बागडोर आने वाले विद्वानों, राजनीतिज्ञों और धार्मिक अधिकारियों के हाथ में है, लेकिन उनका निट्ठलापन उनके प्रभुत्व को अक्सर मटियामेट कर देता है। लेकिन ऐसा हो क्यों ? वे या तो अज्ञानी या बेशऊर लगते हैं। लेकिन सबसे घातक बात यह होती है कि वे जो भी हितकारी बातें कहते हैं उन्हीं सब को अपने गलत कामों से नकार देते हैं। उनकी दलीलें कि, "मैं जैसा कहता हूं वैसा करो, जैसा करता हूं वैसा नहीं" आमतौर पर अनसुनी हो जाती हैं। जितना भ्रष्टाचार आज बेबाक हो गया है, उससे ज्यादा शायद हो ही नहीं सकता। क्योंकि धन-दौलत के पीछे पीछे सत्ता आती है, राजनीतिज्ञ बड़े कारोबारों के पिट्ठू बन जाते हैं, और कालांतर में विद्वान और धर्माधिकारी भी राजनीतिज्ञों के सामने झुक जाते हैं।

जो शिक्षा क्षेत्र में पहले पहल विशुद्ध आदर्शवादिता-सी लगती है वह असल में एक बहुत अधिक गहरे प्रश्न की ओर इशारा करती है : किसके सही या गलत विचार की परिकल्पना को हम स्वीकार करें ? जब सरकारें पर्दे के पीछे

रहकर 'खतरनाक' विचारों पर रोक लगाती हैं, तो कौन यह जान पाएगा कि कौन से विचार सचमुच खतरनाक हैं ? वाकई दमन बंधनविहीन दमन और आत्माविहीन सत्ता से अधिक असहनीय और डरावनी चीज की कल्पना भी नहीं की जा सकती। विवादों की लपटों में लिपटा कौन कहेगा कि सही या गलत क्या है ? हम यह तो आमतौर पर देखते ही रहते हैं कि वाद-विवाद परेशान करने की हदों तक खिंचते रहते हैं, क्योंकि अच्छे या बुरे का मतलब क्या होना चाहिए इसी पर कोई स्थायी सहमति नहीं है। दोनों पक्ष बात को टालते रहते हैं इसलिए किसी को मुद्दों का स्पष्टीकरण भी नहीं मिलता, तथा बात और बिगड़ती जाती है। कोई भी किसी मामले पर विवेकपूर्ण विमर्श नहीं करना चाहता।

हित या अहित, अच्छे या बुरे के मापदंडों को तय करने के लिए आवश्यक यह है कि लोग अपने मूल्य जिएं। यह पूरी तरह से कभी भी वस्तुपरक नहीं हो सकता क्योंकि इस मूल्यांकन में भावुकता के अंश शामिल होते हैं। नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का ज्ञान महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है, हालांकि यह जरूरी नहीं है कि यह ज्ञान सामान्य पठन-पाठन से ही उपजे। साधारण वास्तविक जीवन की स्थितियों का प्रेक्षण ज्यादा स्पष्ट दिशा दे सकता है। (पाठक को आमंत्रण है कि वह विचार-विस्तार के लिए अध्याय-2, 'मूल्य के बुनियादी तथ्य' को एक बार फिर से देख लें।)

यह प्रश्न कि 'किस तरह की शिक्षा सबसे अच्छी है ?' महत्वपूर्ण है और इस पर विमर्श बाद में किया जाएगा। मैं पहले इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि सिवाय शिक्षा के, द्रोहपूर्ण या दमनकारी विचारों से निपटने के लिए और कोई सकारात्मक उपाय नहीं है। आज तक स्कूल की व्यवस्था से उपजी हुई असफलताओं पर उंगली उठाते हुए, साधारणतया ज्ञानी लोग शायद पूरी शिक्षा को ही खारिज करने के पक्ष में हों। लेकिन यह भी तो समझना होगा कि आज के दौर में यह सोचा भी नहीं जा सकता कि जनता पूर्णरूप से अशिक्षित हो ! विशेष तौर पर इसलिए भी कि संवैधानिक सरकार चलाने में नागरिकों का काफी हद तक सम्मिलित होना बहुत जरूरी है। आज की समस्याओं का निदान आगे है, पीछे नहीं। यहां तक कि अगर सोवियत यूनियन (पूर्व) या रिपब्लिक आफ चाइना की साधारण शिक्षा प्रणालियों के उदाहरणों को सरसरी तौर पर भी देखें तो पता चलेगा कि वे भी कम से कम संवैधानिक व्यवस्था में मदद करती हैं। इन देशों में संवैधानिकता कायम करने में भूलों और संकटों के बावजूद, इस बात में बिल्कुल भी शक नहीं है कि शिक्षित तत्वों का होना ही वहां संभावना पैदा करता है। इसके साथ ही, मुश्किलें वहीं पैदा होती हैं जहां इन तत्वों की कमी है।

मैं दोहराता हूं : हमारी आज की किंकर्तव्यविमूढ़ता समाप्त करने का रास्ता अधिक अच्छी शिक्षा है—शिक्षा के प्रचलन में कमी नहीं। लोग बहस के चलते कुछ भी कहें मगर इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि आज समाज की मांग शिक्षा में विस्तार और सुधार ही है; और इसमें ज्यादा अच्छी नैतिक शिक्षा भी शामिल है।

बहुत से अग्रणी दार्शनिकों ने यह विचार प्रकट किया है कि उचित शिक्षा का मतलब है सामाजिक चेतना या सामुदायिक भावना को उभारना। सुधार के लिए राजनीतिक, आर्थिक और अन्य सामाजिक प्रयत्नों को ज्यादा से ज्यादा इलाज माना जा सकता है। लेकिन समस्याओं को उनके स्रोत पर ही सुलझाने के लिए, शिक्षा के दूरदर्शी जीवंतीकरण के अलावा और कोई समाधान नहीं है। भविष्य बच्चों और युवाओं की धरोहर है, और हमारे पास बस उनके नाजुक अहसास ही तो हैं जिनको शिक्षा से एक दिशा दी जा सकती है। आमतौर पर वयस्कों में गुस्सा, लालच और अज्ञान इतने कूट-कूटकर भरे हुए हैं कि वे अपने ढर्रे में बंधकर रह गए हैं। नतीजा यह है कि वे किसी प्रकार के आत्मसात और नैतिक पुनर्शिक्षा से परे पहुंच गए हैं।

तो फिर करना क्या चाहिए ? राजनीतिक और राष्ट्रीय नेता शायद यह समझते हैं कि बस यह वक्तव्य दे देना भर काफी है कि शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक चेतना है। और जो शिक्षा की नीतियों के लिए जिम्मेदार हैं वे वक्तव्य दे देते हैं कि राष्ट्रीय एकता और नैतिक शिक्षा का प्रचलन ही शिक्षा के लक्ष्य हैं। लेकिन उन्होंने आज तक ठोस रूप से इस पर कोई विचार नहीं किया कि इन ध्येयों तक पहुंचा कैसे जाए, और इन लक्ष्यों तक पहुंचने की सारी जिम्मेदारी हरेक शिक्षक पर ही छोड़ दी है। नतीजा है शिक्षा में आज का अवरोध। इस स्थिति में क्या शिक्षकों के लिए प्रोत्साहन के खोखले शब्द काफी हैं ?

लेकिन अंततः शिक्षकों को यह समझना पड़ेगा कि वे कहीं और से समाधान पाने की अपेक्षा नहीं कर सकते। उन्हें स्वयं अपने स्थान और समय के तात्कालिक मुद्दों से जुड़े रहना होगा, और समस्याओं को स्वयं मानसिक रूप से समझना होगा। इस संदर्भ में, असफलताएं भी शर्म की वजह नहीं हैं अगर वे समस्याओं के स्रोत की ओर ले जाती हैं। हमें असफलताओं को राह का रोड़ा समझकर, उन्हें परे करके आगे बढ़ते रहना चाहिए। साठ साल की अवधि में विचारों के लिए हमारा केवल यूरोप और अमेरिका को तकते रहना असफल सिद्ध हुआ है, हां यह बोध अवश्य हुआ है कि सिर्फ नकल से देश की समस्याएं हल नहीं हो जाएंगी।

लेकिन इससे पहले कि मेरे विचारों पर शक किया जाए और यह आरोप लगाया जाए कि मैं युवाओं को सही सोच की ओर 'दिशान्वित' करने के सरकार

के प्रयत्नों को नीचा दिखा रहा हूं, मैं अपनी टिप्पणी में यह बात भी जोड़ दूं कि धराशायी और संरचना दोनों का एक उचित दौर होता है। बिना आलोचना के अवरोध पैदा हो जाता है। लेकिन केवल तात्कालिक व्यवस्था पर आक्रमण करना उथल-पुथल को उस समय बुलावा देना है जब देश की अपेक्षा पुनर्संरचना की किसी योजना के उदय की होती है। मैं समझता हूं कि हमारे देश की सामाजिक-आर्थिक स्थिति परले दरजे की असंतुलित हो गई है, और बदलाव का समय आ गया है। इसके अलावा ऐसे शांतिपूर्ण और सकारात्मक साधनों की तरफ निष्ठावान होकर, जिनसे देश की एकता पर आंच न आए, हम सत्ताधारियों की सहानुभूति भी आकर्षित कर सकते हैं। इस तरह शिक्षक सुचारु रूप से आवश्यक सुधार के लिए कार्य कर सकते हैं। यह तो सही है कि इस समय जब शैक्षणिक समुदाय केवल छोटी छोटी बातों में उलझा हुआ है, एक बुलंद आवाज उठाना खतरे से खाली नहीं होगा। मगर इस चरम स्थिति में अवसर भी है और अपने विश्वासों के लिए जान दे देना उन्हें तार्किक बल प्रदान करना है। आज के दौर में जब कुछ भ्रष्टाचार और भय-भ्रम की चपेट में है, यह खतरा काफी सजीव है। जितनी जोर से अपील की जाएगी, लोकजन की नजर से उस उपद्रवी को हटाने का उपक्रम उतना ही अधिक अवश्यंभावी होगा। मुझे लगता है कि मेरे प्रयत्न वैसे ही विफल न हो जाएं जैसे रेगिस्तान में छिड़का हुआ पानी।

बहरहाल, सैद्धांतिक रूप में समस्याओं के विवेचन में भी मानव-अंश को नकार पाना संभव नहीं है और न ही समस्याओं को परिप्रेक्ष्य-विहीन रूप में देखना। जैसे दरिया समुद्र में मिलते हैं, उसी तरह समाज की सारी तलछटें भी मानव-संपत्ति में किसी कमी की द्योतक हैं, और उसकी जड़ में है शिक्षा-पद्धति में कोई कमी। इसलिए शैक्षिक नीतियों में सुधार पूरे समाज के जीवंतीकरण का साधन है।

सच्चे देशभक्तों के लिए यहां एक मुद्दा है। अगर हमने (पहले) महायुद्ध से कोई भी सबक सीखा है तो वह यह कि विधायकों को अपने राजनैतिक ध्येय तय करने के लिए यह अच्छा रहेगा कि वे सामाजिक प्रतिघात के फैलावों का अध्ययन करके स्रोत तक वापस आएं। वे पाएंगे कि उद्योग के पक्ष की ओर झुकी हुई बुनियादी भौतिकवादिता ही स्रोत है। पिछले महायुद्ध में बालिगों की पुनर्शिक्षा की सफलता के आधार पर पिछले वर्षों में जापान और पश्चिमी देशों में हमने एक प्रवृत्ति देखी है। कामकाज करने वाले वयस्कों की पुनर्शिक्षा उद्योग की तात्कालिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर की जा रही है। लेकिन बिना बच्चों की शिक्षा की बुनियादी दिशा को पड़ताले, कालांतर में वयस्कों की पुनर्शिक्षा व्ययकारी तो होगी ही, साथ साथ मानव जीवन भी बर्बाद करेगी।

अगर शिक्षा-नीति आज के समय की जरूरतों को पूरा कर पाने के लिए दुबारा परखी नहीं जाती और उसे नई दिशा नहीं मिलती तो सारी प्रक्रिया फिर मानव-जीवन के विनाश में दोहराई जाएगी।

शिक्षा की महत्ता और उसका विशिष्ट स्थान

उन्नति का एक ठोस माप यह है कि समय के साथ साथ बच्चों की शिक्षा पर पारिवारिक, स्थानिक और सरकारी व्ययों में बढ़ोतरी हुई है। यह मां-बाप में इस व्याप्त चेतना को दर्शाता है कि उन पर अपने आश्रितों की शिक्षा का उत्तरदायित्व है। उन समाजों में जहां औद्योगीकरण अधिक मात्रा में हुआ है, यह चेतना अक्सर संकटकालीन अनुपात की सीमा तक पहुंच जाती है। शिक्षार्जन की प्रवृत्ति समाज और घर में इतनी तीव्रता से महसूस की जाती है कि मां-बाप बच्चों की शिक्षा के लिए जीवन भर त्याग करते रहते हैं। इस बात से ऐसा प्रतीत होता है कि भले ही शिक्षा की अपने आप में चेतन पहचान कम हुई हो, लेकिन जब भी लोग दुनिया का प्रेक्षण करते हैं और अपने वातावरण में हर चीज की सापेक्ष तुलना करते हैं, तो मानव-संपत्ति को सहेजने से किसी भी और चीज का स्तर शिक्षा से ऊंचा नहीं होता। वाकई यह मूल्य हर भौतिक पदार्थ से ऊपर है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, आवागमन, संचार, चिकित्सा, विद्युत-ऊर्जा इत्यादि क्षेत्रों में खोजों की महत्ता को कोई नहीं नकार सकता। मगर फिर भी मात्रात्मक अथवा गुणात्मक प्रभावशीलता की दृष्टि से शिक्षा से ऊंचा स्थान किसी का नहीं है। वैसे इस दावे को भौतिक रूप में साबित करना मुश्किल है; उसे सिर्फ छात्रों की शिक्षा में लगाए गए धन और समय की पूंजी में मापा जा सकता है। वाकई यह खर्च इतना अधिक है कि कल्पना को भी चौंका देता है।

लेकिन इन जबरदस्त खर्चों के बावजूद, हमें इस सचाई का सामना करना होगा कि इस देश की शिक्षा प्रणाली घिसी-पिटी है और वास्तव में बच्चों और युवाओं को नष्ट कर रही है। अगर लोग अपने दैनिक जीवन की चिंताओं में इतने व्यस्त न हों तब उन्हें इस बात का अहसास होगा। कुछ लोग समस्या की गंभीरता से अवगत होने लगे हैं, और यह एक उम्मीद का सबब है। उदाहरण के तौर पर आज कुछ बुजुर्ग अपने युवापन के दिनों के बारे में सोच रहे हैं जब कन्फ्यूशियन, क्लासिक और उस तरह के ग्रंथ पाठ्यक्रम से जुड़े रहते थे। अब सोचते हैं तो लगता है कि न उनका कोई मूल्य निकला, न ही इस्तेमाल। वाकई समय और प्रयत्न की क्या बर्बादी है ! इन घिसी-पिटी और खर्चीली शिक्षा नीतियों से चिपके रहना दोनों, पूरब और पश्चिम के देशों में प्रचलित है। यह तो रूसो, कोमेनियस और पेस्तालोजी जैसे क्रांतिकारी शिक्षकों की कृपा है कि

आज की युवा पीढ़ी के अर्थहीन अध्ययन के बंदीगृह की अवधि छोटी हो गई है। शिक्षा संबंधी सुधार एक बहुत बड़ी संख्या में युवाओं को प्रभावित करेंगे। इसलिए इस क्षेत्र के सुधारों की महत्ता, उदाहरणार्थ, चिकित्सा क्षेत्र के सुधारों से कम नहीं होनी चाहिए। इसके अलावा जिन बच्चों को शिक्षा देनी है, उनकी संख्या बहुत अधिक है। इसलिए इन सुधारों को कार्यान्वित करने पर शिक्षकों की जिम्मेदारी बढ़ेगी। यह देखते हुए कि शिक्षा संबंधी सुधार किस कदर महत्वपूर्ण हैं, यह बात और भी अजीब लगती है कि प्रणालियां इतनी दकियानूसी होते हुए भी, कितने समय से ज्यों की त्यों चली आ रही हैं।

इस अहसास के जागने के बाद, यह और भी जरूरी हो जाता है कि शिक्षा-नीति को संवेदनशीलता से बरता जाए। यंत्रचालित या हठधर्मी रूप में उन शिक्षकों से स्कूलों को भर देना जिन्हें स्थानीय समुदायों की विशिष्ट आवश्यकताओं का भान नहीं है, कुछ न बदले जाने से भी बुरा होगा। सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था करना सरकार की ओर से एक सकारात्मक और रचनात्मक कदम तो है लेकिन शिक्षा का 'संयोजन' सरकारी नीति-निर्धारण के अन्य क्षेत्रों की तरह से नहीं किया जा सकता। स्कूलों के निर्माण से लेकर प्रचलन के स्तरों के निर्धारण तक, मूल पाठों से लेकर पठन के विषयों तक, हर पहलू को लेकर राज्य को अपने ध्येय स्पष्ट रूप से उद्घोषित करने होंगे और साथ साथ स्वयं अध्यापकों से सामीप्य का संपर्क रखना होगा।

यह अवश्यंभावी है कि शिक्षा मंत्री के स्वरूप में, राज्य शिक्षकों की योग्यताओं के मापदंड निर्धारित करें। इसके अलावा, यह भी जरूरी होगा कि दायित्वों को प्रादेशिक अधिकारियों में विभाजित किया जाए, जो प्रदत्त शिक्षा के गुणों का निरीक्षण, संचालन और प्रोत्साहन पैदा करें। यानी, कार्यविधि के स्तर और मूल पाठ राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित हों, केवल शिक्षकों की समझ-बूझ पर न छोड़े जाए। शिक्षा अब एक राष्ट्रीय महत्ता का विषय है और उसे विस्तृत परिप्रेक्ष्य अपनाने होंगे। इस बात पर हम बाद में अधिक विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

इसकी तुलना सिर्फ उस एक और सरकारी संस्था से की जा सकती है जो संकट का सामना करने की तैयारी से संबद्ध है, सेना। सेना का शासन उस अंदेशे से निपटने की तैयारी का जतन है, जो राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए खतरा पैदा कर दे। यानी, भविष्य में अपने बचाव के लिए वर्तमान में एक सक्रिय कदम है; यह उन निष्क्रिय कदमों से भिन्न है जो संकट पड़ने के बाद उठाये जाते हैं। कहना न होगा कि यह सावधानी बरतनी होती है कि कोई भी क्रिया तात्कालिक परिस्थितियों की मांग पर ही की जाए, उससे पहले नहीं। जरा सी भूल हमेशा के लिए कुप्रभाव छोड़ सकती है। जिम्मेदारी के पदों पर नियुक्ति

के लिए चरित्र-आंकन और जांच पड़ताल की जरूरत है, जबकि उन पदों पर जहां केवल नियमों को ही लागू करना हो, साधारण विवेक काफी है। दूसरे शब्दों में, अधिकतर सरकारी दफ्तरों में केवल उन लोगों की आवश्यकता है जो निष्क्रिय रूप से आदेश पर अमल कर सकें। लेकिन शिक्षक को एक सेनाध्यक्ष की तरह बागडोर संभालनी होगी। एक साधारण क्लर्क कागजी कार्यवाही करते रह सकता है जब तक कि वह कोई बहुत ही भीषण गलती न कर बैठे। और इस तरह अपने पद पर बिना किन्हीं स्पष्ट उपलब्धियों के सालों साल बना रह सकता है।

शिक्षकों की बात अलग है। उनके ऊपर भारी जिम्मेदारी है कि वे कल के नागरिकों को शिक्षित करें, और आज की संस्कृति उन्हें सौंपें जिन्हें कल नेतृत्व संभालना होगा। इसलिए यह महत्वपूर्ण है कि वे न सिर्फ दूसरे के बच्चों पर कोई आंच आने दें, बल्कि सक्रिय रूप से हर बच्चे की क्षमता को इस तरह उभारें कि वे आदर्श जीवन व्यतीत कर सकें। शिक्षक का काम केवल रख-रखाव और सुरक्षा बनाए रखने का ही नहीं है बल्कि उभारने और संवारने का भी है, भविष्य पर दृष्टि टिकाए हुए, चरित्र में निहित मूल्यों को उजागर करने का भी है। अगर किसी शिक्षक का चयन मेहनत से जांच पड़ताल करके नहीं किया गया है तो उसके लिए यह कार्य बहुत ही दुष्कर है। हरेक कोई शिक्षक नहीं बन सकता या बन सकती; उसे समाज के श्रेष्ठ तत्वों का प्रतिमान और हरेक के आदर्शों की परिकल्पना स्वरूप होना होगा। विद्यार्थियों को पटन और व्यवहार में मार्गदर्शन और नेतृत्व देते समय, आदर्श शिक्षक को प्रत्यक्ष रूप में उजागर करना होगा। संक्षेप में शिक्षक के विशेष गुणों की व्याख्या निम्नलिखित रूप से की जा सकती है :

1. अन्य सरकारी प्रशासकों के लिए यह पर्याप्त है कि वे केवल अपने विभाग से संबंधित आंशिक ध्येयों से संबद्ध हों, लेकिन शिक्षकों के लिए आवश्यक है कि वे पूरी शिक्षा-प्रक्रिया को अपनाते हुए अपने आपको हर विशिष्ट विषय के वृहद ध्येयों की प्राप्ति के प्रति वचनबद्ध हों।

2. अधिकतर प्रशासनिक कार्य स्वभाव से ही निष्क्रिय और निषेधात्मक होते हैं। इसके विपरीत, शिक्षा को आवश्यकता होती है सक्रिय, प्रोत्साहनात्मक और संरचनात्मक प्रयत्नों की।

3. आम सरकारी प्रशासक लोकजन कल्याण की ओर नगण्य ध्यान दे सकता है। लेकिन शिक्षकों के लिए जरूरी है कि वे राष्ट्र की संपन्नता को अपना सबसे ऊंचा आदर्श बनाएं और उस ध्येय को पाने की अनथक चेष्टा करें।

4. सरकारी प्रशासक उनसे अपेक्षित कार्यों को केवल सामान्य विवेक के साधन से कर सकते हैं। दूसरी तरफ, शिक्षकों से अपेक्षाएं कहीं ज्यादा बड़ी

हैं। इसलिए, सामान्य विवेक के साथ साथ उन्हें चरित्र विकास के एक ऊंचे स्वरूप और विशिष्ट निपुणता की आवश्यकता है। इस रूप में, समाज शिक्षकों को वैसा ही सम्मान देता है जैसे आत्मा के अभिभावक के रूप में पहले नीतिज्ञों और धर्माधिकारियों को मिलता था। हालांकि वह भूमिका अब धर्म-निरपेक्षता के दायरे में ही निभानी होती है, मगर अपेक्षाएं अब भी उतनी ही बड़ी हैं।

5. शिक्षा प्रशासन की अन्य धाराओं से कहीं अधिक जटिल है। कानून और व्यवस्था को कार्यान्वित करने की क्रिया अपेक्षाकृत सरल है। इसके विपरीत, शिक्षकों को न सिर्फ बुनियादी सिद्धांतों को पूरी तरह समझना है बल्कि हर उस बच्चे के विशेष गुणों को भी जानना है जिन पर वे सिद्धांत लागू किए जाने हैं। उनके कार्यों के नतीजे और प्रभावों के दायरे बहुत बड़े हैं। जब तक कि काफी समय न बीत जाए, सफलताओं और असफलताओं को पहचान पाना आसान बात नहीं है।

6. जबकि अन्य कार्य व्यक्ति के केवल किसी विशिष्ट भाग से संबद्ध होते हैं, शिक्षक का धर्म है कि वह संपूर्ण व्यक्तित्व के हर आयाम में मूल्य ढूंढ़े। उसे संपूर्ण व्यक्ति की नींव इस तरह डालनी है कि उसमें किसी भी या हर क्षेत्र में काम कर पाने की क्षमता पैदा हो सके। इस लक्ष्य को पाने के लिए शिक्षकों को दो तरह के विशिष्ट ज्ञान-क्षेत्रों पर समुचित अधिकार होना चाहिए : मूल पाठ और विषयों का ज्ञान, और संचारण निदेशन और कार्यान्वित करने की विधियों और तकनीक का ज्ञान। शैक्षिक नीतियां निर्धारित करने से पहले, विधायकों और शिक्षा-निरीक्षकों को इस तथ्य की पूरी जानकारी होनी चाहिए।

9. शिक्षा को देश की सामाजिक बुराइयों से लड़ने का एक महत्वपूर्ण हथियार बनाया जा सकता है। मगर इसके लिए यह आवश्यक होगा कि प्रशासन के अन्य विभागों की तरह उसे श्रम-प्रधान मगर प्रभावहीन संस्थान न बनने दिया जाए। शिक्षा के लिए यथासंभव सबसे कारगर और साधन संपन्न नीतियां बनानी होंगी।

एक विशेष क्षेत्र जिस पर ध्यान देने की जरूरत है, वह है शिक्षा के विभिन्न परिसरों में तुलनात्मक व्यय। देश का इतना धन उच्च शिक्षा या स्वतंत्र शोध पर क्यों व्यय किया जाए, जब कि पनपते पौधों जैसी प्राथमिक शिक्षा की क्यारी को खाद भी नसीब नहीं है। प्राथमिक शिक्षा के परिसर में, अध्यापक इतने महत्वपूर्ण हैं कि व्यावहारिक रूप में जैसे वही अंगीकार प्राथमिक शिक्षा है। इसके बावजूद यह देखकर सदमा होता है कि उनकी निपुणताओं में सुधार और आधुनिकीकरण पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता।

यह पर्याप्त नहीं है कि शिक्षा-प्रणाली से संबद्ध गिने चुने व्यक्ति ही इस बात पर ध्यान दें। अगर हमें शिक्षा के लिए विवेकपूर्ण राष्ट्रीय नीति स्थापित

करनी है तो हर नागरिक को यह समझना पड़ेगा कि दांव पर लगा क्या है। जब शिक्षा के मूल्य और उद्देश्य समाज में सामान्य रूप से समझ लिए जाएंगे, तभी सरकार शैक्षिक नीति की ओर सजग होगी। निरीक्षण के लिए बाह्य अभिकरणों और सुव्यवस्था के लिए योजनाओं को बनाना पड़ेगा ताकि समाज और राष्ट्र बजट और व्यय पर अंकुश रख सकें। आंतरिक रूप से, सारे शिक्षा-संगठन की कायापलट करके उसे अधिक कारगर बनाने के लिए नए प्रतिमान बनाने होंगे।

मैं छोटे मोटे बदलावों की बात नहीं कर रहा हूं। प्रतिपादित लक्ष्यों के लिहाज से पूरा ढांचा ही गलत है। आज के नियमों में कितनी भी हेरा-फेरी क्यों न की जाए, जिस तरह के सुधारों की जरूरत है वे संभव नहीं हो पाएंगे। समाज की तरह शिक्षा का छोटा सा ब्रह्मांड उन लोगों की जड़ों में है जो उसे बनाते हैं। इस प्रकार, शिक्षा-संबंधी सुधारों के कर्ताधर्ता वही लोग हैं जो उसमें जुटे हैं। सुधारों के लिए मानव-संपत्ति को सहेजने के तरीके ढूंढ़ने हैं। जैसे जैसे समाज में यह अहसास बढ़ेगा कि मानव-विकास धन-दौलत और जायदाद से श्रेयस्कर संपत्ति है, वैसे वैसे यह बात भी उजागर होती जाएगी कि शिक्षा के जीवंतीकरण के लिए व्यवस्था के मानव-तत्व की ओर ध्यान देना होगा। यानी शिक्षकों की उन विभिन्न भूमिकाओं की ओर जो उन्हें निभानी है। बिना इस नींव के सुधार लाना ऐसा होगा जैसे हवा के बीच में दूसरी मंजिल बनाना।

अगर हम अपनी समकालीन शिक्षा-पद्धति को समाजशास्त्रीय निगाहों से देखें - यानी यह देखें कि पूरे समाज के संदर्भ में वह संपन्नता को कैसे संवारती और बढ़ाती है - तब हम इस बात पर ध्यान केंद्रित कर सकते हैं कि शिक्षा में सुधार के लिए क्या भूमिकाएं निभाई जानी हैं। सामान्य रूप में, सुधारों के लिए एक तरफ तो बजट के मुताबिक खर्चे कम करने जैसे निष्क्रिय अथवा परंपरागत साधन जुटाने होंगे; दूसरी तरफ, सुधारों को मोटे रूप से अधिक कारगर बनाने के लिए, इन सीमाओं के अंदर, भूमिकाओं की प्राथमिकता पर निर्णय लेकर सक्रिय या सृजनात्मक पग भी उठाने होंगे। कमियों के क्षेत्रों को मान्य स्तर तक लाना होगा, ज्यादतियों को घटाना होगा, व्यर्थ चीजों को संजोना होगा और असमानताओं को मिटाना होगा। लक्ष्यों को देखते हुए, कोई विशिष्ट भूमिका पूरी व्यवस्था के ऐतबार से या दूसरी भूमिकाओं के ऐतबार से कितनी आवश्यक है ? उसे रखने या रद्द करने से, शिक्षा के ध्येयों तक पहुंचने के लिए सामूहिक सक्षमता पर क्या प्रभाव पड़ता है ? इस तरह के सवालों और मुद्दों से उन्मुख होने के लिए निम्न क्षेत्रों में नीति-संबंधी निर्णयों की समीक्षा और नई परिभाषा करनी होगी :

1. कक्षा-संचालन में शिक्षक की भूमिका को ऊंचा करना।

2. शैक्षिक सुविधाओं और चलन में सुधार लाना।

3. शैक्षिक आवश्यकताओं के चलते, प्रशासकीय कार्यों को फिर से संबोधित करना।

4. शैक्षिक पद्धतियों को सुचारु बनाने के लिए प्रभुत्व-आधार का विस्थापन करना।

5. शैक्षिक अध्ययन पर शोध करने की सुविधाएं जुटाना।

6. शैक्षिक विवादों को सुलझाने के लिए एक बिचौलिया संस्था की व्यवस्था करना।

इनमें से हर विषय अलग अलग विमर्श के योग्य है और बाद में विस्तारपूर्णक इन पर ध्यान दिया जाएगा। लेकिन पहले मैं पूरी शिक्षा व्यवस्था के परिसर में शिक्षक की भूमिका की अपेक्षाकृत महत्ता की पड़ताल करना चाहूंगा।

शैक्षणिक प्रणालियों का संगठन

अपने विश्लेषण को सरल बनाने के लिए हमें पहले शिक्षाकर्मियों द्वारा निभाई गई दो सामान्य भूमिकाओं के भेद को समझना होगा। ये हैं : प्रत्यक्ष शैक्षणिक कार्य और अप्रत्यक्ष शैक्षणिक सहायता। शिक्षकगण जो शैक्षणिक गतिविधियों में अग्रणी होते हैं और विद्यार्थियों के सीधे संपर्क में आते हैं वे पहली भूमिका निभाते हैं। ये शिक्षक निश्चयपूर्वक शिक्षक की समस्त प्रणाली में सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति होते हैं। अन्य सब पद उनके शिक्षण की कारगरता में केवल सहयोग देते हैं। अगर शिक्षक की कक्षा में मुख्य भूमिका अच्छी तरह नहीं निभाई जाती, तो बाकी शिक्षा संबंधी कार्यकर्ता कितना ही जोर क्यों न लगा लें, कुछ हासिल नहीं होगा।

कला के क्षेत्र में, कलाकार के सृजनकर्ता और समालोचक के मूल्यांकनकर्ता के स्वरूपों में स्पष्ट अंतर है। शिक्षा के क्षेत्र में, एक तरफ तो शिक्षा, कला को कार्यान्वित करने वाला शिक्षक है तो दूसरी तरफ गौण किंतु अनिवार्य भूमिका निभाते हुए शैक्षिक चिंतक एवं शोधक है। आदर्श अध्यापक या अध्यापिका वह है जिसे शिक्षण के तकनीकी पक्ष पर पूरा अधिकार होता है - इतना अनुभवी कि शिक्षण उसकी रग रग में समा गया हो; अच्छे परिणाम पैदा करने में इतना सफल कि उसे सब अनुकरणीय व्यक्ति के रूप में पहचानें और सम्मान दें। एक सच्चे गुरु का हुनर (अथवा कला) अन्य विधाओं में ज्यादा साफ तौर पर नजर आता है। ऐसा शायद इसलिए है कि उनकी गुण-संपन्नता के अभिलेख या ठोस प्रतीक अगली पीढ़ियों तक जीवंत रहते हैं। अगर अन्य कलाओं के गुरुओं का यश और तकनीक अगली पीढ़ियों तक सुरक्षित रखे जा सकते हैं, तो फिर ऐसा क्यों कि सिर्फ शिक्षा का क्षेत्र ही अलग हो ? शिक्षा केवल कला

ही नहीं बल्कि ऐसी बड़ी जटिल कला है जिसे, अन्य कलाओं की तरह, अगली पीढ़ियों में प्रसारित होना चाहिए। हमारा अनुसंधान इसी दिशा में आगे बढ़े ताकि इस तरह के गुरुओं का शिक्षा के क्षेत्र में भी सृजन हो।

बहरहाल, गुरु और शिक्षक की समानताएं यहीं समाप्त हो जाती हैं। आधुनिक शैक्षणिक व्यवस्थाओं में, शिक्षण की शक्ति स्वयं शिक्षकों से उत्पन्न नहीं होती है। वह समस्त शिक्षा-पद्धति के केंद्र में अंगीभूत होती है, और वही उसमें सम्मिलित शिक्षकों को सशक्त बनाती है। शिक्षा एक संपूर्ण जीव की विशिष्ट कोशिकाओं जैसा होता है जिसकी तुलना स्नायु-तंत्र अथवा बदन में नसों के जाल की बाहरी छोर वाली स्नायु-कोशिकाओं से की जा सकती है।

इसी उपमा को आगे बढ़ाएं तो हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार शारीरिक प्रणाली शरीर की सीमा के बाहर काम नहीं कर सकती उसी प्रकार आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था भी समाज से अलग काम नहीं कर सकती। जिस तरह एक क्रम अथवा अंग अन्य क्रमों और अंगों को प्रतिबिंबित करता है, यहां भी केंद्र और वितरण-शाखाओं जैसा संबंध देखा जा सकता है। शिक्षा जैसी विस्तृत और जटिल प्रणाली के लिए राष्ट्रीयकृत सार्वजनिक प्राथमिक शिक्षा केवल दो भागों में बंटे पूरक और सहकारी संगठन से संभव है। एक भाग जो सीधे चलन से संबंध रखता है और जिसमें अनेक दूरगामी तत्वों का समावेश होता है; और दूसरा भाग केंद्रीय नियोजन का जो प्रशासनिक कर्तव्यों और अनुसंधान से संबद्ध होता है।

शैक्षणिक भूमिकाओं के तुलनात्मक संगठन की जीवंत दृष्टि की अंतिम कड़ी उस समय तथ्य से जुड़ी होती है जिससे यह पता चलता है कि शिक्षा और समाज का विकास अलग अलग प्रक्रियाएं नहीं हैं बल्कि एक का विकास दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ था। व्यापार पहले पहल समाज में बिना सरकारी दखल या केंद्रीय सत्ता के होता था, मगर उसकी जटिलता बढ़ने के साथ समाज के व्यापार को नियंत्रित करने के लिए केंद्रीय नेतृत्व की आवश्यकता पड़ी। यही बात शिक्षा के क्षेत्र पर भी लागू हुई। शिक्षा शुरू तो हुई स्वयं, प्रेरित सेवा के रूप में, चर्च के स्कूलों और अध्यापकों के निजी उद्यम की तरह। धीरे धीरे, यह राज्य (स्टेट) की स्थापना के बाद, प्रशासनिक दायरे में आ गई। चूंकि शिक्षा का विषय सार्वजनिक बन गया, इसलिए समाज की ओर से शिक्षा का स्तर बनाए रखने के लिए सरकार ने हस्तक्षेप करना शुरू किया। अंततः, सरकार ने निजी क्षेत्र में अनुदान करने के बजाय, शिक्षा का क्षेत्र पूरी तरह अपने नियंत्रण में ले लिया। शिक्षा प्रणालियों का विकास और उससे संबद्ध भूमिका की चर्चा अगले भाग में की जाएगी।

शिक्षक एक शैक्षणिक तकनीशियन के रूप में

शिक्षा में शिक्षक की भूमिका का विकास

समाज में शिक्षक शैक्षणिक गतिविधियों के केंद्र-बिंदु होते हैं। इस पुरस्कृत सामाजिक सेवा में, शिक्षक के अनूठे कर्तव्य की प्रकृति को समझने के लिए प्रश्न यह उठता है कि समाज की उनसे अपेक्षा क्या है ? श्रम विभाजन का कौन-सा भाग उनकी परिधि की संरचना करता है ? उन्हें क्या जिम्मेदारियां निभानी हैं ? शिक्षा के जीवंतीकरण के प्रयास में इन सवालों पर पहले विचार करना होगा।

शिक्षा-संबंधी सुधारों पर विमर्श इस स्पष्ट अंतर्दृष्टि को लेकर आगे बढ़ सकता है कि शिक्षा को लेकर सरल धारणाएं काम नहीं आतीं। हम चाहे पुराने स्वच्छंद विचारों को तब तक मानते रहें, मगर एक बात साफ है : इस आशा में कि कभी न कभी जाने-अनजाने कुछ तो पल्ले पड़ ही जाएगा, सिर्फ विद्यार्थियों को एक अनुकरणीय, विद्वान और नैतिक व्यक्ति के संपर्क में लाने भर से एक दोषविहीन शिक्षा प्रणाली की संरचना नहीं हो जाएगी। लेकिन, शिक्षा का स्वरूप क्या होना चाहिए, इस बारे में अस्पष्ट धारणाओं से भी कुछ नहीं होगा। इसलिए हम शिक्षा के विकास के संदर्भ में शिक्षक की बदलती भूमिका का विवेचन करते हैं, और साथ ही उससे संबद्ध शैक्षणिक संस्थाओं के विकास का।

पहला काल : ज्ञान के सीधे प्रेषण का काल। मौखिक संस्कृतियों में एक आदर्श शिक्षक की तीन योग्यताएं हैं : जिसकी शिक्षा देनी है उसका व्यापक ज्ञान, ज्ञान-प्रेषण की क्षमता और बच्चों के लिए, उदाहरणस्वरूप एक अनुसरणीय व्यक्तिगत चरित्र। समझ का फैलाव और सशक्त स्मरण-शक्ति लेखन संस्कृति में आदरणीय योग्यताएं हैं।

दूसरा काल : छापने की तकनीक आ जाने पर, ज्ञान को एक अधिक समझ सकने वाले आकार में प्रेषण के लिए, कभी तीर, कभी तुक्कों पर आधारित सुधारों का काल। पहले, पाठ्यक्रम का चयन और संयोजन शिक्षक को सौंपा गया। फिर, छात्रों की बढ़ती संख्या और छपाई के उद्योग के विकास के चलते, अन्य मूलपाठों का चलन बढ़ा। इस प्रयोजन में कभी तीर, कभी तुक्कों से तहत कई हुनर और सीखे जाने थे। बहुत-सा व्यावहारिक अनुभव नष्ट हुआ क्योंकि सूचना केवल अधपके नोट्स के माध्यम से दी गई।

तीसरा काल : विशिष्ट क्षेत्र-केंद्रित मूलपाठों की उत्पत्ति का काल। छात्रों की संख्या बढ़ने के साथ आदर्श शिक्षकों की मांग पूरी करने के लिए पर्याप्त संख्या में विद्वान और नैतिक व्यक्ति ढूंढ़ पाना मुश्किल हुआ। सरकारों ने शिक्षण के अधिक कार्यक्षम साधनों की खोज में साथ दिया। शिक्षक के पूर्ण व्यक्तित्व

में से एक योग्यता - पाठ्यों का ज्ञान - को अलग करके अनुभव और शैक्षणिक विधियों के ज्ञान पर विशेष ध्यान दिया गया। श्रम के इस विभाजन के चलते, शिक्षण के वास्तविक प्रकार्य से परे, विद्वानों ने अपना समय मूलपाठ संजोने में जुटाया। कारगर होने के लिए यह जरूरी नहीं था कि शिक्षक अपने विषयों के विशेषज्ञ हों; बस मूलपाठ अधिकृत होना चाहिए था और उनका इस्तेमाल प्रेक्षण के लिए हो रहा हो। शिक्षण प्रक्रिया में इस अवस्था में छपा हुआ शब्द ही सर्वोपरि था।

चौथा काल : निदेशित अध्ययन का काल। आसपास के जीते जागते वातावरण में प्राकृतिक और सामाजिक घटनाओं का अध्ययन सीधे अवलोकन से हुआ। इस प्रक्रिया में मूलपाठों ने केवल संदर्भ सामग्री का काम किया, उस तरह से जैसे व्याकरण और विधि की किताबें एक जानी-पहचानी भाषा की बारीकियों के लिए ज्ञानपूरक की तरह इस्तेमाल की जाती हैं।

लेकिन इस सबका आज के शिक्षक के लिए क्या अर्थ है ? यह प्रत्यक्ष है कि शिक्षकों के उपयोग में हम चौथे काल वाली भूमिकाएं अदा करने से आगे नहीं बढ़े हैं। सामान्य व्याख्या की जाए तो इस काल में शिक्षकों का काम छात्रों के हित का नियोजन करना है ताकि वे इंगित सामग्री को समझ सकें। लेकिन वास्तव में उसका मतलब है क्या ? एक तो यह कि अब शिक्षकों का अस्तित्व महज सूचना की पाइप लाइन या नलिकाओं का नहीं रह गया है, बल्कि वे सूचित करने की प्रक्रिया में उत्प्रेरक बन गए हैं। अब वे शैक्षिक सामग्री और छात्रों के बीच नहीं खड़े रह गए हैं बल्कि संचालक की भांति हैं। वे ये ध्यान रखते हैं कि ध्यान जगाया जाए, कायम रखा जाए, और सही वेग एवं आंतरिक स्पष्टीकरणों से उसे और बढ़ाया जाए।

मूल उद्देश्य यह है कि छात्र पाठों की वैधता का स्वयं अपने जीवन में अनुभव करें। वैसे जब छात्र छोटी उम्र के हों तो शिक्षकों को शायद यह जरूरत पड़े कि वे स्वयं अपने ऊपर ही अधिक जोर डालें - यानी अस्थायी रूप से, अन्य शैक्षिक सामग्री के बजाय प्रतिक्रियाएं उभारने के लिए। हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि शिक्षार्जन की प्रक्रिया में शिक्षक सहायक-मात्र हैं। शिक्षक छात्रों के स्थान पर सीख नहीं सकते; सीखने की प्रक्रिया छात्रों पर ही छोड़नी चाहिए। अगर छात्रों में चीजों का अनुभव करने की प्रतिक्रिया न जागे, तो चाहे शिक्षक कुछ भी क्यों न कर लें सब कुछ बेकार हो जाएगा—जब यह अहसास जागता है तो शैक्षणिक प्रक्रिया वेगशील हो जाती है।

इसके लिए शिक्षक में अत्यधिक संवेदनशीलता की आवश्यकता है; उस अनूठे प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण की जानकारी की आवश्यकता है जिसमें वह पढ़ाता है या पढ़ाती है। इसके साथ छात्रों का उन चीजों के साथ संपर्क

स्थापित करने की स्वार्थहीन लगन भी होनी चाहिए जिनसे उन्हें सुख प्राप्त होगा—वास्तविक जीवन की परिस्थितियों में सर्वाधिक मूल्य प्राप्त करने के जरिए प्रकृति और समाज के साथ सुसंयोजन के जरिए। शिक्षक में दाई जैसी संवेदनशीलता की जरूरत है जो यथार्थ में मदद तो करे, मगर उस पर नियंत्रण नहीं, मदद करने के लिए तत्पर खड़ा हो, मगर आड़े न आए।

हमें शिक्षकों की बदलती भूमिका को शिक्षण सामग्री के विकास के परिसर में भी देखना चाहिए। यहां तीन अवस्थाएं देखी जा सकती हैं। पहली मूल पाठ्य पुस्तक की अवस्था है। इस अवस्था में, शिक्षक कक्षा के समक्ष खड़ा होता (या होती) है—केवल पुस्तकों को ही शिक्षण सामग्री बताते हुए, मौखिक रूप से स्पष्टीकरण देते हुए और शारीरिक रूप से पाठ निदेशित करते हुए। दूसरी अवस्था है संदर्भ-सामग्री की अवस्था। पुस्तकों पर पहले की ही तरह ध्यान केंद्रित रहता है, मगर अब वह विभिन्न पूरक-सामग्री से समृद्ध की जाती हैं, जैसे तस्वीरें, वास्तविक वस्तुएं, चार्ट, प्रतिमान, इत्यादि। ये कक्षा में दिलचस्पी जगाने और सीखने की इच्छा बढ़ाने के लिए लाई जाती हैं। तीसरी अवस्था प्रायोगिक शिक्षा की अवस्था है। इस अवस्था में प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण ही शिक्षण सामग्री प्रदान करता है। शिक्षक एक मार्गदर्शक की तरह होता है जो छात्रों का दुनिया के साथ सीधा संपर्क स्थापित कराने में मध्यस्थ की भूमिका निभाता है।

शिक्षक की असली महत्ता उसके नोट-दायक के स्वरूप में देखने की एक प्रवृत्ति भी है। शिक्षक अपना महत्वपूर्ण समय उस सामग्री को पढ़ाने में बर्बाद करते हैं जो छात्र स्वयं पढ़ सकते हैं। सिवाय उन आलेखों के जिनके अनुवाद नहीं मिल पाते या उन सूचनाओं के जो अभी व्याप्त नहीं हैं, इन घिसी पिटी और अदक्ष शैक्षणिक विधियों पर आग्रह क्यों ? ऐसा करने में लोक-संचार के उस पूर्वकाल की झलक मिलती है जब शिक्षक के मुंह से निकले हुए शब्द एक शक्तिशाली रहस्य बुन देते थे। विकास के परिप्रेक्ष्य में, शिक्षा अब उस दिशा की ओर उन्मुख है जहां शिक्षक के अन्य आवश्यक प्रयत्न कम होंगे। इसके साथ साथ छात्रों की ऊर्जा और शिक्षार्जन की क्षमताओं को व्यर्थ होने से बचाकर ज्यादा अच्छे उपयोग में लाया जाएगा। इस प्रकार मैं प्राथमिक शिक्षा से लेकर विश्वविद्यालीय शिक्षा में एक बड़ा दिशांतरण होता हुआ देख रहा हूं।

इसके अलावा मैं यह भी भविष्यवाणी करता हूं कि यह बदलाव केवल शिक्षक के बोझ को कम करके नहीं बल्कि शिक्षकों की संख्या को भी कम करने पर आएगा। जो कुछ अपने आप पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाता है, उस पर उत्साहहीन व्याख्यानों के खत्म हो जाने से शिक्षक पाठ्य पुस्तकों को समझने और लागू करने में छात्रों की आत्मनिर्भरता पर ध्यान जुटा पाएंगे। यंत्रचालित

रूप से विषय के लिए एक शिक्षक की जरूरत भी नहीं बचेगी। एक छोटी संख्या में चयनात्मक रूप से प्रशिक्षण पाए हुए अध्यापक प्रति स्कूल पर्याप्त होंगे। इसके अलावा, कई कक्षाओं और विस्तृत पाठ्यक्रम के समूहों के अधिक अच्छे मार्गदर्शन के लिए बस एक ही शिक्षक पर्याप्त नहीं होगा, बल्कि शैक्षिक परिणाम भी श्रेयस्कर होंगे। आज यह धारणा है कि शिक्षक को हर समय कक्षा के समक्ष उपस्थित रहना चाहिए। प्रस्तावित बदलाव इस मान्य धारणा से परे, शिक्षा में मूल्यों के प्रति चेतना जगाने की तरफ एक कदम है। स्वयं के अध्ययन का दायित्व और छात्रों के लिए मान-प्रणाली मूल्य-सृजनात्मक शिक्षा के मुद्दे के अनुकूल होंगे। स्पष्ट है कि यह बदलाव समकालीन शिक्षा में पूर्ण तबदीली कर देगा। कुछ नहीं तो मात्र आर्थिक कारणों से, मैं समझता हूं कि इस बदलाव के लिए उपयुक्त समय आ गया है।

शिक्षक का स्वभाव और योग्यताएं

शिक्षा के क्षेत्र में तीस साल से अधिक गुजार चुकने के आधार पर मैं यह कह सकता हूं : शायद ही कोई ऐसा एक समूह होगा जो शिक्षकों से अधिक अपने बचाव की चिंता और सेवा-भाव के प्रति कमतर लगाव से पीड़ित हो। ऐसा यदाकदा ही होता है कि शिक्षक अपनी इस प्राथमिक चिंता से परे व्याप्त राष्ट्र या समाज के बारे में विचार करें। मुझे निराशा और शर्म का अहसास होता है जब मैं यह देखता हूं कि शिक्षक समुदाय में से कितने कम लोग इस बात पर विचार-विमर्श करते हैं कि सार्वजनिक हित के लिए क्या किया जाए, हालांकि अपने स्वार्थी-हित के लिए वे एक भी अवसर हाथ से नहीं जाने देते। दीक्षा देने के इन लगभग चालीस सालों के दौरान, मेरा सारा अनुभव जैसे शाक्य मुनि के शब्दों में निहित अफसोसजनक सत्य को चरितार्थ करता है : "किसी भी एक धारा से संलग्न व्यक्ति जो दूसरों की परवाह किए बिना मुक्ति पाना चाहते हैं, कभी बौद्धत्व प्राप्त नहीं कर सकते।"

केवल तब जब शिक्षकों में यह अहसास घर कर जाता है कि वे अपने बंधुओं के ही नहीं बल्कि सारे बच्चों के अभिभावक हैं, वे सक्षम शिक्षक बन जाते हैं। इस लिहाज से शिक्षाकर्मी व्यावहारिक नैतिकवादी होते हैं। उन्हें सतत अच्छाई और बुराई के बीच निर्णायक बनने के लिए तैयार रहना चाहिए और तदनुसार उनमें कार्यवाही करने का साहस भी होना चाहिए। यह एक गंभीर उत्तरदायित्व है, कोई ऐसा काम नहीं जो हम किसी पर भी छोड़ दें।

मेरे कहने का अर्थ यह है कि शैक्षणिक व्यवसाय में यह धारणा निहित है कि शिक्षक एक अनुकरणीय मनुष्य हो, जीवन मार्ग पर एक पथ-प्रदर्शक हो। इस प्रकार शिक्षकों के लिए आदर्श योग्यताओं के विमर्श में यह बात निहित

है कि इन्हीं योग्यताओं के कारण व्याप्त समाज उसे आदरणीय माने। प्राथमिक से लेकर विश्वविद्यालीय स्तर की शिक्षा तक, विद्यार्थियों की उम्र या उनके विद्योचित स्तर कुछ भी हों, यह मान्यता भेद के परे होनी चाहिए। अगर कोई व्यक्ति इन मानकों पर खरा नहीं उतरता और फिर भी शिक्षक की भूमिका अदा करता है तो यह धोखाधड़ी से कम नहीं है।

हमें अपने आप से अब यह पूछना चाहिए कि वास्तव में शिक्षक की योग्यताएं क्या होनी चाहिए ? एक बात निश्चित है कि इस पद पर सम्मानित व्यक्ति को एक संपूर्ण व्यक्ति होना चाहिए : कोई ऐसा जिसका व्यक्तित्व एकीकृत हो, यानी उसकी कथनी और करनी में पूर्ण तारतम्य हो। शिक्षक की एक समग्र योग्यता जो उभर कर आई है, वह है चरित्र, बौद्धिकता और व्यक्तिगत आचरण का तालमेल। अतीत से कम से कम यह योग्यता कभी नहीं बदली है, न ही यह भविष्य में बदलेगी—न सभ्यता के पतन, राजनीतिक दबाव या ओछे व्यक्तियों की ईर्ष्यालु चालों से। यह सोचने का कोई कारण नहीं है कि लोग सच्चे चरित्र को पहचानना और सम्मान देना बंद कर देंगे क्योंकि यह मानव स्वभाव की बात है, और मूल प्रकृति से मनुष्य बुरा नहीं होता।

शिक्षकों का मूल्यांकन उन अस्त-व्यस्त निरीक्षकों को नहीं सौंपना चाहिए जिनके व्यस्त कार्यक्रम उन्हें सिवाय सतही अटकलें लगाने, या वर्ष में कुछ संक्षिप्त दौरों में आकस्मिक निर्णय लेने के अलावा किसी और चीज की अनुमति नहीं देते। न ही यह मूल्यांकन उन्हें सौंपना चाहिए जिनके अपने निजी हित मूल्यांकनों को बदनीयती से रंग दें। नहीं, शिक्षक के सच्चे मूल्य के पास जाने के लिए, सबसे उपयुक्त साधन यह होगा कि विगत वर्षों में उसके द्वारा पढ़ाए गए विद्यार्थियों की शैक्षिक उपलब्धियों को स्वतंत्र रूप से जांचा जाए। इसमें किसी धोखे की संभावना नहीं है; शिक्षक का प्रभाव स्वयं अपना साक्षी है।

इसे हम दूसरे दृष्टिकोण से भी देख सकते हैं। ऐसा क्यों है कि आज स्कूलों में इतनी उथल-पुथल है, और उसके विपरीत अतीत में शिक्षक-शिक्षार्थी के संबंधों के औचित्य के चलते "विद्यार्थी शिक्षक की परछाईं से तीन फुट दूर चलते थे ?" क्या यह धोखाधड़ी शिक्षकों की नियुक्ति के कारण नहीं है ? क्या शिक्षकों के चयन की प्रक्रिया भटक नहीं गई है ? लेकिन यह भी सही है कि दोष इसी पर नहीं मढ़ा जा सकता, क्योंकि जब शिक्षा का सच्चा स्वरूप ज्ञानविहीन और अस्त-व्यस्त नीतियों में साफ झलकता है तो क्या इस सबका दोष समाज की विवेकहीन उदासीनता पर नहीं आ जाता ?

लेकिन यह भी सही है कि शायद हमें यह अपेक्षा करने का कोई अधिकार नहीं है कि सब वांछित पदों के लिए काफी संख्या में चरित्रवान व्यक्ति मिलें, क्योंकि अब वह समय आ गया है जब हमें पुलिस के अफसरों की नियुक्ति

के लिए भी औसत से कम व्यक्ति से काम चलाना होगा। यह सब कुछ एकदम अचानक और अस्त-व्यस्त तरीके से हुआ है। हम लोगों ने आखिर सोच क्या रखा था ? जल्दी जल्दी में स्थापित शैक्षणिक प्रशिक्षण से क्या मिलेगा, सिवाय बीहड़ अधकचरे व्यवसायिकों के ? यही शिक्षा के स्तर में गिरावट का कारण है। इसलिए मैं दुबारा कहता हूं कि शिक्षकों के चयन हेतु सम्मानपूर्ण चरित्र वाले व्यक्तियों को ही खोज निकाला जाए।

इस स्थिति में सुधार लाने के लिए, पहले तो हमें चयन के मापदंड बनाने होंगे और फिर इस बात पर शोध करना होगा कि इन मापदंडों को कार्यान्वित कैसे करें। शिक्षकों की न्यूनतम योग्यताओं पर विचार हेतु मेरे निम्नलिखित सुझाव हैं–

1. बुनियादी व्यावसायिक ज्ञान में कुछ प्रवीणता - यानी, शैक्षिक सिद्धांतों को कार्यान्वित कर पाने के लिए पर्याप्त विद्योचित पृष्ठभमि। इसके अलावा, बदलती दुनिया से संपर्क बनाए रखने के लिए एक अच्छे पाठक की जिज्ञासा और समकालीन विषयों पर अधिकार। प्राथमिक स्कूलों के बच्चों का पूरा भविष्य उनके आगे है। वहां शिक्षक पदों पर बैठे शैक्षणिक व्यवसायियों के लिए यह अत्यावश्यक है कि उन्हें शैक्षणिक सिद्धांतों का अच्छा ज्ञान हो। यह तो आम समझदारी की बात है।

2. लेकिन उससे भी पहले शिक्षकों के सामान्य ज्ञान का धरातल व्यापक होना चाहिए ताकि वे अपने द्वारा निर्वाचित व्यवसाय में विशिष्ट ज्ञान की महत्ता का आकलन कर सकें और संदर्भ के अंतर्गत विषय वस्तु का उचित मूल्यांकन कर सकें। यानी, शिक्षकों को जूनियर कालेज अथवा उससे ऊंचे स्तर तक शिक्षित होना चाहिए।

3. दो प्रकार की सामाजिक चेतना। पहली, शिक्षक को उस लघुरूपीय सहकारी समाज, अथवा स्कूल में प्रकार्य करने के लिए सक्षम होना चाहिए। दूसरी, शिक्षक का चरित्र समाजीकृत होना चाहिए, ताकि वह विद्यार्थियों के लिए आदर्श प्रतिमान बन सके। शिक्षक को अपने समूह के उद्देश्य इतनी अच्छी तरह जानने चाहिए कि वे अपने विशिष्ट क्षेत्र के परिप्रेक्ष्यों से परे भी देख सकें। इसके साथ ही, पूर्ण राजनीतिक ढांचे में जो पारस्परिक संघर्षरत लक्ष्य दिखाई पड़ते हैं, उनमें उनसे निपट पाने की क्षमता भी होनी चाहिए। शिक्षक के दृष्टिकोण में न्याय और नेकी सामाजिक चेतना के माध्यम से ही आनी चाहिए।

समाज शिक्षक की परिभाषा इस तरह करता है : वह व्यक्ति जिसे श्रम के विभाजन में शिक्षा प्रदान करने की जिम्मेदारी दी गई है, वांछित विशेषज्ञता के साथ। जिस तरह डाक्टर चिकित्सा की तकनीक व्यवहार में लाता है, उसी तरह शिक्षक को शिक्षा का तकनीशियन या कारीगर होना चाहिए। यह एक

तथ्य है कि एक अव्यवसायी से व्यवसायी शिक्षक ज्यादा कारगर होता है—वही शिक्षक को शिक्षक बनाता है। जैसा हमने देखा, शिक्षक से न्यूनतम अपेक्षा यह होती है कि वे मूलपाठों के आधार पर विद्यार्थियों का अध्ययन करने में मार्गदर्शन कर सकते हैं। इससे अधिक कुछ भी तकनीक को सुधारते रहने से ही हासिल हो सकता है। इसलिए शिक्षक व्यवसाय के उम्मीदवारों के सैद्धांतिक प्रशिक्षण में वैज्ञानिक परियोजना की अत्यधिक आवश्यकता है। उसी से तकनीकी नियम निकलेंगे और साथ ही शिक्षण के व्यावहारिक सबक मिलेंगे। कभी तीर, कभी तुक्का तरह की शिक्षा पाए हुए शिक्षक के हुनर पर हमें उतना ही विश्वास होगा जितना उसी तरह शिक्षा पाए हुए डाक्टर से इलाज कराने पर। इन सबसे यह परिणाम निकलता है कि अपने विषय में शिक्षण की व्यावहारिक तकनीक शिक्षण की प्राथमिक योग्यता है। इसके साथ शिक्षा के सैद्धांतिक नियमों की जानकारी भी होनी चाहिए, जो तकनीकों का आधार है।

लेकिन इसमें वह नैतिक तत्व कहां है जिसे हमने सब मापदंडों की आधारशिला माना था ? विद्वता अगर मिल भी जाए, लेकिन इतनी तादाद में गुणवंती लोग मुश्किल से मिलेंगे जिनकी सार्वजनिक शिक्षा को जरूरत है। शायद हमें नेक व्यक्तियों से काम चलाना पड़ेगा, जो नैतिक रूप में महान न हों तो कम से कम अनैतिक भी न हों। अध्ययन के अन्य क्षेत्रों में हमें चाहे समझौता भी करना पड़े और हर एक शिक्षक से यह अपेक्षा न भी की जाए कि वह हर विषय समझता हो, मगर नैतिकता के मामले में हम ढीले नहीं पड़ सकते। ऐसा इसलिए क्योंकि नैतिकता के नियम ही शैक्षिक सिद्धांतों की जड़ हैं, और वे ही शिक्षाकर्म के दिशासूचक निदेशकों के प्रदायक हैं। कोई एक शिक्षक भी इस प्रतिबंध से मुक्त नहीं किया जाना चाहिए।

हम ऑगस्ट कोम्ते द्वारा प्रतिपादित मानव-ज्ञान के विकास में तीन अवस्थाओं का अध्ययन कर चुके हैं। अंतिम अवस्था वह थी जिसमें व्यक्ति दूसरों को विलग करके स्वयं अपने सुख की खोज में तुष्टि नहीं पाता। इस अवस्था में वह अपने किसी स्वरूप को समुदाय और देश के सामूहिक जीवन के लिए प्रस्तुत करता है, और वह भी आकस्मिकता के चलते नहीं बल्कि दिन प्रतिदिन। शिक्षकों के लिए यह रुख अन्य अभिरुचि से अधिक महत्वपूर्ण है। यह उनकी सोच में रम जाना चाहिए, ताकि शिक्षा के उद्देश्य तय करने में असमंजस न रहे। सामाजिक चेतना, शैक्षणिक सिद्धांत और शिक्षण-प्रणाली, इन सबमें एक नैतिक दृष्टि मुख्य रूप से निहित है। जब तक शैक्षणिक उम्मीदवार इस मर्म के प्रति जागृत नहीं होंगे, वे खोखले और रूढ़िवादी पाठ ही पढ़ाते रहेंगे।

सामान्य रूप से शिक्षक और शिक्षाकर्मी जो भी करें मगर नैतिक शिक्षा उनका मार्मिक उद्देश्य है। क्या यह वही रेखा नहीं है जो शिक्षकों को अन्य

मूल्य-सृजनकर्ताओं जैसे कलाकारों और शिल्पविज्ञानियों से अलग लाकर खड़ा कर देती है ? यानी, शिक्षक और अशिक्षक के बीच गुणात्मक अंतर भी यही है कि शिक्षक का मूल्य-सृजन की प्रक्रिया में विशिष्ट नैतिक मूल्यों से सीधा संबंध होता है। अगर शिक्षकों और शिक्षाकर्मियों को अनुकरणीय भूमिकाएं निभानी हैं तो सबसे महत्वपूर्ण यह है कि वे नैतिक-मूल्य के सृजन में तत्पर हों। शिक्षकों के कार्य में यह अत्यावश्यक है कि वे छोटी छोटी क्रियाओं और रुझानों को लेकर भी जागरूक रहें क्योंकि उनमें निहित नैतिकता समाज की एकता को ललकार सकती है।

मैं सामाजिक समस्याओं का स्रोत गुणविहीन शिक्षा को मानता हूं—गलत उदाहरणों से उपजी हुई गलत धारणाएं। यह तो स्पष्ट है कि जब नेता ही अपनी नैतिकता की कमी की खुली नुमाइश करें तो समाज में ही कोई-न-कोई दोष है। यह ऐसा है जैसे हमने खजाने की चाबी चोरों को दे दी हो। शिक्षा के क्षेत्र में भी हमें ऐसे शिक्षक मुश्किल से मिलते हैं जो उदारचित्त और दायित्वपूर्ण नागरिक हों और सामाजिक जीवन में सक्रिय रूप से सहयोग दे रहे हों। बजाय इसके, शिक्षक समुदाय का एक बड़ा हिस्सा ईर्ष्यापूर्ण कलह में रत रहता है और बिना किसी कारण से बेबुनियाद अफवाहें उड़ाता रहता है। उनमें इतना साहस नहीं है कि वे एक दूसरे से तथ्यों के आधार पर खुले दिल से विचार-विमर्श कर सकें, आलोचना और गलतियों की तरफ इशारा तो दूर की बात है।

पहले नैतिक शिक्षा का मूल ध्येय सार्वजनिक नैतिकता को निचले धरातल से ऊपर की ओर अग्रसर करना था। लेकिन अब निरीक्षक या शिक्षा-मंत्रालय के अधिकारियों को क्या अपने नागरिक दायित्वों के इस पक्ष का ध्यान है ? नहीं। कड़वा सत्य यह है कि वे शिक्षा के वास्तविक अर्थ से पूरी तरह अनभिज्ञ हैं। स्कूल खेल-कूद, प्रारूप या शिल्प-कला इत्यादि में बेहतरीन कार्य करते रहें, लेकिन जब तक वे समाज की बुराइयों के लिए इलाज नहीं ढूंढ़ते, मुझे डर है कि वास्तव में वे समस्याओं में और इजाफा ही करेंगे।

इसी कारण, प्राध्यापक और शिक्षकगण चाहे बाह्य रूप से सुचारुपन का लेप चढ़ा लें या अपने से ऊंचे पद वालों की चापलूसी करें, लेकिन उनकी आंतरिक अशांति उनके असंगत व्यवहार में फिर भी झलकेगी। और यह अशांति अंततः समाज में फैल जाएगी। मेरे लिए संभव नहीं है कि मैं यह हानि होते हुए देखकर भी बस चुप रहूं। शिक्षण को अधिक कठोर निरीक्षण के अंतर्गत लाना होगा, और उसका मतलब है शैक्षिक प्रशिक्षण और शैक्षिक प्रशासन के प्रति सामाजिक चेतना और अपेक्षाओं को ऊंचा उठाना। शिक्षकों के लिए अच्छाई और बुराई में अंतर सर्वोपरि है। बाकी व्यवसायों में कोई भी प्रचलन आम हो, लेकिन जब उदासीनता और अचेतना के चलते शिक्षकगण सही और गलत को अनदेखा

कर देंगे तो उसे केवल शैक्षणिक व्यवसाय की ईश निंदा की संज्ञा दी जा सकती है। जब तक कि शिक्षा का स्रोत शुद्ध नहीं होगा, हम पूरे बहाव में गंदले पानी के भंवरों की पुनरावृत्ति होते हुए पाएंगे।

प्राथमिक स्कूल के प्राध्यापकों के लिए एक परीक्षाक्रम

इस भाग में प्राध्यापकों द्वारा समाज की अपेक्षाओं और प्राथमिक शिक्षा की संपूर्ण संभावना को चरितार्थ करने की मेरी अभिधारणा का विवरण है। इसके लिए हमें एक तो सक्षमताओं के मानकों का ढांचा बनाना पड़ेगा जिसमें शैक्षणिक सामग्री पर नियंत्रण और शिक्षण विधिओं के ज्ञान के साथ साथ स्कूल के प्रशासन के लिए ज्ञान और प्रवीणता शामिल होंगे। दूसरे, इन मानकों को पूर्ण रूप से कार्यान्वित करने के लिए, एक यथातथ्य परीक्षा प्रणाली बनानी होगी। मैं इसे पूरी शिक्षा-सुधार योजना का मुख्य मुद्दा मानता हूं। बिना आमूल कांट-छांट के, हर वर्ष असुचारु रूप से प्रशासित स्कूलों में पनपते खतरे और बढ़ते जाएंगे।

अब तक पूरी की पूरी निर्वाचन प्रक्रिया एक उत्साहविहीन सिलसिला रही है, जिसमें सही वस्तुपरक मानकों का पदार्पण भी नहीं हुआ है। जैसा कि कल्पना की जा सकती है, चयन का विशेष ढर्रा चलता रहा है सहज बुद्धि की सामान्य पहचान और दुनियादारी के तजुर्बों पर, तात्कालिक जरूरतों को पूरा करने की क्षमता पर, या फिर मेलजोल और ऊंचे स्तरों से संपर्क बनाए रखने के गुण पर। कभी कभार सिर्फ अनहोनी के तौर पर ये पद अच्छे व्यक्तियों को भी मिल जाते हैं। लेकिन ज्यादातर निर्वाचन के आधार शिक्षा के मुख्य लक्ष्य से बिल्कुल असंबंधित अथवा अप्रासंगिक होते हैं। इसलिए हमें बहुत से प्राध्यापक ऐसे दिखते हैं जो अपने पदों के योग्य नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि इस विधि-विहीनता के खतरे नजर नहीं आते, लेकिन कोई और विधि विकल्प के रूप में प्रस्तुत नहीं होती।

इस समस्या के निवारण की विधि की खोज में पहला कदम होगा शैक्षणिक निरीक्षण प्रणाली पर ध्यान केंद्रित करना। आज स्थिति यह है कि गिने चुने निरीक्षकों को खंडों के सारे जिलों का दौरा करना पड़ता है और इस तरह हर स्कूल में वे केवल न्यूनतम समय ही दे पाते हैं। उनसे इसके अलावा कोई उम्मीद नहीं की जा सकती कि वे स्कूल के हालात और शिक्षकों की सक्षमता को बस सरसरी निगाह से देखें। यह तो निश्चित है कि निरीक्षकगण थोड़ी बहुत तैयारी से आते हैं इसलिए किसी आम आदमी की अपेक्षा फिर भी उन्हें यह बेहतर अंदाज हो सकेगा कि अच्छा या बुरा हो क्या रहा है। लेकिन फिर भी यह जानकारी बिलकुल आम स्तर की होती है। इसलिए अनुबंधों के पुनर्नवीनीकरण और पद भरने को लेकर वे जो सिफारिशें लिखते हैं वे ठोस नहीं हो सकतीं। इसके बजाय

वे केवल इधर उधर सुनी बातों का ही सहारा लेते हैं।

आवश्यकता है किसी प्रकार की परीक्षण-सूची की : चयन के मानकों की आधार-सूची जिसके बनिस्पत कार्यरत प्राथमिक स्कूलों के प्राध्यापकों का मूल्यांकन किया जा सके। इसके अलावा, खुद निर्वाचन प्रक्रिया के अध्ययन की भी जरूरत है। इन सवालों के जवाब ढूंढ़ने के लिए, बेहतर यह होगा कि हम इस बात की पड़ताल करें कि प्राध्यापकों के जिम्मे क्या काम दिए जाते हैं और क्या वे पदोचित आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। पहली नजर में ऐसा लगेगा कि यह बात तो बिलकुल स्पष्ट है, मगर सच तो यह है कि समाज को इस तरह की व्यवस्था बनाने की जल्द जरूरत का अंदाजा नहीं है। स्वयं प्राध्यापकों को भी साफ तौर पर मालूम नहीं है कि उनसे अपेक्षाएं क्या हैं, इसलिए वे ज्यादातर निरीक्षण-अधिकारियों के दबाव से झुक जाते हैं। अंधे को अंधा ही राह दिखाए —इस स्वांग के बारे में अगर कोई विचार करता भी है तो बोल पाने का साहस नहीं जुटाता।

तो फिर प्राध्यापकों को करना क्या चाहिए ? हमें दो संबद्ध क्षेत्र दिखाई देते हैं :

1. प्रशासनिक कर्तव्य - यानी, स्कूल को नियमानुसार चलाने की प्रक्रिया का निरीक्षण जिससे निष्क्रिय रूप में नियमन की समस्याओं की रोकथाम की जा सके।

2. मूल्य-सृजनात्मक प्रयत्न - यानी, सक्रिय रूप से शिक्षकों की समर्थता को बढ़ाना, और उस तरह अधिक सार्थक शिक्षा को सीधे बच्चों तक पहुंचाना। यानी मुराद व्यवस्था चलाने भर की नहीं है बल्कि संलग्न और प्रेरित शिक्षकों की प्रवीणता को कार्यान्वित करने में पहल करने की और उनके रास्ते से अवरोध हटाने की है।

प्राथमिक स्कूल के प्राध्यापकों के प्रकार्यों में अव्वल नंबर पर उपर्युक्त सक्रिय संबद्ध क्षेत्र है। बाकी प्रकार्य - हिसाब किताब, अभिलेख, उच्च निरीक्षण का अनुमोदन और उनसे तालमेल, इत्यादि - गौण और कम महत्ता वाले हैं। हर चीज मूल्य के मार्मिक उद्देश्य से प्रस्फुटित होती है, वही शिक्षा का जीवन है। अगर सक्रिय मूल्य-सृजन में तुलनात्मक रूप से कम समय और प्रयत्न भी लगता है, तब भी यह कार्य का वह भाग है जिसको हटाया नहीं जा सकता, क्योंकि वही इस पद के कार्य का मर्म है। पुनःआवृत्ति वाले और यंत्रचालित प्रशासनिक दायित्वों को अधीनस्थ कर्मचारियों को सौंपा जा सकता है। अभिलेख बनाए रखने और स्थापित नियमों पर आचरण की रिपोर्ट बनाने जैसे कार्य आसानी से किसी के भी हाथों हो सकते हैं। लेकिन बच्चों की शिक्षा में मूल्य-सृजनता के लिए यथोचित स्थितियां पैदा करने की सक्रिय उत्प्रेरणा कोई साधारण काम

नहीं है और इसलिए किसी और पर नहीं छोड़ा जा सकता है।

तो फिर वे यथोचित स्थितियां क्या हैं जो अच्छे प्राध्यापकों द्वारा दी जानी चाहिए ? सबसे पहले आवश्यकता है स्थिरता की। जैसे एक घरवाले का पहला काम है घर की सुरक्षा और शासक का काम देश की सुरक्षा प्रशस्त करना, वैसे ही प्राध्यापक के कार्य के क्रम में पहला स्थान है स्कूल में शांति का वातावरण पैदा करना। चाहे स्कूल बाहर से कितना भी अच्छा क्यों न लगे या जनसंपर्क के प्रयत्न कितने भी सफल क्यों न हों, लेकिन सबसे गणमान्य प्राध्यापक भी अपनी लोकप्रियता के शिखर से गुमनामी की खाई में गिर जाएगा, अगर बुनियादी व्यवस्था कायम नहीं की जाती। इसी प्रकार पुरस्कृत स्कूल भी केवल अस्थायी या अर्द्ध सफलताओं और विशिष्ट कार्यक्रमों में चमकते हैं। वास्तव में बुनियादी मानक तय करके स्थायी सुधार लाने पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

लेकिन शैक्षिक प्रशासन की प्रकृति सार्वजनिक प्रशासन के अन्य क्षेत्रों से कुछ भिन्न होती है। इसलिए इसमें सुधार भी सरकार के अन्य भागों से अलग तरह से कार्यान्वित होते हैं। इन भागों में सुधार आधारभूत नियमों के सार्वभौमिक व्यावहारीकरण द्वारा होता है। व्ययकारी और अनावश्यक चीजों की पूरे ढांचे में रोकथाम होती है। उन प्रशासनिक अवयवों में फेरबदल की जाती है या वे हटा दिए जाते हैं जिनकी समकालीन उपयोगिता समाप्त हो गई है।

इसके विपरीत, आज शिक्षा के क्षेत्र में धन संबंधी प्रतिबंध लगभग समाप्त हो गए हैं। शिक्षा में आधुनिक नागरिक अपने बच्चों का भविष्य देखते हैं। लोग आज थोड़ी अधिक मेहनत करने को तैयार हैं ताकि उनके बच्चों को अधिक उचित शिक्षा मिलती रहे। लोग अब स्कूलों द्वारा दी गई सुविधाओं से संतुष्ट नहीं हैं, बल्कि सच तो यह है कि उन्हें शिक्षकों और समकालीन शिक्षा प्रणाली के चरित्र पर घोर आपत्तियां हैं। इसलिए लोग केवल बजट की या कर्मचारियों की सतही कटौती नहीं चाहते बल्कि एक संपूर्ण, प्रगतिशील और रचनात्मक सुधार चाहते हैं जो मूल्योन्मुख विचारों पर आधारित हो।

"एक ढहती हुई मिट्टी की दीवार पर सिर्फ लीपा-पोती नहीं चलती"—इसी उक्ति को चरितार्थ करते हुए कहा जा सकता है कि बाहरी सहारे एक बुनियादी रूप में घटिया ढांचे को खड़ा नहीं रख सकते। अब सिर्फ सौंदर्य-प्रसाधनों या सतही इलाजों का समय नहीं रह गया है। शिक्षा-संबंधी सुधार जड़ से लेकर शिखर तक लागू करने होंगे।

हर तरफ बुरे तत्वों को हटाने के लिए प्रशासन की संपूर्ण सफाई की मांग है। और वह ठीक भी है—अनावश्यक कर्मचारी और वे जिनकी उपयोगिता समाप्त हो गई हो उन्हें अगर जरूरत पड़े तो हटा देना चाहिए। लेकिन क्या उनकी जगह अकुशल और अनुभवहीन लोगों की नियुक्ति करनी चाहिए ? अनावश्यक

की कटौती के नाम पर मुझे उन सब पुराने व्यावसायिकों को खो देने में बहुत अफसोस होगा जिनके पास सालों-साल का शिक्षण अनुभव और विशेषज्ञता है। वे भी क्या सुधार हैं जो हीरों को पत्थरों के साथ फेंक दें या कुशल और अकुशल में अंतर न कर पाएं ? हम दोनों चीजें एक साथ नहीं पा सकते : हम विख्यात शिक्षाकर्मियों के उच्च समझे वाले वेतनों के विरुद्ध होकर उनकी जगह छोटी उम्र और कम महंगे शिक्षकों को नियुक्त कर देने पर हामी नहीं भर सकते, जब कि हम साथ साथ गुणात्मक शिक्षाकर्मियों की कमी की भी भर्त्सना करते हैं।

सार्थक सुधारों की दिशा बिलकुल विपरीत होनी चाहिए। पूंछ पकड़कर चढ़ने का कोई लाभ नहीं है अगर एक बार कमजोर निर्वाचन मापदंडों के कारण ऐसे शिक्षकों की नियुक्ति हो गई है जिनकी कारगरता पर प्रश्नवाचक चिह्न है। इसके बजाए, ऊर्जाओं को शिक्षाकर्मियों की गुणात्मकता को बढ़ाने में लगाना चाहिए। मैं निश्चित रूप से कह सकता हूं कि इस तरह वास्तविक बचत होगी। अगर हम कार्यकर्ताओं का ध्यानपूर्वक चयन करके श्रेष्ठ मानव संपत्ति को बटोर सकें और फिर उतने ही ध्यान से उन सही व्यक्तियों का चयन करें जो इस मानव संपत्ति को निदेशित और समन्वित कर सकें तो असल में स्वयं अधीक्षकों और निरीक्षकों की संख्या में कटौती करने में कोई परेशानी सामने नहीं आएगी।

अब हम मूलभूत प्रश्नों पर वापिस आ गए हैं : हम प्रवीण शैक्षणिक कर्मचारियों का चयन कैसे करें, और वे क्या योग्यताएं हैं जो किसी को उनके प्रयत्नों के मूल्यांकन में सक्षम बनाती हैं ? यह मेरा विश्वास है कि यहां से आगे बढ़ने का सबसे सही रास्ता यह है कि हम प्राध्यापकों के चयन के लिए पहले एक परीक्षा-प्रणाली स्थापित करें। उम्मीदवारों में से वे जो प्राध्यापक पद के लिए पूरा आत्मविश्वास, निष्ठा और सम्मान प्रत्यक्ष रूप में दर्शा सकें, उन्हीं का चयन किया जाए। और फिर उन्हें खुली छूट देनी चाहिए ताकि वे निदेशन कर सकें या असक्षम और अप्रवीण कर्मचारियों को छांट सकें। ऐसा करने से कम से कम शिक्षाकर्मियों की कारगरता में अवनति थम जाएगी, और प्रवीण शिक्षकों की कारगरता बढ़ सकेगी। नए शैक्षणिक उम्मीदवारों में श्रेष्ठ योग्यता उभारने के लिए एक अलग प्रस्ताव हम बाद में प्रस्तुत करेंगे। फिलहाल हम अपना ध्यान उस परीक्षा-प्रणाली की न्यूनतम आवश्यकताओं पर केंद्रित करेंगे जिनका उद्देश्य है उम्मीदवार शिक्षकों में अग्रणी का चयन—

1. परीक्षा के प्राधिकारी : परीक्षा समिति के गठन का आधार अन्य व्यवसायों जैसे कानून, चिकित्सा और तकनीकी व्यापारों इत्यादि के उदाहरणों को लेकर बनाया जा सकता है। इस समिति में उन शैक्षणिक विद्वानों के साथ, जिनके पास कम से कम शिक्षा मंत्रालय के माध्यमिक स्कूल प्रामाणिकरण की

योग्यता है, समाजशास्त्र और उससे संबद्ध क्षेत्रों के विशेषज्ञ भी होने चाहिए। उम्मीदवारों और प्राध्यापक पदों पर आसीन शिक्षाकर्मियों की परीक्षा यही समिति करेगी।

2. परीक्षा की विषय सूची : प्राथमिक स्कूल के प्राध्यापकों के पद से सीधे संबद्ध शैक्षणिक अध्ययन के ज्ञान के प्रदर्शन के लिए निबंध की विद्या उपयोग में लाई जाएगी। इसमें वैज्ञानिक प्रशिक्षण और विभिन्न शिक्षा-विधियों के सम्मिलित अनुभव पर विशेष बल दिया जाएगा। (दुर्भाग्यवश, अब तक व्यावहारिक विधियों पर शैक्षणिक अनुसंधान बहुत क्षीण है। अभी तक शिक्षा के व्यावहारिक अध्ययन को अर्पित सुविधाओं की स्थापना नहीं हुई है। व्यावहारिक अध्ययन से तात्पर्य है वास्तविक अनुभव से संयोजित वह शिक्षा-कौशल जो शिक्षण की वास्तविक और जीवंत स्थितियों पर लागू किया जा सके।)

3. परीक्षा का अभिप्राय : परीक्षाएं यह प्रशस्त करेंगी कि वे व्यक्ति जो स्कूलों के और भविष्य के नागरिक बनाने के लिए उत्तरदायी हैं, वे अंधी अंतर्दृष्टि अथवा हठधर्मी से कार्य करने के बजाय अपने क्षेत्र की विवेकपूर्ण और वैज्ञानिक धारणाओं को अपनाएं।

चिकित्सा, वकालत, औषध विज्ञान इत्यादि सब उच्चस्तरीय व्यवसाय अपने अनुकूल उच्चस्तरीय विशिष्ट शिक्षा की अपेक्षा करते हैं। इसी प्रकार प्राथमिक स्कूल के शिक्षकों को भी केवल सामान्य माध्यमिक स्कूल की शिक्षा के परे अपने व्यवसाय की उच्चस्तरीय जानकारी होनी चाहिए। तभी वे अपने दायित्वों का विधिवत निर्वाह शिक्षण में वैज्ञानिक खोजों के आधार पर कर पाएंगे।

अब तक शिक्षकों के साथ समस्या यह रही है कि काम चला पाना काफी आसान रहा है। शिक्षाकर्मी बच्चों के साथ काम करता है, और वे बच्चे खुद के लिए न तो मूल्यांकन कर सकते हैं और न ही अपने बचाव में आलोचना। इस कारण शिक्षकगण अपने शिक्षण कार्य को बेतरतीब रूप से करते रहे हैं, जिसके कुप्रभाव काफी समय गुजर जाने तक नजर नहीं आते। तभी तो बिना कुछ अतिरिक्त अध्ययन किए, गुणविहीन व्यक्ति भी कुछ घंटे लगाकर काम चला लेते हैं। और इसीलिए बहुत सारे शिक्षक उन्हीं थका देने वाले पाठों को साल-दर-साल दस बीस साल तक दोहराते रहते हैं, बिना कुछ नया खोजे, बिना कोई मूल्य-सृजन किए। इतना समय व्यतीत करने के बावजूद इन शिक्षकों के पास कोई ऐसी उपलब्धियां नहीं होतीं जो वे दूसरों को दे सकें। चूंकि उनके पास केवल अपने संकीर्ण अनुभव के और कुछ भी नहीं होता, वे कालांतर में अथक हठधर्मी बन जाते हैं। प्राध्यापकों पर इस तरह के अ-शिक्षकों का समन्वय और उन्हें निदेशित करने का उत्तरदायित्व होता है। इसलिए अत्यावश्यक है कि उन्हें पाठ्यक्रम और व्यावहारिक निपुणता पर उच्च-स्तर की दक्षता प्राप्त हो।

आज शिक्षा इस पतन की खाई में इसलिए पहुंच गई है क्योंकि पिछले पचास से भी ज्यादा वर्षों में उसके स्तर को गिरते रहने दिया जा रहा है। समस्याओं के इस ढेर का समाधान एक दिन में नहीं ढूंढ़ा जा सकता। इसके कुप्रभाव बहुत गहराई में व्याप्त हो गए हैं। इनके लिए अनेकानेक व्याप्त अध्ययनों और ठोस प्रस्तावों की जरूरत पड़ेगी। आज उसका समय है। इस सिलसिले में हम उपर्युक्त परीक्षण प्रणाली जैसी कोई प्रणाली कार्यान्वित करके शुरुआत कर सकते हैं। जब भी नए पदों पर नियुक्ति करनी होगी, इस विधि से प्राध्यापक-उम्मीदवारों के विशिष्ट प्रशिक्षण की आवश्यकताओं को विलग करने में मदद मिलेगी।

शिक्षकों के नियोजन-प्रतिबंधों में प्रस्तावित सुधार

सार्वजनिक शिक्षाकर्मियों के रोजगार की शर्तों में सुधार - इसे लेकर अहम सवाल यह है कि किसे खुश किया जाए, शिक्षकों को या समाज को ? लगता ऐसा है कि इन दोनों के बीच लंबी खाई है। कोई भी शिक्षाकर्मी यह कभी नहीं कहेगा कि उनके पारिश्रमिक किसी भी दृष्टि से बहुत ज्यादा हैं। दूसरी तरफ, बाकी समाज यह असंभव पाता है कि वह अपने जीवनयापन के स्तर के दायरे में, अंतर्विहीन दिखने वाली निरंतर मांगों को पूरा कर सके। माध्यिका की तरह, पूर्वनिश्चित सीमाएं स्थापित की जानी चाहिए। हम अध्यापक हमारा हिस्सा दिलाने में राजनीतिज्ञों के प्रयासों के प्रति कृतघ्न हैं, मगर साथ साथ हमें इस बात का अहसास भी होना चाहिए कि हमारे वेतन साधारण नागरिक पर लगाए गए करों से आते हैं।

इसलिए हम पहले इस पर विचार कर लें कि क्या हमें जरूरत से ज्यादा मिल रहा है ? जाहिर है यह मुद्दा समकालीन आर्थिक स्थिति और समाज की संपन्नता पर निर्भर करता है। उदाहरण के रूप में, विश्वयुद्ध (प्रथम) के दौरान एक समय था जब उद्योग फल-फूल रहे थे, और शिक्षकों का पारिश्रमिक व्यावसायिक लोगों से इतना कम था कि बहुत से अच्छे शिक्षक व्यापारिक संस्थाओं की तरफ आकर्षित हो गए। जब लड़ाई खत्म हुई और अचानक आर्थिक स्थिति अवनतिग्रस्त हो गई, बहुत से लोगों ने अपनी पुरानी नौकरियों पर वापस जाना चाहा। आर्थिक स्थिति बदलती रहती है। इसलिए कोई पक्का नियम बनाना मुश्किल है। यह कहने की जरूरत नहीं है कि महंगाई भत्ते में ऊंच नीच की गुंजाइश होनी चाहिए। लेकिन जहां तक सवाल है हमारे व्यवसाय के समकालीन भौतिक लाभों का, हममें से कोई भी यह नहीं कह सकता है कि हमें बाकी समाज से कुछ कम मिल रहा है। अगर हम शिक्षण प्रशिक्षण स्कूलों में मैट्रिक करने की होड़ को देखें तो पता चल जाता है कि सारे हालात अच्छे हैं। साफ बात तो यह है कि हमारे व्यवसाय के पारिश्रमिक ज्यादातर निजी व्यापारियों के लिए जलन का कारण हैं।

शिक्षक शिक्षा में प्रस्तावित सुधार

शिक्षक प्रशिक्षण कार्यक्रमों के संशोधन पर चिंतन

शिक्षा मंत्रालय ने जो शिक्षक प्रशिक्षता में सुधार के लिए प्रस्ताव रखा है, उसमें एक बात उल्लेखनीय है : मंत्री महादेय और उनके अधीनस्थों में से कोई भी कभी किसी शिक्षक प्रशिक्षण स्कूल में नहीं गया है। एक समाचार पत्र ने प्रस्ताव के इस पहलू पर टिप्पणी करते हुए यह कहा है : "चूंकि योजना में मंत्रालय के प्रमुखाधिकारियों में से कोई भी ऐसा नहीं है कि जिसका शैक्षिक समुदाय से अतीत या वर्तमान में कोई संबंध रहा हो, इसलिए यह आशा की जाती है कि वे समाज की अपेक्षाओं का प्रतिनिधित्व करेंगे, न कि शिक्षाकर्मियों से पक्षपात।"[6] एक तरह से यह अच्छी बात है क्योंकि इसके चलते, सामान्यजन भी शैक्षिक मुद्दों के निर्णयों में सम्मिलित हो जाएंगे। लेकिन इसमें निहित व्यावसायिक शिक्षाकर्मियों पर अविश्वास और उस पर सार्वजनिक अनुमोदन, शिक्षकों के लिए चिंता का विषय होना चाहिए। मुझे डर है कि इन वस्तु स्थितियों का दोष हम पर ही जाता है।

खैर जो भी हो, मेरा निवेदन है कि ये कदम वर्तमान के अवरोधों के लघुकालीन समाधान हैं। मुझे नहीं लगता कि इस प्रस्ताव की प्रासंगिक अवधि कुछेक सालों से अधिक है। मैं यह सोचकर निराश हूं कि समकालीन सक्रिय शिक्षाकर्मियों पर अविश्वास के कारण, न तो योजना बनाने वालों ने और न ही समाज के सहमत सदस्यों ने भविष्य में झांका भी है।

कितना अच्छा होता अगर यह अवसर समकालीन शिक्षा में निहित दिशाओं को प्रतिबिंबित करती हुई नीतियों के स्थापन के लिए प्रयोग किया जाता, बजाए इसके कि उसे बस आज की परिस्थितियों और साथ ही कमियों पर पैबंद लगाने में इस्तेमाल किया जाए। दूसरे शब्दों में केवल सामाजिक वास्तविकताएं ही निर्णयात्मक नहीं हो सकतीं। योजना में शिक्षा के अनिवार्य लक्षणों को भी सम्मिलित होना चाहिए। व्यस्त सार्वजनिक प्रशासकों ओर अभियंताओं के लिए शायद यह दूर की बात है, और उन्हें तात्कालिक फल पैदा करने होते हैं। मेरी अपनी आशा यह है कि एक डाक्टर तात्कालिक संकेतों की जांच-पड़ताल के साथ साथ यह संलग्नता और दूर-दृष्टि भी रखेगा कि रोगी की पूरी शारीरिक संरचना के परीक्षण के बाद ही निर्णयों की उद्घोषणा करे। जो प्रश्न उठाने चाहिए वे प्रासंगिक मुद्दों पर होने चाहिए। हमें यह पहचानना चाहिए कि समाज के जीवन का यह एक अंग कितनी व्यापकता और एकरूपता से हर अंश और संपूर्णता से जुड़ा हुआ है।

केवल जब हम संपूर्ण सामाजिक परिस्थिति की अपेक्षाओं का समाहित और वस्तुपरक मूल्यांकन कर लेंगे, तभी शिक्षक की शिक्षा के यथोचित मूलभूत प्रस्ताव उजागर होंगे। इसके लिए बुनियादी तथ्यों की ओर पूर्णतया उन्मुख होना होगा, यानी

शिक्षकों की समाज में क्या भूमिका होगी, इस प्रश्न पर पुनर्विचार करना होगा। पहले उसकी स्पष्ट छवि तो बना ली जाए कि शिक्षकों को करना क्या है, तभी तो उसे प्राप्त करने की योजना बनाई जा सकेगी। इसी से शिक्षा, विशेषकर शिक्षकों की शिक्षा, के दिशासूचक प्रयत्नों की उत्पत्ति होगी।

आज तक शैक्षणिक शिक्षा सिर्फ इस सरल धारणा पर आधारित रही है कि पाठ्यक्रम का ज्ञान ही बहुत काफी है। इस एकरेखीय चिंतन को एक तीन सूत्रीय योजना से समृद्ध करने का समय आ गया है :

1. सामान्य विधाएं : पाठ्यक्रम अध्ययन, विभिन्न विषयों पर प्रभुत्ता पाने के लिए।
2. प्रारंभिक तकनीकें—विधिक्रम, शैक्षणिक प्रविधियों और विभिन्न विषयों में दिशा-निर्देशन का अनुभव और ज्ञान पाने के लिए।
3. नैतिक बीजारोपण—चरित्र विकास, शिक्षक की चरित्र विकास में आदर्श के रूप में भूमिका का अहसास दिलाने के लिए, जो बाकी दोनों उद्देश्यों की बुनियाद है।

इन तीनों उद्देश्यों का विस्तार इस विवेक के साथ किया जा सकता है कि शिक्षक बनने से पहले शिक्षक स्वयं एक शिक्षार्थी है जिसे हर स्तर पर शिक्षा की आवश्यकता है :

	विद्यार्जन	विधियां	आचार
छात्र स्तर	सूचना का संगठन और ज्ञान का वास्तविक जीवन में व्यावहारिकरण।	आवश्यक लेखन और मौखिक कुशलताओं को सीखना, शिक्षा के अभिलेखन और उपयोग के लिए।	शिक्षक के व्यक्तिगत आचरण के उदाहरण से नैतिक सिद्धांतों की ग्रहणशीलाता और नैतिक मूल्य सृजन के स्वरूप
शिक्षक स्तर	सूचनाओं की संगठन प्रक्रिया का निर्देशन और मूल्य सृजन की ओर व्यावहारिकरण।	प्राप्त करने और उपयोग करने की मूलभूत कुशलताओं के प्रचलन की तकनीकों का अध्ययन और प्रयोग।	स्वयं का आदर्श चरित्र चरितार्थ करना।
शैक्षणिक प्रशिक्षण स्तर	विद्योचित विधियों के लिए सूचना प्रदान और अध्ययन का निर्देशन।	सामान्य प्रारंभिक और पृष्ठभौमिक ज्ञान के लिए अध्ययन निर्देशन।	चरित्र निर्माण में विधिवत सहयोग।

समकालीन शैक्षणिक शिक्षा परियोजनाओं में अधिकतर केवल पहले क्षेत्र पर विचार किया गया है, यानी विद्योचित ज्ञान पर। शिक्षण के तकनीकी और नैतिक आयामों में प्रशिक्षण अब भी दूर की बात ही है। इसके अलावा आवश्यक कुशलताओं और तकनीकी ज्ञान का निर्धारण भी अस्तव्यस्त है। जहां तक नैतिक रूप से व्यक्तियों के मूल्यांकन और चयन का प्रश्न है, अभी हम उन क्षेत्रों से जहां उनका संस्थापन हुआ है, जैसे सेना में, आमुख भी नहीं हैं। इस जमाने में जब शिक्षकों को व्यावसायिक मार्गदर्शन देने का मूल्य नहीं पहचाना गया तब शैक्षणिक प्रशिक्षण के तकनीकी पहलुओं पर कम ध्यान दिया जाना अवश्यंभावी था। लेकिन अब जब यह बात निश्चित हो गई है कि शिक्षा के वैज्ञानिक अनुसंधान की उत्त्पति और व्यावहारिकता का स्रोत वास्तविक अनुभव हैं, यह आवश्यक है कि आचरण की तकनीकों पर जोर दिया जाए। एक शैक्षिक सिद्धांत को अंततः दोष-विहीन बना पाने के लिए वैज्ञानिक रूप से नियम स्थापित करने होंगे। अगर समकालीन कभी तीर, कभी तुक्के वाली शिक्षा प्रणाली इस तरह विद्यार्थियों को दिशान्वित करने के स्वच्छंद उद्देश्यों में परिवर्तित हो जाए, तो मैं दावे के साथ कह सकता हूं कि उन अनिश्चितताओं का सफाया हो जाएगा जिन्होंने हमें इतने समय तक परेशान किया है और उनकी जगह सफल और ठोस योजनाओं का बोलबाला होगा। हर गुजरते सत्र के साथ शिक्षा अधिक कारगर होती जाएगी। और चूंकि शिक्षक स्वयं में दिलचस्पी लेंगे, वे एक ऐसी गरिमापूर्ण कला के गुरु बन जाएंगे जो किसी भी अन्य उपलब्धि से गौण नहीं है।

व्यावसायिक प्रतिष्ठा के लिए अकेली योग्यता केवल तकनीक ही नहीं है। इसमें नैतिक दायित्व और सामाजिक चेतना भी निहित है। हर प्राथमिक स्कूल का शिक्षक लगभग सत्तर छात्रों की कक्षा के लिए जिम्मेदार होता है। हर छात्र उतना ही अनूठा और महत्वपूर्ण जीवन है, जितना कि कोई भी वयस्क। हम जानते हैं कि हमारी यह मनोकामना नहीं है कि दृढ़ता से तकनीकी प्रयोग हो, और यंत्रचालित परिणाम हमारे सामने आएं। लेकिन अगर हम इस कठोर उत्पादन-शृंखला को समाप्त कर देंगे तो अनुशासन की समस्या उठ खड़ी होगी। इस समस्या की गंभीरता तब साफ नजर आती है जब हम अपाठ्यक्रमिक गतिविधियों, जैसे स्कूल के बाहर के दौरों के नियंत्रण, का उदाहरण लेते हैं। यहां बच्चों को खतरा हो सकता है। अगर कोई छात्र घायल हो जाए या मर जाए, तो शिक्षक के सीमित संदर्भ से परे वह एक बड़ा मुद्दा बन जाता है। पूर्ण स्वच्छंदता की हामी जो भरते हैं वे शिक्षा की वास्तविकताओं के बारे में बहुत कम जानते हैं। शिक्षण एक कला हो सकती है मगर कलाकारों के विपरीत शिक्षक का वास्ता निर्जीव वस्तुओं से नहीं होता। अंततः शिक्षण एक नैतिक प्रस्तावाना है।

विभिन्न शिक्षकों के प्रयासों में शायद थोड़ा बहुत ही अंतर होता हो। जो वे करते हैं उनमें प्रत्यक्ष अंतर सापेक्ष कोटि, परिसर, और उनके मान्य उद्देश्यों के

विस्तार का है। एक शिक्षक उपयुक्तता में दूसरे के समान नहीं होता और बदली हुई परिस्थितियों में उन्हें नए कार्यभार सौंपना पूरी तरह अदक्षता सिद्ध करती है। इससे कहीं अधिक अच्छा शिक्षकों को अंतिम उद्देश्यों को ध्यान में रखकर प्रशिक्षण देना होगा। शिक्षकों की चैतन्यता बढ़ाने का मतलब है हर शिक्षक को समकालीन परिस्थितियों का सामना करने के लिए उनकी कारगर नम्यता बढ़ाना। इस तरह नए कार्यभार और बार बार समंजन करने की व्ययकारी आवश्यकता भी समाप्त हो जाएगी। वास्तव में, अधिकतम नम्यता बदलती परिस्थितियों से समन्वय ही शिक्षण का मर्म है।

जिन सैद्धांतिक मान्यताओं को हम मानकर चलेंगे, उन्हीं के स्तर पर शैक्षणिक शिक्षा प्रणाली की पुनर्रचना का कौशल निर्भर करेगा। अब तक की सफलताएं और हमारा सतत कोरे कागजों पर वापस आ जाना इसी बात को सिद्ध करने के अलावा और कुछ भी नहीं करता। जब स्कूल-प्रणाली शुरू की गई, तो लगभग एक ही ध्येय था, शिक्षा को राष्ट्र-व्यापी बनाने के लिए, शिक्षकों की तादाद कैसे बढ़ाई जाए। यह अवश्यंभावी था कि गुण से अधिक मात्रा पर जोर हो। मगर अब जापानी शिक्षा प्रणाली इस तरह की विचारधारा की सीमा तक पहुंच गई है और समय आ गया है कि इस धारा की दिशा मात्रात्मकता से मोड़कर सुविधाओं की गुणात्मक संभावनाओं की ओर कर दी जाए। हमारे पास शिक्षक तो अच्छी तादाद में हैं। अब से हमें अपनी योजनाओं में शिक्षकों की सारगर्भिता बढ़ाने के लिए कदम उठाने होंगे। निम्न प्रश्नों को सही उत्तरों की आवश्यकता है :

1. क्या शिक्षा केवल विस्तार में ही बदलनी है, सार में नहीं ? केवल सूचनाओं में कुछ बढ़ोतरी करके, क्या शिक्षा समकालीन सामान्य योजनाओं का विस्तार-मात्र होगी ? और अतिरिक्त विशिष्ट प्राविधिक अध्ययन या व्यावहारिक प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था नहीं होगी ?
2. क्या प्रशिक्षण प्रक्रिया बाहर से आरोपित होगी ? या फिर, शिक्षकों को स्वयं अपनी खोज और व्यावहारिक प्रक्रिया की ओर उन्मुख करने से ? क्या शैक्षणिक प्रशिक्षण स्कूल केवल उन बेहतरीन सूचनाओं के वाहक हैं जो पढ़ाई जानी चाहिए ? या फिर उन्हें ऐसा केंद्र बनाना है जहां सुचारु रूप से शिक्षक ज्ञानार्जन कर पाएं और इस तरह छात्रों की ज्ञानार्जन और खोज की प्रक्रियाओ में मदद करें, और जहां शिक्षकगण संबद्ध विधियों को कार्यान्वित कर पाएं ?

न भी कहा जाए, मगर एक बात पक्की है : सिर्फ एक आम आदमी के बराबर ज्ञान वाला व्यक्ति यह निर्णय लेने में सुकून पा ही नहीं सकता कि व्यावसायिक सूचना के कौन-से अंश शैक्षणिक प्रशिक्षण कार्यक्रमों में सम्मिलित किए जाने योग्य हैं तो फिर निर्णय किससे लेने चाहिए ?

शायद विद्योचित लोगों, यानी अकादमिकों के पास भी इन विशिष्ट चिंताओं को लेकर आम आदमी से ज्यादा परिप्रेक्ष्य न हों—यहां तक कि निर्णय शैक्षणिक प्रशिक्षण स्कूलों के प्राध्यापकों की संचालन समिति के ऊपर छोड़ दिया गया है। यह इसलिए क्योंकि शिक्षा प्रशासन का विश्वास है कि वे ही निर्णय लेने में सक्षम हैं। लेकिन यह प्रश्न समिति से पूछा जाना वैसा ही हुआ जैसे किसी उत्पादक से उत्पाद को सुधारने के बारे में राय लेना, बजाए इसके कि सीधे उपभोक्ता की प्रतिक्रियाओं की तरफ ध्यान दिया जाना। तो फिर उनसे क्यों न पूछा जाए जो शैक्षणिक शिक्षा के भोग करने वाले हैं, यानी प्राथमिक स्कूलों के सक्रिय प्राध्यापकों से जो कि प्रशिक्षण स्कूलों के प्राध्यापकों के लिए अंतर्दृष्टि के भंडार हैं। हम चाहेंगे कि हम उन प्राथमिक स्कूलों के प्राध्यापकों की राय जरूर लें जिनकी श्रेष्ठता अनुभव सिद्ध है और जिन्हें शिक्षा-सुधार के भविष्य की वैज्ञानिक पकड़ भी है। लेकिन यह स्थापित करने से पहले, हमें शिक्षक की विशेषकर प्राथमिक स्कूल के शिक्षकों की अनिवार्य भूमिका की फिर से जांच करनी पड़ेगी। यह बात कहने में कुछ ज्यादा ही मेहनत किए जाने का खतरा तो है, मगर फिर भी हम उन दर्शनों पर विचार कर लें जो कि शिक्षक के व्यक्तित्व में अंगीकार होते हैं :

1. क्या प्राथमिक स्कूलों के शिक्षकों को सूचनाओं का वितरक होना चाहिए, या फिर जिज्ञासा और शिक्षार्जन की प्रक्रिया में मददगार निर्देशक ? समस्याओं की जड़ यह है कि अब तक गलती से पहली भूमिका को अपनाया गया है। सुकरात ने बहुत पहले कहा था, "ज्ञान का संचार नहीं किया जा सकता"। ऐसा लगता है कि इन शब्दों का भावार्थ अभी हम समझे नहीं हैं।

    इस प्रकार शिक्षक अपना समय सूचनाओं को छात्रों के दिमागों पर थोपने पर लगाते रहे हैं, जब कि उन्हें करना चह चाहिए कि वे छात्रों के अपने प्रयत्नों को अपने ही विचार बनाने की ओर दिशान्वित करें। अगर यह मान्य है तो शैक्षणिक प्रशिक्षण में शिक्षकों को अध्ययन निर्देशन के साधन रूप में तैयार करने के कार्य को सबसे अधिक महत्ता देनी चाहिए।

    इसके अलावा, ज्ञानार्जन की दिशा केवल मस्तिष्क के आंतरिक जीवन तक सीमित नहीं, ज्ञान संचय की मूल्य-सृजनात्मक मानसिक प्रक्रिया वही होती है, चाहे वह कार्य-क्षेत्र हो अथवा विद्योचित शिक्षार्जन का क्षेत्र। मानव की सारी गतिविधियां लाभ-हित-सौन्दर्य के ढांचे में ही होती हैं। यह बात शिक्षक और शैक्षणिक-शिक्षा दोनों पर उतनी ही लागू है।

2. अगर मूल्य-सृजन में शिक्षकों की पहली चिंता नैतिक हित का पहलू है, तो शैक्षणिक शिक्षा में दूसरा सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य शिक्षकों के व्यक्तिगत चरित्र में औसत व्यक्ति से अधिक नैतिक तत्वों को समाहित होना चाहिए।
3. विभिन्न पाठ्यक्रम, विभिन्न विषयों में, उपर्युक्त दो चीजों को लेकर नगण्य सा अंतर है : शिक्षकों को ज्ञान और विधियों में प्रशिक्षण, दोनों की जरूरत है। इसके अलावा उन्हें अपने नैतिक चरित्र का विकास करना है चाहे वे कुछ भी पढ़ाएं। हां, अकादमिक पृष्ठभूमि की कोई डिग्री तो बुनियादी जरूरत है ही। दूसरे शब्दों में हालांकि इस अंतिम बुनियादी पूर्वाग्रह पर अतीत में बहुत अधिक ही बल दिया गया है, फिर भी वह नितांत आवश्यक है। अगर महत्ता में तीसरे स्थान पर शैक्षणिक प्रशिक्षण की सुविधाओं की पुनर्रचना में सबसे मूलभूत और निर्णयात्मक यह है कि शैक्षणिक व्यवसाय की चेतना को कैसे ऊंचा उठाया जाए ? समाज सेवा में तत्पर किसी भी व्यवसाय से शिक्षा व्यवसाय अधिक पेचीदा है, विशेषतया क्योंकि यह चरित्र मूल्य उजागर करने में संलग्न है। व्यवस्थित और क्रमिक कार्यप्रणाली बनाने के लिए, इस संपूर्ण संश्लेषण के लिए आवश्यकता है साध्य एवं धन की, बड़े-छोटे प्रकार्यों की, लघु एवं दीर्घकालीन परियोजनाओं की, रूपरेखा एवं सूक्ष्मता की। इस तरह शिक्षकों में सार्वभौम्य तत्वों के विशिष्ट शिक्षात्मक ज्ञान के साथ व्यावहारिक समस्याओं से निपटने की सक्षमता भी होनी चाहिए। सिद्धांत एवं व्यवहार, और साध्य एवं साधन के ऊपर ऐसा नियंत्रण सिर्फ प्रशिक्षण और अध्ययन की लंबी अवधि के बाद ही आता है।

फिर भी, ज्यादातर लोग शिक्षकों को कारीगर या तकनीशियन के रूप में नहीं देखते जिन्हें प्रशिक्षण और अभ्यास की भरपूर जरूरत है। और तो और स्वयं शिक्षक भी इस पर ध्यान नहीं देते। यह बात उपेक्षित ही रह जाती है, चाहे वह रोजगार संबंधी प्रतिबंधों को लेकर हो, व्यर्थता की छंटाई करने में हो, प्रचलन में हो या फिर पारस्परिक बीजारोपण की शैक्षिक तकनीकों में। इस उपेक्षा का शिक्षा की पूरी कारगरता पर बहुत हानिकारक प्रभाव पड़ता है। इस बात का तो अब तक खुलासा हो ही गया होगा।

शिक्षा के क्षेत्र में तकनीकी पक्ष की आवश्यकता उतनी ही अधिक है जितनी कला या मूल्य सृजन के किसी और क्षेत्र में। असल में यह अधिक जटिल ही है और इसे अधिक लंबी अवधि की आवश्कता होती है, क्योंकि शिक्षा में गुरु शिष्य परंपरा जैसा कुछ भी नहीं है। लोग समझते हैं कि शिक्षा आसान सी चीज है। ("कोई

भी इसको थोड़ी सीख और थोड़े अभ्यास के साथ कर सकता है, नहीं ?") यह सोच उस जमाने की है जब विद्वता केवल निहित निपुणताओं का संयोग थी, और जो सारी जनसंख्या में केवल कुछ व्यक्तियों में पाई जाती थी। अब यह काफी नहीं है। ज्ञान के सारे क्षेत्र अब संबद्ध विशिष्ट टेक्नोलॉजी या तकनीकी से विकसित होते हैं। इसी तरह, अब वह समय आ गया है कि हम शिक्षकों के प्रति अपनी आशाए बढ़ाएं और उन्हें समाज सेवा में तत्पर उत्कृष्ट कारीगर या कलाकार के रूप में देखें।

शिक्षा-प्रशासन वास्तविक तकनीकी संभावनाओं के प्रति असहानुभूतिपूर्ण और अनभिज्ञ रहा है। ऐसी स्थिति में, प्रशासन ने समाज को दीर्घकालीन हानि पहुंचाई है : शिक्षकों से केवल पारिश्रमिक के आधार पर व्यवहार करके, उनके साथ केवल किराए के मजदूर या दफ्तर के कर्मचारियों की तरह सुलूक, जिनके कार्यों में बार बार मनमाने बदलाव किए जा सकते हैं। हमने इस बात की इजाजत क्यों दी है कि बच्चों और युवाओं को जीवन के लिए तैयार करने वाले व्यवसाय को दासोचित मजदूरी की श्रेणी में खड़ा किया जाए ?

अगर शिक्षण एक तकनीक या कला है, तो इसका मतलब क्या है यह कोई ऐसी चीज तो है नहीं जो सिर्फ एकाध आकस्मिक सफलता से पैदा हो गई हो। यह तो फल है उस अभ्यास, योग्य एवं अनुभव के विशिष्ट प्रतिबंधों के संयोग का, जिससे विशेष नतीजे निकल सकें। वे योग्यताएं जो इन नतीजों की गारंटी लेती हैं, जब वे किसी व्यक्ति में समाहित होती हैं तो उन्हें उस व्यक्ति की विशिष्ट कुशलताओं की संज्ञा दी जाती है। उनकी उपलब्धियां आम आदमी और व्यावसायिक व्यक्ति के अंतर की द्योतक हैं। उनसे अगर कोई पूछे कि वे इन तक कैसे पहुंचे, तो शायद वे खुद भी नहीं बता पाएंगे। वे उनमें स्वाभाविक रूप से निहित हैं। कलाकारों को कई बार खुद अपनी कुशलता पर अचंभा होता है, और वास्तविक गुरु तो कई बार इतना आगे पहुंच जाते हैं कि उनकी कला में एक महामानवीय दक्षता दिखाई देती है। यह बात सिर्फ ललित कलाओं के स्तर तक पहुंचने के बाद सब मानवीय गतिविधियों पर लागू होती है। तो फिर शिक्षा पर क्यों नहीं ?

अधिकतर क्षेत्रों में तकनीकी कुशलता प्राप्त करने का सिद्ध तरीका यह है : एक विशेषज्ञ के प्रशिक्षु बनकर तब तक बुनियादी सीख ली जाए जब तक कि खुले बाजार में होड़ कर पाने की दक्षता प्राप्त हो। इसमें सतत प्रयास के दशक से भी अधिक वर्ष व्यतीत हो सकते हैं। अगर हम शिक्षा प्रणाली के लिए हुए अब तक के अग्रणी शिक्षकों से पूरी तरह संतुष्ट हैं, सब ठीक है। और कुछ करने की जरूरत ही नहीं है। लेकिन अगर हमें वाकई श्रेष्ठ शिक्षकों की दरकार है, तब हमें शिक्षकों के लिए विशेषज्ञों के अधीनस्थ कई वर्षों तक उचित अध्ययन और व्यावहारिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी चाहिए। यह देखते हुए कि बच्चे कितने बहुमूल्य होते हैं, और

अच्छे चरित्र के व्यक्तियों की भविष्य के समाज के लिए कितनी आवश्यकता है, यह एक त्रासदी है कि हमने शैक्षणिक प्रशिक्षण को भौतिक उत्पादन के ढर्रे में झोंक दिया है, सहेजने के बजाए प्रशिक्षु प्रणाली में और इसका सबूत उत्पाद में है। बिना अथक अभ्यास की लंबी अवधि के, कोई यह अपेक्षा कैसे कर सकता है कि लाभप्रद चीज पैदा की जा सकती है ?

विदेशों में शैक्षणिक शिक्षा में नूतन विकास

जर्मनी और अमेरिका में शैक्षणिक शिक्षा में हुए हाल के विकास, शैक्षणिक शिक्षा प्रणाली के लिए एक स्वतंत्र परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। यह परिप्रेक्ष्य मेरे उन तर्कों को बल प्रदान करता है जो मैं जापान की समकालीन शिक्षा पद्धति को बदलने के लिए देता रहा हूं। मेरा ख्याल है कि हमें इस बात की जांच करनी चाहिए कि विदेशों में क्या हो रहा है, विशेषकर उस वाद-विवाद के चलते जो शिक्षा मंत्रालय में कुछ प्रश्नों पर हो रहा है। शैक्षणिक प्रशिक्षण के लिए अलग विश्वविद्यालय स्थापित करना चाहिए या फिर उसे एक विस्तृत कला विश्वविद्यालय का ही विभाग होना चाहिए ? ये प्रश्न सिर्फ जापान तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि विश्वव्यापी रूप में शैक्षणिक शिक्षा के विकास संबंधी प्रश्न हैं। अमेरिका में, जो अग्रणी प्रर्वतक है, और विश्वयुद्ध (प्रथम) के बाद से जर्मनी में भी, हमें यह देखने को मिलता है कि दोनों में से किसी भी एक प्रस्ताव की विजय नहीं हुई है, बल्कि दोनों विधियां साथ साथ कार्यान्वित की जा रही हैं। दोनों देशों में विशिष्ट शैक्षणिक प्रशिक्षण के विश्वविद्यालय स्थापित हुए हैं और साथ साथ बड़ी संस्थाओं से विश्वविद्यालीय स्तर के कार्यक्रम भी जुड़े हैं।

अपने विस्तृत आधार के कारण शायद अमेरिका और जर्मनी ने राष्ट्रीय स्तर पर एक ही स्थिर नीति का प्रचलन नहीं किया। इन दोनों में से कौन-सी विधि को अपनाया जाए, यह सवाल प्रादेशिक स्तर पर सुलझाया गया। उदाहरण के रूप में, जर्मनी में सॅकसनी, थुरिनर्गेन, और हैम्बर्ग में अलग शैक्षणिक प्रशिक्षण यूनिवर्सिटी की स्थापना नहीं हुई, मगर प्रुशिया में हो गई। अमेरिका में भी, पश्चिमी और पूर्वी इलाके भिन्न हैं, इसी तरह दक्षिण भी। विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न कार्यक्रम लागू हैं।

इस बात पर तो अब भी विवाद जारी है कि इन दोनों प्रणालियों में से विशिष्ट तरह के शिक्षक जैसे प्राथमिक शिक्षकों के लिए कौन-सी ज्यादा कारगर है। लेकिन यह बात नोट करने योग्य है कि विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा अब मान्य मानक है, और सब स्नातकों की सक्षमता के प्रमाणपत्र देने से पहले उसे पूरी तरह परखा जाता है। इसके अलावा, प्रुशिया में पांच साल तक सहायक शिक्षक के रूप में कार्य किए बिना शिक्षक को मान्यता-पत्र नहीं दिया जाता। शिक्षा-प्रणाली को सुधार पाने

के लिए हमें दूसरे देशों से बहुत कुछ सीखना है।

एक राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान केंद्र के लिए प्रस्ताव

इस भाग में मेरी अभिधारणा यह है : राष्ट्रीय वित्त को एक शैक्षिक अनुसंधान केंद्र की संस्थापना में व्यय करना चाहिए। केंद्र की स्थापना अन्य निम्नलिखित अध्ययन में स्थापित सरकारी अथवा आंशिक रूप से सरकारी अनुसंधान केंद्र की तरह होनी चाहिए : स्वास्थ्य, रसायन शास्त्र, पोषकता, हथियार शास्त्र, इत्यादि। या फिर उद्योग, कृषि, वन-संपत्ति, एक्वा कलचर इत्यादि क्षेत्रों में शोध और विकास (आर.एंड डी.) के निजी पूंजी निवेश में सुविधाओं के प्रतिमान पर। हम लोग अर्द्ध-शताब्दी से भी अधिक अवधि में 'नव' पश्चिमी शिक्षा पद्धतियों को कार्यान्वित कर रहे हैं। हम लोग इन क्षेत्रों में आगे बढ़ पाए हैं मगर स्कूल शिक्षा के नाम पर हम अब भी अपने लाखों छात्रों को उसी विवेकहीन और व्ययकारी भट्टी में झोंक रहे हैं। न ही कोई संकेत या आशा है कि चीजें अपने आप ही सुधर जाएंगी। सहज विवेक से हम यह जान सकते हैं कि यहां हानि की संभावनाएं असीम हैं।

हालांकि एक राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय शैक्षिक केंद्र निश्चित रूप से अच्छा रहेगा, लेकिन अगर उसकी स्थापना में मुश्किल है, तो तात्कालिक समस्याओं के लिए स्थानीय कृषि परीक्षण केंद्रीय के प्रतिमान स्वरूप, प्रादेशिक केंद्रों की स्थापना की जानी चाहिए। इस स्थिति में आदर्श समाधान यह होगा कि नागरिकता संबद्ध मानव प्रेमियों के चंदे से निजी अनुसंधान केंद्र स्थापित किए जाएं।

प्रस्तावित राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान केंद्र के सत्ताभूत निकाय के स्वरूप की एक उपमा देना चाहता हूं। इसकी तुलना एक 'सीज्मोमीटर' (भूकंप मापी) से की जा सकती है, जो चट्टानों में गढ़े होने के बावजूद एक अबाध निष्ठापूर्ण यंत्र का स्वतंत्र संदर्भ बिंदु देने के कारण, उसके अंदर के कंपनों को माप सकता है। इसी तरह शिक्षा अनुसंधान की सुविधाओं के योजना और व्यवहार की सामाजिक नींव को राजनीतिक, आर्थिक और वैचारिक जलजलों से परे रखा जा सकता है।

शिक्षा एक अत्यधिक जटिल समस्या है। इसका विवेकीकरण और विज्ञानीकरण एक महान कार्य है। यह सोचना कि कुछ पृथक व्यक्तियों के सीमित अनुभव और सृजनात्मक विचारों से यह कार्य संपन्न हो सकता है, भ्रांतिपूर्ण है। शिक्षा के अनिवार्य उद्देश्यों को चैतन्य रूप से जानकर, विभिन्न शाखाओं के ज्ञानी लोगों की सहयोग धाराओं के समन्वय से ही यह कार्य संपन्न होना संभव है। विशेषरूप से गुणात्मक शिक्षा को साकार करने के लिए यह जरूरी है कि पहले भिन्न शाखाओं में योजना बनाने और कार्यान्वित करने के कार्य का विभाजन किया जाए और फिर उनका पारस्परिक और सुसंगत रूप से सामंजस्य किया जाए। केंद्रीय योजना समिति को न सिर्फ समाज के विभिन्न अंशों के विघटनपूर्ण मान्य विचारों से ऊपर उठना होगा

और दृढ़ पक्षपाती रवैयों को मिटाना होगा, बल्कि शिक्षा के आदर्श को गढ़ने के लिए, अतीत के अग्रणियों की अमूल्य विरासत की सीखों का समन्वय भी करना पड़ेगा। इस योजना संगठन को सक्षमता देनी होगी कि वह परिस्थितियों को अनुकूल बनाकर, आदर्श को वास्तविकता में ढाले। शिक्षक-गुण जो इस केंद्रीय सावयव की परिधि पर स्थानीय शैक्षिक कारीगर के रूप में काम करते हैं, वे भी टुकड़ों टुकड़ों में काम करके संतुष्ट नहीं हो सकते। योजनाकारों द्वारा बनाई गई संपूर्ण शैक्षिक संकल्पना की विस्तृत और स्वीकृत मान्यता से ही वे कर्तव्य उभरेंगे जिनका उन्हें निर्वाह करना होगा। इसका मतलब यह हुआ कि उन्हें शैक्षणिक अग्रणियों के विचारों की, जो कि उनकी ग्रंथावली में समाहित हैं, और भी अच्छी पकड़ होनी चाहिए। तभी शिक्षकगण अपनी अंधी निष्क्रियता को तोड़कर शिक्षा के उद्देश्यों पर ध्यान देंगे, अपनी शिक्षण विधियों को सुधारने के प्रयत्न करेंगे और यह सिद्ध करेंगे कि क्या योजनाकारों द्वारा उसके समक्ष रखी गई योजनाएं उपयुक्त हैं। योजना बनाने और कार्यान्वित करने वाली दोनों शाखाओं को जिंदा सबूत स्वतः परख, पारस्परिक आलोचना और दोषनिवारक विकास की प्रक्रियाओं में ही मिलेगा।

देश में परखे नतीजों के तहत गलतियां ठीक करना खर्चीले तरीकों को खत्म कर देने का सबसे पक्का तरीका है। बस पास खड़े खड़े चीजों को पथभ्रष्ट होते देखना वाकई खराब इंतजाम की निशानी है। चाहे कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, विवेकपूर्ण नियोजन एक एकीकृत एवं मूलभूत ढांचा बनाने के लिए जरूरी है। इसीलिए, विभिन्न उद्यमों में योजना बनाने के लिए शोध केंद्र स्थापित किए जा रहे हैं। उनको दीर्घकालीन निवेशों जैसे देखा जाना अवश्यंभावी है : पहले पहल निवेश करें, मगर अंततः मूलधन की राशि का कई गुना वापस। शैक्षिक अनुसंधान केंद्र स्थापित करने के पीछे भी यही मंशा है।

यह अनुसंधान केंद्र केवल नियमों को हूबहू व्यवहार में लाकर नहीं परखेगा, जिस तरह शैक्षणिक प्रशिक्षण स्कूलों से संलग्न मौजूदा प्राथमिक स्कूलों के परीक्षण-कार्यक्रमों में होता है। अनुसंधान केंद्र इसके एक कदम आगे जाकर यह पता लगाएगा कि क्या नियम तर्कसंगत हैं। इसके लिए, अनुसंधान में और बाहरी हस्तक्षेप से, मगर कानून की हदों में, पूरी आजादी होनी चाहिए। इसी तरह अगर शिक्षार्थी के सीखने की प्रक्रिया को दिशा देनी है, तो परीक्षण का तरीका भी चिकित्सा शास्त्र के शोध के तरीकों से यानी जानवरों के ऊपर परीक्षणों की परिपाटी से बिल्कुल अलग होना चाहिए। लेकिन फिर यह ध्यान भी रखना है कि कहीं वह नीरस और बारंबार अन्य जगह विकसित किए गए विचारों का ही एक और परीक्षण कार्यक्रम बनकर न रह जाए। अनुसंधान हमेशा बिल्कुल वैज्ञानिक आधार पर करना चाहिए, मगर इस नैतिक आवश्यकता के अधीन कि बच्चों पर कोई आंच न आए। न तो हमें शैक्षिक दर्शन का वह नियंत्रित दर्शन अपनाना चाहिए जो एक समान विधि को

ही मानव मात्र के लिए सही माने, और न ही तथाकथित उदार शिक्षा की अवांछित स्वच्छंदता को, जो हर व्यक्तिपरक अनुभव को स्वयं में अनूठी चीज समझकर उसे समाहित करने की कोशिश करे।

भौतिक संरचना स्वरूप, अनुसंधान केंद्र में तीन पारस्परिक क्रियाशील सुविधाएं होंगी : एक उच्च सामान्य स्कूल जो ऐसे विशेषज्ञ शैक्षिक तकनीशियन उभारे जो मूल्य-सृजनात्मक अध्ययन करने में सक्षम हों, एक संलग्न प्राथमिक स्कूल, जो व्यावहारिक परीक्षण और मूल्य-सृजनात्मक शिक्षा के नए विचारों को सिद्ध करे, और एक गणना या हिसाब किताब करने के लिए सुविधा जो शिक्षा प्रणाली के स्वःसूचित और अवलोकित खोजों का अभिलेखन करे। इस सिलसिले में मेरा अपना आदर्श निम्नलिखित है :

क अनुसंधान केंद्र की पूर्ण संभावनाओं को साकार करने के लिए, तीन उद्देश्यों का संगम होना चाहिए।

1. उन साधनों का अध्ययन जिनके चलते अनुभवी शिक्षक मूल्य-सृजनात्मक शिक्षा के विशेषज्ञ तकनीशियन के रूप में, अधीनस्थ कर्मचारियों का दिशा निर्देशन करें।
2. साधारण शैक्षणिक शिक्षा से मूल्य-सृजनात्मक शिक्षा के प्रबंध पर इस उद्देश्य के साथ ज्यादा बल कि शैक्षिक तकनीकों की सक्षमता साकार हो सके।
3. मूल्य-सृजनात्मक शिक्षा के परीक्षण और नियंत्रण प्रतिबंधों की व्यवस्था के लिए संलग्न प्राथमिक स्कूल में कार्य करने की आदश परिस्थितियां कायम रखना।

ख. अनुसंधानकर्ताओं का चयन उन प्राथमिक स्कूल के अध्यापकों में से किया जाए जिन्हें कई बरसों का व्यावहारिक अनुभव हो और जो स्वयं शिक्षा में विशेष रुचि रखते हों। चयन के लिए विचाराधीन स्तरों में निम्न शामिल होने चाहिए—

1. व्याप्त प्रशिक्षण का वस्तुपरक प्रमाणन और शैक्षिक तकनीकों की सक्षमता में श्रेष्ठता की पृष्ठभूमि—ये शिक्षा के प्रति अत्यधिक रुचि और संलग्नता के संकेत होंगे।
2. प्रशिक्षण के लिए विद्योचित पृष्ठभूमि और उससे छात्रों की सहायता में उपयोग करने के लिए विकसित निपुणता।
3. व्यावहारिक कार्य का कलंकहीन अतीत, और साथियों के साथ समानता के अच्छे संबंध।
4. स्वयं प्रेरित अनुसंधान का सबूत कार्य करते समय प्रवर्तक-प्रवृत्ति के प्रतीक के रूप में।

ग. अनुसंधानकर्ताओं को न्यूनतम दो साल तक छात्रों के अध्ययन-निर्देशन का व्यावहारिक अनुभव शामिल होना चाहिए। इसके अलावा उनकी विद्योचित योग्यता ऐसी होनी चाहिए कि वे शिक्षा मंत्रालय के माध्यमिक स्कूल शिक्षकों के लिए परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकें।

घ. अनुसंधान केंद्र के पाठ्यक्रम में निम्नलिखित सम्मिलित होने चाहिए :

1. अनुसंधान (कक्षा में) शैक्षिक विधियों का प्रशिक्षण, जो कि वैज्ञानिक निर्देशों पर आधारित हो।
2. शिक्षा के नियम और मूलभूत सिद्धांतों में निर्देशित अध्ययन।

(क) वैज्ञानिक विधि द्वारा शैक्षिक अनुसंधान का निर्देशित अध्ययन।
(ख) शैक्षिक दर्शन की समाजशास्त्रीय बुनियादों का निर्देशित अध्ययन।
(ग) शैक्षिक दर्शन की मनोवैज्ञानिक बुनियादों का निर्देशित अध्ययन।
(घ) व्यावहारिक विज्ञान का निर्देशित मूल्य-विनियोग।
(ङ) वैज्ञानिक विचारधारा के इतिहास का निर्देशित अध्ययन।

3. मानव जीवन के मूलभूत सिद्धांत के रूप में धर्म का अध्ययन, और आदर्श जीवन के लिए धार्मिक पथ-पदर्शन।

(क) व्यक्तिगत चरित्र मर्म के स्वरूप, धर्म के आनुभाविक अध्ययन का निर्देशन।
(ख) ''सिद्धांतों पर निर्भरता, न कि अधिकारियों की छवि पर''—धर्म की सीखों की ओर तदनुसार जीवन का पथ प्रदर्शन।

ङ अनुसंधानकर्ताओं के निर्देशित अध्ययनों का व्यावहारीकरण इस प्रकार हो :

1. सबसे पहले अनुसंधानकर्ता संलग्न प्रायोगिक प्राथमिक स्कूल में आधे दिन के स्कूल कार्यक्रम के अंतर्गत (इसी अध्याय में ''आधे दिन की स्कूल प्रणाली'' नामक भाग देखिए) अपने शैक्षणिक दायित्व का निर्वाह करें। बाकी आधा दिन आलोचनात्मक मूल्यांकन और विभिन्न पाठ्यक्रम संबंधी अध्ययन में उपयोग करें। इस तरह दो या तीन साल के सेवारत प्रशिक्षण में वे शिक्षा मंत्रालय के माध्यमिक स्कूल के शिक्षकों के लिए प्रमाणन परीक्षा में उत्तीर्ण हो पाने के लिए विद्योचित योग्यता प्राप्त कर लेंगे। इसके अलावा उनमें वह ज्ञान और निपुणताएं भी समाहित हो जाएंगी जिससे वे प्राथमिक स्कूल के शैक्षणिक कर्मचारियों के निर्देशन के प्रतिमान स्वरूप बन जाएंगे।
2. समकालीन कृपालु-रूपी और एकतरफा शैक्षणिक प्रणालियां, छात्रों को केवल सूचना धारक कृपापात्र में बदल देती हैं—अनुसंधानकर्ता उनसे परे जाकर स्व-प्रेरित शोध के किसी रूप को जागृत कर पाएं और इस तरह

विभिन्न विषयों में छात्रों के शिक्षार्जन के निर्देशन के लिए सक्षमताएं विकसित करें।

3. छात्रों में व्यक्तिगत मूल्य पैदा करने के लिए ताकि वे जीवनपर्यंत लाभ-हित सौंदर्य शास्त्र की ओर आर्थिक, नैतिक और सौंदर्यपरक मूल्यों के सृजन की ओर उन्मुख हो जाएं। अनुसंधानकर्ताओं को विशेष रूप से निर्देशित अध्ययन की आवश्यकता है ताकि वे छात्रों की, ज्ञान के सिद्धांतों को जीवन में लागू करने में, सहायता कर सकें।
4. क्योंकि इतिहास में विकास के परिप्रेक्ष्य रुचि उजागर करते हैं और साथ ही छात्रों और शिक्षकों में शैक्षिक अध्ययन में नई खोज जगाते हैं —अनुसंधानकर्ताओं को इन विकास सिद्धांतों की जानकारी होनी चाहिए। उसके लिए, उच्च स्कूल के पाठ्यक्रम में विचारों और विद्योचित प्रणालियों के विकास पर ऐतिहासिक चिंतन का अध्ययन भी शामिल होना चाहिए।
5. शिक्षा का अनिवार्य उद्देश्य है सामाजिक जीवन के पथ-प्रदर्शन में सहायता करना और उसे विकासोन्मुख करना। इसलिए लोगों के वास्तविक जीवन की परिस्थितियों पर शोध, यानी सामाजिक वास्तविकताओं का वैज्ञानिक अध्ययन, प्राथमिक महत्ता का विषय है। मेरा मानना है कि इसकी उपेक्षा आज तक शिक्षा की सबसे गंभीर असफलता रही है। इसलिए अनुसंधान केंद्र के लिए समाज के विभिन्न पहलुओं पर व्याप्त अध्ययन और चिंतन सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकताओं में से एक होना चाहिए।
6. ज्ञान एवं क्रिया, वचन एवं कर्म, साध्य एवं साधन—इन सबके एकीकरण के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता होगी। अनुशासनहीन, अचेतन, विवेकपूर्ण और अर्थकारी जीवन में निर्देशन। इसलिए, आदर्शों के रूप में शिक्षाकर्मियों को धार्मिक परंपरा में अभिव्यक्त महान नैतिक सिद्धांतों की कुछ समझ होनी चाहिए।
7. शिक्षक रूपी आदर्शों के नैतिक प्रभाव पर काफी हद तक एक स्वस्थ और संपूर्ण नागरिकता निर्भर करती है। अनुसंधानकर्ताओं में खुले रूप से सही और गलत संबंधी विचार-विमर्श करने का साहस होना चाहिए—वस्तुपरकता में भावुकता के आड़े आए बिना।

च. संलग्न प्राथमिक स्कूलों को अपने दरवाजे विशेष रूप से शोषित बच्चों के लिए खुले रखने चाहिए। दूसरे शब्दों में, प्राथमिक स्कूल के शैक्षणिक उम्मीदवारों में शिक्षा के प्रति विशुद्ध और सर्वहित रुचि पैदा करने के लिए, प्रायोगिक प्राथमिक स्कूलों में गरीब और जरूरतमंदों को दाखिला दिया जाना चाहिए ताकि स्वयं शिक्षा के ध्येय में रुचि जागे और उद्देश्यों को परवर्ती लाभों की ओर दिशान्वित किया जा सके। इन सब सिफारिशों

का आधारभूत कारण हरबार्ट के दृष्टिकोण से सामंजस्य रखता है। इसमें शिक्षा के क्षेत्र में मान्य एवं साधन की विचारधारा निहित है, मगर उसका क्रम विपरीत है। पहले ज्ञान का संचारण शिक्षा का उद्देश्य माना जाता था, और उसके लिए संचरण प्रक्रिया को जितना दिलचस्प बनाया जा सके, बनाया जाता था। लेकिन मेरी धारणा है कि शिक्षा का सच्चा लक्ष्य कौतूहल जगाना है, और सूचनाओं की प्रस्तुति उस मानसिकता को जगाती भर है। इसी कारण अगर शिक्षण को ज्ञान के सामूहिक वितरण की तरह नहीं बल्कि उसे शिक्षकों में अपनें आप चिंतन उजागर करने के रूप में देखा जाए, फिर यह स्पष्ट है कि सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि उनकी रुचि स्वयं अपने सुधार में अग्रणी बनने की ओर जगाई जाए। तभी वे सक्षमता से छात्रों का मार्गदर्शन कर पाएंगे। शिक्षार्जन शिक्षार्जन है—चाहे शिक्षार्थी बच्चे हों या स्वयं शिक्षक। दोनों सूरतों में बात प्रेरणा की ही है। मानव-संपत्ति को सहेजने के लिए यश, व्यक्तिगत लाभ इत्यादि के बजाए व्यक्तिगत रुचि और समर्पण सर्वोपरि होते हैं।

शैक्षिक प्रशासन में प्रस्तावित सुधार

स्कूलों की स्वतंत्रता के लिए पर्यवेक्षी सत्ता पर प्रतिबंध

शैक्षिक अधिकारों के लिए एक कानूनी ढांचा स्थापित करना एक सापेक्ष प्रस्ताव है। शिक्षा को अधिक कारगर बनाने के लिए, हमें केवल आज की शिक्षा में सामंजस्य के अभाव को ही नहीं मिटाना होगा बल्कि स्पष्ट रूप से प्रभुत्व की सीमा परिधियां भी बनानी होंगी। केवल अधिकारों और विशेष अधिकारों की सीमाओं को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने पर ही हम यह विशेष स्थानों पर कर सकते हैं जिससे कुछ खास जगह सत्ता का मौजूदा अन्यायपूर्ण, अत्यधिक और दमनकारी उपयोग समाप्त होगा और साथ साथ सभी के अधिकारों को सम्मान दिया जाएगा।

शिक्षा के राष्ट्रीकरण के बाद यह एक विशेष महत्ता का विषय बन गया है, क्योंकि इसमें अब आज के शिक्षा प्रशासन की जटिलताएं समाहित हो गई हैं। आज के विद्यार्थियों के अभिभावकों ने मेजी (1868-1912) और ताइशो (1912-1927) काल में शिक्षा प्राप्त की। उन्हें मालूम है कि स्कूलों में क्या होता है। वे शायद निश्चल और असंबद्ध रूप में यह न देख पाएं कि कोई भी पर्यवेक्षी प्रशासक या कोई अवैतनिक अधिकारी, जिसका स्कूल से कोई संबंध भी नहीं है, स्थानीय समुदाय के शैक्षिक मामलों में हस्तक्षेप करे। जैसा भी है, अब वह समुदाय का स्कूल है, पारिवारिक जीवन का विस्तृत स्वरूप है। अभिभावकों की भूमिका में मां-बाप केवल स्कूल सामग्री के दायक नहीं हैं बल्कि शिक्षा की विषय वस्तु, अच्छे या बुरे अंकों

के कारण, अध्ययन में निर्देशन और प्रोत्साहन इत्यादि विषयों पर विमर्शकर्ता भी हैं। पहली बार हम शिक्षा को फलान्वित होते हुए देख रहे हैं। दूसरी तरफ, यह देखते हुए कि परिवारों की कमाई का एक बड़ा हिस्सा शिक्षा के ऊपर खर्च होता है, जाहिर है अभिभावकों के अपने अधिकार हैं, और शिक्षकों के अपने दायित्व। शिक्षा पर किया गया अविश्वसनीय व्यय अनगिनत त्यागों और अदृश्य प्रयत्नों का योग है।

इसके विपरीत, प्राध्यापकों और शिक्षकों को नियुक्त और निरस्त करने के अधिकार पर्यवेक्षी प्रशासकों की निजी संपत्ति की तरह हैं, अभिभावकों और सामुदायिक समूहों की पहुंच से बाहर। वैधानिक मताधिकार द्वारा लोकतांत्रिक हिस्सेदारी के चलते, इस तरह की नीतियों, नियमों और सामंतवादी दफ्तरशाही को पीछे छोड़ आना चाहिए था। करदाताओं के रूप में अभिभावकों और सामुदायिक समूहों का अधिकार ही नहीं बल्कि दायित्व है कि वे स्कूल जाएं और देखें कि क्या उनके धन का सदुपयोग हो रहा है। इसे दूसरों पर नहीं छोड़ा जा सकता बल्कि यह स्वतंत्रता का अनिवार्य अंश है। अगर यह बात सही है, तो फिर अभिभावकों को अपने सामान्य ज्ञान में बच्चों की उत्पत्ति, स्वास्थ्य, खाना, सोना, इत्यादि गतिविधियों के साथ, शैक्षणिक अध्ययन को भी जोड़ना चाहिए। यह न्यायसंगत है कि शिक्षकों के निर्णयात्मक मूल्यांकनकर्ता अभिभावक ही हों, ठीक उसी तरह जैसे उपभोक्ताओं को ही उत्पादों की कारगरता की उचित जानकारी होती है। अभिभावकों के दृष्टिकोण में बच्चे ही बिल्कुल स्पष्ट रूप से शिक्षकों के चरित्र और उपलब्धियों को प्रतिबिंबित करते हैं। लेकिन हां, इस तरह का मूल्यांकन तभी संभव है जब मूल्यांकन के आधार के लिए अभिभावकों में शैक्षिक चिंतन की सामान्य जानकारी हो। अगर अधिकतर अभिभावक जानकार हों तो गुप्त सर्वेक्षणों के बजाए, नीति निर्धारण के लिए शैक्षिक प्रशासकों के पास स्थानीय समूहों से खुले तौर पर सलाह लेने से अधिक अच्छा रास्ता और क्या हो सकता है ?

स्थानीय नागरिकों के पास कारगर रूप से अपनी स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति करने के लिए वैधानिक अधिकारों के अंतर्गत स्कूलों की स्वतंत्रता स्थापित करने से ज्यादा अच्छा ईमानदार या सीधा सच्चा रास्ता और कोई नहीं है। एक समय टोकियो के शिरागाने प्राथमिक स्कूल के प्राध्यापक के रूप में इसी विश्वास को कार्यान्वित करने के कगार पर आ चुकने के बाद, मेरा यह विश्वास और भी दृढ़ होता जा रहा है कि हम जापानी यह कदम उठाने के लिए तैयार और तत्पर हैं।

यह माना कि जापान की आधुनिक शिक्षा प्रणाली के आरंभिक वर्षों में लोगों को यह जानकारी नहीं थी कि केंद्रीय प्रशासन की सत्ता किस हद तक नागरिक जन-जीवन में फैले। इसकी वजह से प्रशासन ने यह हद तोड़ी और विस्तार के नाम पर अनावश्यक और अतिरिक्त अधिकारियों को पदासीन करने की मनमानी की। ये आम नागरिक के लिए एक बोझ और बेसिरपैर का हस्तक्षेप सिद्ध हुई। जब तक

हमें पता चलता, हम सत्ता के दुरुपयोग में विशेषकर छोटे मोटे और अदक्ष अधिकारियों से घिर चुके थे।

अगर शैक्षिक प्रशासन की कायापलट होनी है तो उसकी शुरुआत इस बुनियादी मुद्दे की नजदीक से पड़ताल करने से होनी चाहिए। सत्ता की सीमाओं का प्रश्न सिर्फ शिक्षा प्रशासन पर ही लागू नहीं होता है, मगर यहां यह इतना महत्वपूर्ण है कि हम सत्ताधारियों को शिक्षा की सेवा में उनकी सच्ची भूमिका को भूलने न दें।

पुरानी और नई राजनीति के बीच एक प्रबल रेखा होनी चाहिए। तानाशाही के युग में लोगों पर अंकुश था, वे अंधेरे में थे। उसकी जगह अब स्वतंत्रता का युग है जिसमें लोग यह हिसाब रखते हैं कि उनके दिए हुए करों का इस्तेमाल कैसे हो रहा है। पहले जमाने में शायद यह इजाजत ही नहीं बल्कि उम्मीद थी कि प्राधिकारी जनकल्याण में खुले तौर पर सीधे हस्तक्षेप करें। लेकिन फिर भी पदों की संख्या पर पाबंदी थी, कुछ नहीं तो इसलिए कि सीमित धनराशि की हद से परे खींचातानी नामुमकिन थी। कुछेक रूप में हम उस स्थिति से काफी दूर निकल आए हैं। मगर फिर भी यह दीवानापन जारी है। उच्च-स्तरीय निरीक्षक शिक्षा-प्रशासन के सुचारु चलन के लिए तैनात तो किए जाते हैं, मगर होता यह है कि वे अपनी हदों का उल्लंघन करते हैं। वे ना सिर्फ दूसरों की सत्ता हथियाते हैं बल्कि अपने छोटे अधिकारियों के लिए बेकार की दफ्तरशाही का पहाड़ खड़ा कर देते है। वे केवल अदक्षता बढ़ाने की गारंटी ही देते हैं। समस्या यह है कि अनिवार्य रूप से जो एक निष्क्रिय प्रशासनीय प्रकार्य की तरह शुरू हुआ था, देश के विभाजन की उथल-पुथल की रोकथाम करने, वह दफ्तरशाही का अंग बनकर टिक गया।

जरूरत है दायित्वों और सत्ताओं को अलग अलग करने की। अगर सक्रिय निर्देशकीय या सहायक प्रशासकीय प्रकार्यों को जरूरी माना जाए, तो सिर्फ उसके लिए एक विशेष दफ्तर की स्थापना की जा सकती है, ताकि बाकी दफ्तर, बिना सद्भाव समाप्त किए, अपना अपना काम कर सकें। नहीं तो एक पंथ दो-काज नुमा तरीका, अंतर की स्पष्टता के अभाव में, कारगर शिक्षा में अवरोध प्रस्तुत।

सार यह है कि अन्य सरकारी क्षेत्रों की तरह, शिक्षा में भी प्रशासनिक सत्ता सीमाबद्ध होनी चाहिए। सरकारी दफ्तर रखरखाव की निष्क्रिय भूमिका ही निभाएं, और संचालन की सक्रिय भूमिका निभाने का स्वांग छोड़ दें। सवाल ज्यादा आचार का है, वैधानिक आयामों का नहीं। यह न तो संभव है न ही वांछनीय कि पुलिस अधिकारी सक्रिय रूप से हर नागरिक को सही काम करने के लिए प्रोत्साहित करें। मगर वे अधिकारी जो शिक्षा-प्रशासन में सुरक्षा हेतु निवारक प्रकार्य निभाने के लिए हैं, वे साथ साथ अन्य अधिकारियों के कामकाज भी संभालें। स्कूलों का निरीक्षण करने का उद्देश्य यह तो था ही नहीं। हो सकता है कि दूर-दराज क्षेत्रों में अनुभवहीन शैक्षणिक शिक्षुओं और बदली के शिक्षकों को निरीक्षण की आवश्यकता हो, मगर

स्कूल के प्राध्यापकों की भूमिका ही क्या है अगर वे उनका मार्गदर्शन न कर सकें।

कोई भी क्षेत्र हो, प्रशासकों का अपना ध्यान बस कार्योचित न्यूनतम आवश्यकताओं की ओर होना चाहिए—यानी इस पर कि नियम और व्यवस्थापन का पालन हो रहा है। अगर कोई उल्लंघन नहीं हो रहा तो उनके हस्तक्षेप का कोई मतलब ही नहीं है; विशेष रूप से शिक्षकों की सक्षमता पर छींटाकशी। सिवाय विनियमों की सूचना देने और उनके पालन का निरीक्षण करने के, उनके मूल्यांकन के पैमाने कतई आम और महत्वहीन हैं।

यूं तो शैक्षिक प्रशासक और शिक्षक एक ही संकल्पना और आदर्श के लिए काम कर रहे हैं, मगर प्रणाली के अंतर्गत उनके प्रकार्य बिल्कुल अलग अलग हैं। जैसे चिकित्सक बीमारी के लक्षणों का इलाज करता है और स्वास्थ्य-वैज्ञानिक भविष्य की आशंकित बीमारी के निवारण का। दोनों की तकनीकी निपुणताओं के उद्देश्य अलग अलग हैं लेकिन उनकी उपलब्धियां संयौगिक उपलब्धि के परिप्रेक्ष्य में केवल आंशिक हैं। आज की शिक्षा प्रणाली इतनी जटिल है कि उसे श्रम-विभाजन की दरकार है—ठीक उसी तरह जैसे औषध विज्ञान में सामान्य चिकित्सक और प्रयोगशालाओं की गतिविधियों में शिक्षा-प्रशासन के सुचारु चलन के लिए, मगर होता यह है कि वे अपनी हदों का उल्लंघन करते हैं। वे न सिर्फ दूसरों की सत्ता हथियाते हैं बल्कि उनसे छोटे अधिकारियों के लिए बेकार की दफ्तरशाही के काम का पहाड़ खड़ा कर देते हैं।

इसका मतलब यह नहीं हैं कि विधाएं परस्पर विरुद्ध हैं, स्वत्रंत और विपरीत। वास्तव में उन्हें सहकारिता के सहअस्तित्व की दरकार है। शिक्षण का तकनीकी पहलू नाजुक होता है, शिक्षा प्रणाली के हर क्षेत्र की तरफ से मीन मेख निकाले जाने के प्रति संवेदनशील। इसलिए शिक्षण और प्रशासन के बीच बराबरी और पारस्परिक सहयोगी संबंध रखने के प्रति, हर क्षेत्र की सापेक्ष विकास सीमाएं बांधकर एक समस्तरीय ढांचा बनाना चाहिए, वर्तमान जैसे अनुलंबीय नहीं।

प्रश्न यह उठेगा कि कर्मचारियों की नियुक्ति या उन्हें निरस्त किए जाने का निर्णय किस के अधीन रहेगा। इस सवाल पर, प्रदेश प्रशासकीय पुनः संरचना की समिति की 1931 की बैठक में विचार हुआ था। इसके दौरान यह प्रस्ताव रखा गया था कि यह अधिकार शिक्षा मंत्रालय से लेकर गृह मंत्रालय को दे दिया जाए। दोनों में से क्या बेहतर रहेगा ? अगर शिक्षा का प्रशासन उपर्युक्त सुझाव के अनुसार कारगर रूप से सीमाबद्ध हो जाए, तो दोनों मंत्रालयों के बीच जो अंतर है उसका प्रभाव शैक्षणिक स्तर पर नगण्य होगा। शिक्षा मंत्रालय का दावा है कि गृह मंत्रालय शिक्षा की जटिलताओं और विशेष परिस्थितियों को नहीं समझ सकता। दूसरी तरफ शायद यह अनभिज्ञता शिक्षाकर्मियों के लिए लाभप्रद रहे क्योंकि इससे प्रशासनिक अधिकार सिकुड़कर निवारण के न्यूनतम स्तर तक ही सीमित रहें, तो अनभिज्ञता या जानकारी

के स्तर से कोई अंतर नहीं पड़ेगा। आखिरकार शिक्षा मंत्रालय भी तो ज्यादा से ज्यादा आधी बात ही समझता है। अनभिज्ञ प्रशासक जो न जानते हैं, न सब जानने का दम भरते हैं और न ही हस्तक्षेप करते हैं—क्या स्वायत्तता के हक में ये उन अर्द्ध-जानकार के मुकाबले ज्यादा अच्छे नहीं रहेंगे जो सर्वत्र ज्ञानी होने का स्वांग भरते हैं और अधिकारों की नुमाइश करते हैं ?

जिस तरह का सुलूक प्रशासक शिक्षकों से करते हैं, वह पुराना और सामंतवादी है। शिक्षक शैक्षिक तकनीशियन या कलाकार हैं। पुरातन काल में भी, स्वामी कलाकारों से आम आदमी जैसा नहीं बल्कि सम्मानीय विशेषजन जैसा सुलूक करते थे ताकि उन्हें अपनी सुपूर्ण कलात्मक योग्यताओं की अभिव्यक्ति में प्रोत्साहन मिले। कभी-कभार ऐसा देखने में आता है कि कोई ज्ञानी प्रादेशिक प्रशासक पुराने शिक्षक को यथोचित सम्मान दे रहा है। मगर बात तो तब है जब शिक्षकों के साथ इस प्रकार का व्यवहार सब प्रशासकों का सामान्य व्यवहार बन जाए।

आदर्श रूप में, सम्मान-जनित दूरी कितनी होनी चाहिए ? शिक्षा के प्रशासन और सार्वजनिक सेवा के अन्य क्षेत्रों में तुलना उस बिंदु पर समाप्त हो जाती है जब हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि पुलिस अधिकारियों और न्यायाधीशों के विपरीत, जिनका एक पद से दूसरे पद पर इसलिए स्थानांतरण किया जाता है ताकि वे स्थानीय भावात्मक बंधनों के चलते निर्णयों में पक्षपात न आने दें, प्राध्यापकों और अध्यापकों के असंवेदनशील तबादले नहीं किए जा सकते। चाहे वे विश्वासपात्र ही हों, दफ्तरशाह हिसाब-किताब और कागजों में डूबे रहते हैं, और व्यक्तिगत चरित्र-संबंधी विषयों के संपर्क में कभी-कभार ही आते हैं। उसके विपरीत, शिक्षा में निरीक्षकों और शिक्षकों का वास्तविक लोगों से मूल्य-सृजन के स्तर पर संपर्क रहता है। दफ्तरशाह काम विधान की पुस्तकों का व्यवहारीकरण है, सार्वजनिक न्यायसंगता और सामाजिक समानता के हित में भावात्मक अथवा नैतिक संबंध से परे। दूसरी तरफ, शिक्षक-विद्यार्थी का संबंध पूरी तरह से न्यायसंगत होने के साथ और भी बहुत कुछ है। उन्हें गलत चीज के निष्क्रिय निवारण से परे जाकर, सकारात्मक रूप से सही अथवा हितकारी चीजों को प्रोत्साहित करना होता है—व्यक्ति विशेष के हार्दिक पारस्परिक संबंधों द्वारा।

शैक्षणिक कर्मचारियों को नौकरी में यथोचित सुरक्षा गारंटी करके, इंपीरियल एलिमेंटरी स्कूल आर्डर ने काफी योगदान दिया है। इस मान्यता के चलते, शिक्षकों के विशेष पद अब दफ्तरशाही के आम निकायों में नहीं बदले जा सकते। वाकई, अगर शिक्षकों के दायित्व स्कूल निरीक्षकों में सत्ता की राजनीति से बचाए न जाएं तो अंततः उसका हानिकारक प्रभाव देश के समस्त नागरिकों में व्याप्त हो जाएगा। यह अब सामान्य ज्ञान की बात है कि समाज में शिक्षा की पवित्रता से बढ़कर और कोई चीज नहीं है। यह बात उन्हें भी मालूम है जो शिक्षा की अंदरूनी कहानी से

वाकिफ नहीं हैं। हर वह शिक्षक जो शिक्षक कहलाने के या पदोचित सम्मान पाने के लायक है, उसमें सही और गलत की पहचान करने की और सही का चयन कर उस पर अमल करने की क्षमता होनी चाहिए, सिर्फ दिखाने के लिए उसकी उद्घोषणा करके नहीं। श्रेष्ठ शिक्षक होता ही वह है जिसमें नैतिक मूल्य अंगीभूत हों। अगर इस तरह के श्रेष्ठ शिक्षक का बिना सोचे समझे तबादला कर दिया जाए, तो मासूम और ग्रहणशील बच्चों के दिमाग पर जो आघात लगेगा वह वयस्कों की कल्पना से भी अधिक गहरा होगा। मेरा विश्वास है कि किसी भी अन्य कारण से अधिक, इस कारण के चलते स्कूल के निरीक्षकों की सत्ता कम, या शायद समाप्त, कर देनी चाहिए क्योंकि वे अपनी व्यक्तिपरक सनक पर काम करते हैं।

स्कूल निरीक्षकों को अन्य प्रशासनिक प्रकार्यों की बजाए विशेष पद मिला हुआ है। न जाने क्यों शैक्षिक समाज के दृष्टिकोण से, वे बेसिरपैर का हस्तक्षेप करने वाले हैं, और राष्ट्र के आर्थिक दृष्टिकोण से, व्यर्थ व्ययसाध्य। अगर शिक्षा को अपनी वर्तमान दुर्दशा में ही रहना है शायद बस तभी उनको कायम रखना तर्कसंगत होगा। लेकिन मैं खुद एक बेहतर भविष्य के सुयोजन के पक्ष में हूं।

स्कूल निरीक्षक प्रणाली का समाज के भविष्य में योगदान का दावा अगर उसकी सचाई के साथ तौला जाए तो उसे लेकर बड़ा विवाद उठ खड़ा होना चाहिए। खासतौर से अगर शिक्षाविदों में समाज के दिशादर्शक के रूप में अपने स्वरूप का अहसास जग जाए तो उन्हें यूं ही खाली मुंह तकते नहीं खड़ा होना चाहिए नहीं तो ये नीतियों के एजेंट मनमानी करते रहेंगे। अपनी गर्दन बचाने के लिए चुपचाप रहने के बजाए, हमें निर्विकार और खुले मन से प्रणाली पर चिंतन करना चाहिए।

निरीक्षण प्रणाली के दावेदारों ने 'अपेक्षा से कम अच्छे' शिक्षा के नतीजों का दोष प्रशासनिक कर्मचारियों की संख्या में कमी पर मढ़ा है। और इस प्रकार शिक्षा की सचाइयों से पूर्णयता अनभिज्ञ सरकार ने बजट और बढ़ाके, जरूरत से ज्यादा निरीक्षकों की संख्या में और बढ़ोतरी कर दी। इसके उदाहरण की भरमार है। देश के वित्त में से पैसा ऐसे निकाला गया है जैसे पैसे पेड़ पर उगते हों—और वह भी शिक्षा के गुण में बिना किसी सुधार के फलस्वरूप। यह करदायक पर आरोपित बोझ है।

आम आदमी के लिए यह विचार बहुत सुविधाजनक है कि निरीक्षण और नेतृत्व की सत्ता एक ही व्यक्ति में समाहित हो। अगर सोच को इसी रस्ते पर आगे बढ़ाया जाए तब तो सटीक बात यह होगी कि हर स्कूल के साथ एक निरीक्षक संलग्न कर दिया जाए। इसका मतलब होगा कि हर स्कूल के दो प्राध्यापक होंगे—एक दफ्तर और प्रशासन के प्रकार्यों के लिए और दूसरा, शिक्षकों के निरीक्षण और नेतृत्व देने के लिए। तदनुसार, शिक्षकों को दो प्राधिकारियों से निर्देश लेने होंगे। इसके चलते पूरे स्कूल में अफरा-तफरी हो जाएगी, धनराशि व्यर्थ होगी और इस सबसे बदतर

यह कि शिक्षा का लक्ष्य खटाई में पड़ जाएगा।

शायद किसी लघुकालीन तकनीकी संलग्न कार्यों में प्रशिक्षण के लिए विशेषज्ञ को बुलाना तर्कसंगत है। मगर इन स्कूल निरीक्षकों का तो किसी क्षेत्र में विशेषज्ञता पर दावा भी कहां है। उनके पास न तो विशिष्ट ज्ञान है और न तजुर्बा, बल्कि उनका ज्ञान तो सामान्य से भी कम है। यह कहानी बहुत से निरीक्षकों पर लागू होती है। यह देखते हुए उनके अधिकारपूर्ण दिखावे, इधर-उधर से प्राप्त किए हुए उनके नए शैक्षिक विचार जिन्हें वे खुद भी नहीं समझते—ये घृणास्पद भी हैं और हानिकारक भी। निरीक्षकों के होने का मूल कारण था प्राध्यापकों की सक्षमताओं में विश्वास की कमी, और उनका प्रकार्य पूरक के रूप में था। अगर ऐसा है तो विशिष्ट मुद्दों के लिए जब कभी जरूरत पड़े विशेषज्ञों को क्यों न आंमत्रित किया जाए ? प्राध्यापकों के सिर पर हमेशा एक उच्च अधिकारी मंडराते रहने की क्या जरूरत है? मेजी काल असक्षम शिक्षक होने के कारण शैक्षिक शिक्षु एक स्कूल से दूसरे में चक्कर लगाते थे। आज की निरीक्षण प्रणाली उसी की वापसी है। फिर भी मैं यह नहीं कहूंगा कि स्कूल निरीक्षक सर्वथा प्रति उपयोगी है—जब तक पिछड़े हुए स्कूल विद्यमान हैं और उन्हें अतिरिक्त दिशा सूचकों की आवश्यकता है।

इसी विचार को आगे बढ़ाते हैं। स्कूल निरीक्षकों की सकारात्मक लाभकारिता वहीं तक सीमित है जहां प्राध्यापकों और शैक्षिक कर्मचारी अपनी असक्षमता का भरपूर सबूत दे चुके हैं। और यह तर्क निरीक्षण-प्रणाली को बनाए रखने के लिए नहीं है बल्कि जैसा कि पहले कहा गया है, यह पदोचित निर्वाचन के लिए प्राध्यापकों की परीक्षा-प्रणाली की आवश्यकता का चित्रण है। शिक्षकों के नेतृत्व का सबसे अच्छा प्रतिमान क्या है ? यह प्रश्न हमें प्राध्यापकों के लिए परीक्षा-प्रणाली लागू करने पर ही वापस ले जाता है, और शैक्षिक सिद्धांतों और शिक्षण प्रविधियों में वैज्ञानिक अनुसंधान की जरूरत पर जोर डालता है। अगर ऐसा किया जाए, तो प्राध्यापकगण वर्तमान स्कूल-निरीक्षक-प्रणाली के हाथों बेकार अपमानित होने से बच जाएंगे।

शिक्षा के लिए एक केंद्रीय योजना अभिकरण पर चिंतन

जापान की शिक्षा-प्रणाली को पुनर्जीवित करने के लिए कम से कम दो मुख्य तत्वों पर चिंतन अत्यावश्यक है। एक शैक्षिक कर्मचारियों की गुणवत्ता को ऊंचा उठाने के लिए सुधारों पर केंद्रित है। दूसरा है प्रणाली के केंद्र अवयव के रूप में एक योजना अभिकरण की स्थापना। इस अभिकरण के पास दीर्घकालीन योजनाएं बनाने और समयोजित करने की ताकत होगी। इन दोनों उद्देश्यों की उपलब्धि में अगर चूक हो जाए, तो आज की प्रणाली को महज दो भागों में बांट देने से असली मुद्दे सतही सुधारों के पीछे धुंधले पड़ जाएंगे और वास्तविक परिवर्तन स्थगित हो जाएगा।

सक्रिय योजना के माध्यम से केंद्रीय अभिकरण अंतर लाएगा। एक जगह हमने

सैनिक तैयारी से तुलना की है। सेनाओं के मुख्यालय कौशलात्मक निर्णयों के लिए शांतिकाल में भी तत्पर रहते हैं। उसी तरह, बदलते समय की संभावनाओं को साकार कर पाने के लिए, शिक्षा के लिए आवश्यक है कि वह अपनी दिशा को निर्धारित और निरंतर पुनःउन्मुख करती रहे। शिक्षा मंत्रालय को भावी योजनाएं बनाने का कार्य देना बड़ी भारी भूल होगी, क्योंकि वह केवल पहले तय की हुई नीतियों को ही लागू कर देगा। न ही यह कार्य शिक्षा एवं संस्कृति-संबंधी नीति समिति पर छोड़ना चाहिए, क्योंकि वह एक पुनः अवलोकन समिति के रूप में मंत्रालय का अनुमोदन करने से ज्यादा और कुछ भी नहीं करती।

शिक्षा को सौ साल बाद की बात सोचनी चाहिए। इसके बजाए होता क्या है कि निर्णय राजनीतिज्ञों पर छोड़ दिए जाते हैं, और उनकी निकट दृष्टि इसके परे कुछ नहीं देख सकती कि अगले चुनाव में उनकी छवि में किससे लाभ हो सकता है। इसके कारण, शिक्षाकर्मी और भी अधिक निकट दृष्टि वाले हो जाते हैं क्योंकि वे अपनी नौकरियां कायम रखने के लिए आपस में दंड-भेद करते हैं। कहने को तो लोग शिक्षा के मुद्दों पर वोट दे सकते हैं मगर प्रणाली की वास्तविकताएं गुलाम-प्रथा के काल से आगे नहीं बढ़ी हैं। अगले सौ सालों के लिए योजनाएं पारित करना दफ्तरशाही पर भी नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि उनके किए गए सुधार से कुछ भी नहीं बदलता। वर्तमान प्रणाली के अंतर्गत, वे जिम्मेदारी को टालने के अलावा कुछ नहीं कर सकते।

यह सब देखते हुए यह तो स्वाभाविक ही है कि शैक्षिक नीति समय से पिछड़कर कूप-मंडूक हो जाए। यह भी स्पष्ट है कि 'बीती ताहि बिसार दें, आगे की सुध ले' को चरितार्थ करते हुए, हमें पिछली गलतियों पर पछताना छोड़कर सक्रिय रूप से दीर्घकालीन शैक्षिक-नीति की योजना बनाने में जुट जाना चाहिए।

लगभग पूर्णतया विदेशी-स्रोतों के सीधे प्रभाव को लेकर प्रस्थापित आधुनिक शिक्षा प्रणाली की आधी सदी बीत गई। न जाने कितने सुधारक आए और चले गए, मगर हैरत यह है कि समग्र रूप से बदला कुछ भी नहीं। उदाहरण के लिए यह बात उच्च-शिक्षा पर हू-ब-हू लागू होती है, जो कि पहले विशेष वर्गों की आवश्यकता के रूप में, शिक्षा क्षेत्र के प्रशासकों तक सब लोग इस बात को काफी आराम से माने बैठे हैं कि सार्वजनिक माध्यमिक स्कूलों के लिए उच्च छात्रों का चयन मध्यम से उच्च वर्ग वालों के विशिष्ट स्तरों के आधार पर किया जाना चाहिए। इसी की वजह से विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए ''परीक्षानर्क''[8] की विवेकहीन त्रासदी का अस्तित्व विद्यमान है। आज भी जबकि माध्यमिक स्कूल की शिक्षा राष्ट्रव्यापी है, निजी और सार्वजनिक स्कूलों की भूमिकाएं लगभग उल्टी हो गई हैं। सार्वजनिक शिक्षा को निचले स्तर से ऊपर की तरफ उठकर अपने सर्वहित की अहम जरूरत पूरी करनी चाहिए। लेकिन उसके स्तर इतने ऊंचे हैं कि वे छात्र जो बहुत अच्छे अंक ला पाने

में समर्थ हैं और जिन पर सबसे कम ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है, केवल उन्हीं को प्रवेश मिल पाता है। यानी केवल भद्रजन को। बाकी सबको निजी स्कूलों का मुंह तकना पड़ता है। वाकई कुछ भी नहीं बदला है।

इन न्याय-विहीन हालात को कब तक चलने दिया जाएगा। सामाजिक चेतना का तेजी से विकास हो रहा है। आम नागरिकों ने सामुदायिक सहयोगी समूहों और अभिभावकों ने करदायक की हैसियत से शिक्षा में समान अवसर दिए जाने के लिए उद्घोषणा करने का बीड़ा उठा लिया है। अगर पाठ्यक्रम की उत्पत्ति वास्तविक जीवन के मूल्य-सृजन से होनी है और संपूर्ण जीवंत परिवेश को मूलपाठ बनाना है, तो शिक्षा के समग्र यंत्र की कायापलट करनी होगी। आज के दौर की पुकार है कि संपूर्ण शिक्षा-प्रणाली की पूर्ण पुनःसंरचना हो। इसीलिए इस बात की जल्दी है कि एक केंद्रीय योजना अभिकरण स्थापित हो और जो शैक्षिक-नीति पर दीर्घकालीन और एकीकृत निर्णय ले।

यह अभिकरण अगली पीढ़ी को जितनी अच्छी शिक्षा दी जा सकती है उसकी संभावना और प्रविधि पर विचार करेगा ! ऐसा करने में व्यक्तिगत मूल्यों के सृजन की ओर सतत ध्यान देगा। इसका दायित्व प्रेक्षण और प्रस्ताव करने का होगा न कि प्रशासन की अन्य शाखाओं की तरह समकालीन नियमों को लागू करने का। और न ही यह अनुसंधान केंद्र के अनुसंधानकर्ता की बेहतर और ज्यादा कारगर शैक्षणिक विधियों की खोज का कार्य अपने सिर पर लेगा। यह तो एक वृहद कसौटी का गठन करेगा जिसके अंतर्गत शैक्षणिक कार्य कार्यान्वित होगा।

यह शिक्षा-प्रणाली के अंदरूनी ढांचे पर, बाहरी सरकारी प्रकार्यों से तुलनात्मक दृष्टि रखते हुए, सतत विचार करेगा कि वह राष्ट्र की भावी संपन्नता की ओर कैसे अग्रसर हो। और इसीलिए अभिकरण दीर्घ परिसर में योजनाओं का विकास करेगा। राष्ट्र की समग्र स्थिति के आकलन के आधार, पर यह अभिकरण शिक्षा प्रणाली के सभी निकायों के प्रयत्नों में सामंजस्य पैदा करेगा।

यह तो है कि इस काम के लिए उपयुक्त व्यक्ति ढूंढ़ पाना मुश्किल होगा। फिर भी, मेरा यह प्रस्ताव है कि समाज के सभी परिसरों में से उन व्यक्तियों का तानाबाना बुना जाए जो वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शिक्षा की महत्वकांक्षाओं को समझते हैं और जो नए विचारों को ग्रहण कर पाने में सक्षम हैं। उनसे निवेदन होगा कि वह आने वाले युगों के क्षितिज की ओर अपनी नजरें जमाएं। विकासशील चिंतकों की एक ऐसी समिति अत्यावश्यक है।

शैक्षणिक विवादों में मध्यस्थता के लिए एक अभिकरण

राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में आए बदलाव की लहर से जापानी शैक्षिक समुदाय की मान्य परंपराएं, जो तानाशाही के वातावरण में पनपी थीं, बची नहीं रह सकतीं।

यह मैंने बारंबार कहा है। सब तरफ समस्याएं उठ खड़ी हो रही हैं, लेकिन अब सामंतवादी हथकंडे नहीं चल पाएंगे। हम गलत या सही किसी भी नेता का अनुसरण अब नहीं कर सकते, न ही समस्याओं को ओझल करके उन्हें समाप्त कर सकते हैं। हमें मुद्दों का सामना करने की प्रतिज्ञा करनी होगी और आज के तेवरों के अनुरूप समाधान ढूंढ़ने होंगे। समस्या-निराकरण की किसी भी योजना में तीन विन्यासों का साथ काम करना आवश्यक है : विवादों के न्यायसंगत निपटारे के लिए मध्यस्थता का एक तटस्थ विन्यास, गलत काम करने वालों को सावधान करने के लिए एक विन्यास, और सही साबित हुए लोगों को बहाल करने के लिए एक विन्यास।

कुछ लोगों को शैक्षिक विवादों की मध्यस्थता के लिए अभिकरण का विचार मजदूरों की मांगों के आह्वानों से खतरनाक तौर पर मिलता जुलता लगे। लेकिन हमें उन द्वंद्वों के लिए तैयार रहना चाहिए जो क्रांतिकारी बदलावों से ग्रस्त एक शिक्षा प्रणाली के तनाव में उत्पन्न हो सकते हैं। विचारधारा-विवाद अवश्यभावी हैं, खासतौर से युवा बदलाववादी शिक्षकों के बीच जिनका रुझान उग्र-चिंतन की ओर है। उच्च पदों पर आसीन प्रशासकों के तानाशाही आदेश समस्या का हल नहीं हैं। एक संतुलित और स्पष्ट नियमों वाली प्रणाली की आवश्यकता है।

मानव भावना और तर्क का संगम है। भावनाओं के भीषण टकराव विनाशकारी हो सकते हैं, मगर वाद-विवाद में विचारों के टकरावों से डर कैसा ? भावात्मक युद्ध लोगों को छिन्न-भिन्न कर सकते हैं, मगर विवेकपूर्ण विचार-विमर्श पर टिके रहने से अंततः सतत समाधान ही मिलेगा। दफ्तरशाह अपने आपको कागजी कार्यवाही के यंत्रचालित खिलौने बना लेते हैं ताकि वे वास्तविक मुद्दों को सुलझाने से बच सकें। लेकिन वे यह भूल रहे हैं कि मानवों में विवेकपूर्ण पहलू भी होता है और विचारों में साम्यता और अंतर पर प्रकाश डालने से ही संश्लेषण संभव है।

तानाशाही के दौर की भावात्मक उद्घोषणाओं में विमर्श की आज्ञा नहीं थी, मगर आज के संवैधानिक लोकतंत्र के दौर का सार सार्वजनिक मंच है। सच्ची भागीदारी का राज्य कैसे आएगा अगर हम वाद-विवादों से डर जाएंगे ? बच्चों से यह अपेक्षा करना कि वे इस तरह के विमर्शों में हिस्सा लेंगे, तर्कसंगत नहीं होगा लेकिन वे सब लोग, पुरुष व स्त्री जिन्होंने शिक्षा ग्रहण की है, वे सब इतने विवेकपूर्ण हैं कि विवाद के माध्यम से सही और गलत की पहचान कर पाएं। इसके अलावा, यह भी सब जानते हैं कि व्यक्तिपरक निर्णय किसी भी समस्या का समाधान नहीं कर सकते, बल्कि वे झगड़ों को उलझाते और बढ़ाते ही हैं। वे असहमतियों को उखाड़कर नहीं फेंकते बल्कि उनको सींचते हैं। एक तीसरी और तटस्थ दृष्टि अत्यावश्यक है।

चाहे वे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हों या व्यक्तिगत स्तर पर, विवाद विशिष्ट कारणों

से ही उपजते हैं। वे बिना कारण नहीं उभरते। सच्चे समाधान वही हैं जो समस्याओं के शिखर से जड़ों तक पहुंचें, कारणों को समझें और उन्हें जड़ से उखाड़ फेंकें। सच या गलत तक पहुंचने के लिए निर्णयों को नियमों का आधार चाहिए, न कि किसी की व्यक्तिगत सत्ता का इशारा। इसके अलावा विवादों को सुलझाने का कोई और तरीका नहीं है।

उन बच्चों का उदाहरण लीजिए जो आपसी झगड़े में पड़ जाते हैं। वयस्क लोग दोनों ही पक्षों की बात सुनने को तैयार नहीं होते और दोनों को सजा देते हैं। वे रोते रोते सो अवश्य जाते हैं मगर साथ साथ उनका न्याय में विश्वास मटियामेट हो जाता है क्योंकि वे तानाशाही के इस भयंकर 'सच' को जान लेते हैं कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस।' इसी तरह मैंने देखा है कि जब भी शिक्षाकर्मियों के बीच विवाद उठ खड़े होते हैं, और ऐसा अकसर होता है, तब मुद्दों को टाल देने से या मनमुटाव पर फाहा रख देने से शिक्षा की उपयुक्तता पर गंभीर प्रभाव पड़ता है। इस तरह के हालात का निपटारा करने के लिए स्कूलों के दायरे से अलग एक अभिकरण होना ही चाहिए। इसमें शक नहीं कि उसे चलाने के लिए विभिन्न प्रस्ताव होंगे। लेकिन जरूरी बात यह है कि वह विवादों को समाधान तक पहुंचाए और समस्याओं को जड़ से सुलझाए। वे औपचारिक निर्णय, जो बगैर मार्मिक मुद्दों पर विचार किए कानून को विधि का विधान बना देते हैं, सत्ता की राजनीति की नुमाइश के अलावा और कुछ भी नहीं हैं।

अगर स्कूलों को संवैधानिक राज्य की भावना चलाए जाना है, तो विवादों को सुलझाने का काम निरीक्षकों की पक्षपातपूर्ण दृष्टि पर नहीं छोड़ा जा सकता। वे दोनों पक्षों को ही सजा देंगे क्योंकि हमेशा ऐसा ही होता आया है या फिर वे चोरी-छिपे इकट्ठी की हुई अटकलों पर निर्भर करेंगे। इस तरह के असंवैधानिक चलन को समाप्त करना होगा, अगर हमें शिक्षा की समग्र उपयुक्तता बढ़ानी है और शिक्षकों की श्रेष्ठता के स्तर ऊंचे उठाने हैं। हम लोग संवैधानिक राज्य को सबसे विवेकपूर्ण सामाजिक प्रणाली नहीं मान सकते अगर हमें शिक्षकों के बीच विवादों को सुलझाने के लिए रूढ़िवादी दफ्तरशाही के तरीके भी मान्य हैं।

यह बात न्यायालयों जैसी ही है। अगर सारे मुकदमे पक्के सबूतों के साथ बिल्कुल साफ होते तो बस सिर्फ एक न्यायाधीश ही काफी होता। लेकिन चूंकि मामले उलझ जाते हैं और सबूत भी अक्सर परिस्थिति केंद्रित होते हैं, इसलिए ऐसे व्यक्तियों से गठित ज्यूरी प्रणाली को मध्यस्थता के लिए लाया जाता है जिसका मामले से कोई प्रत्यक्ष संबंध न हो। इस तरह की ज्यूरी प्रणाली को शिक्षा के क्षेत्र में भी कार्यान्वित करना चाहिए या तो जरूरत पड़ने पर या फिर स्थायी रूप में, क्योंकि शैक्षिक मतभेद यकीनन जटिल होते हैं। एक तरीका तो यह हो सकता है कि ऐसे शिक्षाकर्मियों की समिति गठित की जाए जिनके लंबे व्यावसायिक अनुभव

में उनकी शुभचिंता सिद्ध हो गई हो।

लेकिन निजी अथवा अपराध संबंधी मामलों और स्वयं प्रशासन पद्धति पर मुकदमा चलाने में अंतर है। हालांकि सरकार प्रशासनिक, वैधानिक और न्यायिक प्रकार्यों में विभाजित होती है, लेकिन अदालतें इन मामलों को विशेष विधान के रूप में देखती हैं जिसे खास ज्ञान और तजुर्बों वाले न्यायाधीशों की आवश्यकता होती है। शैक्षिक मतभेद मुश्किलों को थोड़ा और बढ़ा देते हैं, खास तौर से जब विवाद विचारों के स्तर पर हो। केवल कानून की साधारण ढाल से काम नहीं चलने वाला है। जजों का चयन उनके शैक्षिक परिप्रेक्ष्य के आधार पर ही किया जाना होगा। इस मध्यस्थता अभिकरण का गठन श्रमिक मध्यस्थता समितियों के अनुरूप होना चाहिए। इस तरह, अगर शैक्षिक विद्वानों द्वारा इस अभिकरण की सत्ता-सीमाएं स्पष्ट रूप से निर्धारित की गई हों तो वह शैक्षिक सुधारों के अवरोधों को मिटाने में काफी कुछ कर सकता है। उदाहरण के तौर पर गलतियों पर उंगलियां उठाने का अधिकार एक ऐसे निकाय को होना चाहिए जो फैसला सुनाने वाले निकाय से विलग हो। सजा देने को पूरी तरह से टाला नहीं जा सकता है। शिक्षा एक गंभीर प्रकार्य है, जिसके सामाजिक प्रभाव भी गंभीर हैं। वे शिक्षक जो केवल स्वार्थ-लाभ के लिए काम करते हैं, वे समाज के विश्वास को हताहत करते हैं। इस तरह वे न केवल शैक्षणिक समुदाय की सदस्यता का अधिकार खो देते हैं बल्कि एक सजग समाज बनाने के शैक्षिक आदर्श के विरुद्ध काम करते हैं। वे संस्कृति की जड़ों में जहर घोलते हैं और अगर वे सामान्य सामाजिक स्तर पर किए गए मूल्यांकन के अनुसार कुछ विशेष गलत भी नहीं करते, तो शिक्षा स्वयं ही अपने दीर्घकालीन प्रभाव के चलते उनका मूल्यांकन ज्यादा सख्ती से करती है। कपटी लोगों की छानबीन अच्छी तरह होनी चाहिए। स्वार्थ-केंद्रित हीनयान विलगता से सुरक्षा और छुटकारा आवश्यक नहीं है तो वह प्रणाली की लूट खसोट करता है। इस सोच के बजाय बच्चे महायान की ओर अग्रसर होने चाहिए ताकि प्रणाली में संरचनात्मक रूप से सम्मिलित हुआ जा सके।

पैमाने के दूसरी ओर, अच्छे विचारों और प्रचलनों को पुरस्कृत किया जाना चाहिए। मगर यह मध्यस्थता अभिकरण के परिसर से परे है। वह सही सिद्ध होने वालों को केवल निष्क्रिय रूप से सहयोग देती है, निर्णय के स्वाभाविक और अस्थायी प्रभाव के रूप में। ठोस व्यक्ति शिक्षा ही नहीं बल्कि पूरे समाज के लिए जितने महत्वपूर्ण हैं उतने ही हितकारी। इसलिए यह तर्कसंगत है कि सृजनात्मक शिक्षा के उत्थान के लिए एक अलग पद्धति हो। इसे संस्थागत कर पाना मुश्किल होगा। लेकिन फिलहाल मैं इससे बेहतर कोई और साधन का सुझाव नहीं दे सकता कि शिक्षा के गणमान्य व्यक्ति मेरे अपने सोका क्योईकु गाक्काई (मूल्य-सृजनकारी शिक्षा समुदाय) जैसे किसी समुदाय को सहयोग प्रदान करें।

स्कूल प्रणाली में प्रस्तावित सुधार

शिक्षा मंत्रालय की सुधार कार्यवाही पर प्रतिक्रिया

शिक्षा मंत्रालय की स्कूल-प्रणाली को लेकर मूल सुधार योजना सितंबर 1931 में कैबिनेट की एक बैठक में प्रस्तावित और मान्य की गई थी। उस योजना में विशेष बल दिया गया था स्कूल की अवधि को कम करने पर, हर स्तर पर पूर्ण शिक्षा देने पर, स्कूलों को सार्वजनिक बनाने पर और यूनिवर्सिटी में सहशिक्षा की स्थापना करने पर।

शिक्षा मंत्रालय की योजना के जवाब में शैक्षिक अध्ययन समुदाय ने स्कूलों के पुनर्संगठन के लिए अपना प्रस्ताव प्रकाशित किया है। इसके पहले अनुभाग का शीर्षक है, 'आज की प्रणाली की विफलताएं', और इसके अंतर्गत इंपीरियल आर्डर आन स्कूलिंग एंड एजुकेशन यानी स्कूल और शिक्षा पर शाही आदेश के पहले हुक्मनामे के बाद लगभग तीस साल की व्याख्या है। यही हुक्मनामा आज भी लागू है। इसमें सबसे पहले समकालीन शिक्षा प्रणाली की छह कमियों का उल्लेख है :

1. समकालीन शैक्षिक संगठन समान शैक्षिक अवसर की आवश्यकता पूरी करने में असफल है।
2. प्राथमिक शिक्षा से ऊपर के सब स्कूलों को उच्च शिक्षा की तैयारी का स्थल बना दिया जाता है। इस तरह छात्रों के एक बड़े बहुसंख्यक वर्ग के हितों को त्याग दिया जाता है, उन गिने चुने छात्रों के पक्ष में जो यूनिवर्सिटी अथवा विशेषज्ञ पाठ्यक्रमों में जाएंगे।
3. वर्तमान शिक्षा को जबरदस्ती एक समानता दी गई है।
4. वर्तमान शिक्षा का बौद्धिक बीजारोपण की ओर अत्यधिक झुकाव है।
5. स्नातकों को बहुत से विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जिनकी आवश्यकता नहीं है।
6. समकालीन शिक्षा बहुधा आदर्श शिक्षकों से हीन व्यक्तियों को स्वीकारती है, और इसका कारण है शैक्षणिक प्रशिक्षण और परीक्षण प्रणाली का अभाव।

दूसरे प्रस्ताव में इन कमियों को पूरा करने के लिए निम्नलिखित दस-सूत्रीय योजना का प्रस्ताव है :

1. माध्यमिक शिक्षा का सार्वभौमिकरण।
2. उपचारीय और पूरक-शिक्षा का पूर्ण पुनरावलोकन।
3. सामान्य सामाजिक शिक्षा की मुहिम के लिए विशेष अनुसंधान और निर्देशकीय निकायों की विस्थापना और विस्तार।
4. हर स्तर पर, स्कूलों की विशिष्ट सक्षमताओं को पुष्ट करना बजाय उन्हें

उच्च शिक्षा के लिए तैयार करना।

5. यंत्रचालित मानकीकरण की ओर रुझान को समाप्त करना और उसके बजाय स्वतंत्र प्रयोगात्मकता को बढ़ावा देना, मगर छात्रों की आवश्यकता पूर्ति के बाद।
6. बौद्धिक विकास की ओर शिक्षा के एकपक्षीय झुकाव पर बल दिए जाने से परे, कार्यरत होने की मनोवृत्ति को बढ़ावा देना। सृजनात्मक विचारों और समाज-केंद्रीय गतिविधियों की ओर विशेष ध्यान देना।
7. स्कूल के स्नातकों के विशेषाधिकारों को समाप्त करना।
8. स्कूल की अवधि कम करना।
9. नॉरमल स्कूलों में शैक्षणिक प्रशिक्षण में सुधार लाना।
10. शैक्षिक-व्यय को विवेकपूर्ण बनाना।

हमारी सोच में एक और बुनियादी गलती यह है कि हम शिक्षा के परिसर की सीमा स्कूलों में अध्ययन तक सीमित समझते हैं। हम इस रूढ़िवादी दृष्टिकोण के बंदी बन गए हैं कि जब तक विद्यार्थी सोलह या सत्रह साल की चारदीवारी में से न गुजर लें, वे किसी काबिल नहीं बन पाएंगे। ऐसा सोचना बिल्कुल तर्कसंगत नहीं है कि हरेक नागरिक का विकास पूरी तरह से स्कूल अथवा औपचारिक शिक्षा से पूर्ण हो सकता है, जबकि यह एक जीवनपर्यंत प्रयत्न है। इस अहसास के चलते स्कूलों की कारागार को तोड़ना है, इस आशा के साथ कि शिक्षाविदों की नजर संपूर्ण सामाजिक जीवन की विस्तृत विभिन्नताओं पर पड़ पाएगी। उनको केवल प्रोत्साहन दिए जाने की जरूरत है। इसके अलावा अगर स्कूल की अवधि को एक या दो साल कम करने का विचार ज्यादा से ज्यादा एक अधपका कदम है, तो मंत्रालय का एक साल बढ़ाने का कदम भी कुछ कम अर्थहीन नहीं है। मेरा कहना यह है कि अगर हम इस मुकाम तक जाने को तैयार हैं तो क्यों न पूरा रास्ता तय करके इतने बड़े पैमाने पर सुधार लाएं कि शिक्षकों को जीवनपर्यंतता की मंजिल तक ही पहुंचा दें। जैसा कि मैं आगे "आधे दिन की स्कूल प्रणाली" के अनुभाग में विचार रखूंगा, शायद सबके लिए सबसे कम अध्ययनपूर्ण विधि है, कार्य-अध्ययन के एक समानांतर कार्यक्रम की विस्थापना।

समकालीन प्रणाली की विफलताओं का पुनराकलन

जब मैं शैक्षिक सुधारों की संभावना पर विभिन्न प्रतिक्रियाओं का सर्वेक्षण करता हूं, तब मुझे यह अहसास होता है कि समकालीन प्रणाली की समझ और भविष्य की योजना बना पाने के लिए मूल स्तरों के अभाव में दृष्टिकोण कितना भटक जाते हैं। मैं केवल अपनी मान्यता को दोहरा सकता हूं कि शिक्षा एक जटिल कार्य है

जिसके नतीजे और अंतःसंबंध बहुत गहरे होते हैं—यह मानव जीवन के सबसे मुश्किल कार्य-क्षेत्रों में से एक है। जब तक कि हम छोटी-से-छोटी विशिष्टताओं की जड़ों तक नहीं पहुंचेंगे, हम सच्चे समाधानों तक नहीं पहुंच पाएंगे।

समकालीन शैक्षिक प्रणाली के पुनरावलोकन में और पिछली गलतियों को ठीक करने के लिए भविष्य की योजना बनाने में पहली जरूरत है आकलन स्तरों की स्थापना की। सुधारों पर व्यक्त किए गए दृष्टिकोण को देखते हैं तो यह समझ में नहीं आता कि प्रस्तावक क्या आधार लेकर चल रहे हैं। प्रस्तावकों के तर्क इसलिए विश्वास नहीं जगा पाते क्योंकि उन्होंने उस पर दूसरी तरह से विचार नहीं किया है। अब समय आ गया है कि हम समकालीन शिक्षा को समझें, राष्ट्र बनाए रखने के अपने उद्देश्य के संदर्भ में उसका विश्लेषण करें, गंभीर रूप से मूल्यांकन करें और अपने विचारों को सुसंयोजित ढंग से अभिव्यक्त करें। बुनियादी कमियों को समझकर उचित ढंग से इलाज ढूंढ़ें।

1. पहले इसका अवलोकन कर लें कि समाज आखिर कितनी ऊर्जा शिक्षा में व्यय करता है। हालांकि समाज अपनी क्षमता से बढ़कर शिक्षा पर खर्च करता है, लेकिन जैसा कि ऊपर संकेत दिया गया है, शिक्षा का प्रबंधन कुशलता से नहीं होता।

(क) गगनचुंबी शैक्षिक व्यय के लिए राज्य, स्थानीय सरकारों और परिवारों को—यानी समग्र समाज को, बड़ी कीमत अदा करनी पड़ती है। लेकिन उसका परिणाम ?

(ख) स्नातकों के संयौगिक जमघट में से कितने समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहे हैं। क्या हाई-स्कूल स्नातकों में बढ़ती हुई बेरोजगारों की संख्या समाज के लिए एक खतरा खड़ा नहीं करती ? इसके कारण क्या हैं ?

2. अधिकतर स्कूल उच्च-शिक्षा की तैयारी में जुटे हैं, न कि व्यावहारिक-वास्तविक जीवन के चिंतन में। इसका कारण यह है कि स्नातक बनने के बाद विशेषाधिकार मिलते हैं और वे संपन्न जीवन की एकमात्र कुंजी माने जाते हैं। इसलिए छात्र केवल उच्च-शिक्षा के उद्देश्य से प्रेरित होकर मैट्रिक करते हैं। इस तरह आज की शिक्षा मानव जीवन के ध्येयों से पूर्ण रूप से विलग हो गई है। जब तक कि हम विशेषाधिकारों पर बंदिश नहीं लगाते हम युवाओं को फुसलाने के लिए जाल फैलाने के अलावा और कुछ नहीं कर रहे। ज्यादातर लोगों में ऐसी अंतःदृष्टि नहीं होती कि वे इस अवरोधकता के लिए कुछ भी कर सकें। वे बदलते समय के निष्क्रिय दर्शक मात्र हैं, और इसलिए वे स्कूलों में जमघट लगाते हैं, इस मूर्खतापूर्ण

अपेक्षा में कि ये विशेषाधिकार हमेशा ही चलते रहेंगे। बिना जाने बूझे वे शिक्षा को एक व्यसन बना रहे हैं।

3. शिक्षा अव्यावहारिक है। सवाल यह नहीं है कि शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य समानता होना चाहिए कि नहीं। माना कि यह बात सही ही है कि शिक्षा इस दिशा में जरूरत से आगे ही बढ़ गई है, मगर यह बात भी उतनी ही निश्चित है कि किसी हद तक एकीकरण अनिवार्य है। लेकिन ज्यादा जरूरी यह है कि शिक्षा के व्यावहारिक मामलों की ओर चिंतन में अभाव को ठीक किया जाए।
4. शिक्षा प्रति-उत्पादक है।

(क) शिक्षा को संकीर्ण आर्थिक संदर्भ में ही उत्पादक नहीं, बल्कि मूल्य-सृजनात्मकता के तीनों आयामों में, लाभ-हित-सौंदर्य के उत्पादन में भी, सक्रिय होना चाहिए।

(ख) व्यावसायिक शिक्षा की शुरुआत मूल्य-सृजन की दिशा में होनी चाहिए। तथाकथित व्यावहारिक शिक्षा आज के समाज को ज्यादा ही आकर्षित करती है क्योंकि वह अप्रासंगिक शिक्षा से तंग आ चुका है। लेकिन फिर भी हमें विशुद्ध उपयोगितावाद जैसी घटिया प्रवृत्ति से बचना चाहिए, नहीं तो हम अपने आज की दुविधा के विपरीत ध्रुव पर पहुंच जाएंगे।

5. क्या हम बौद्धिक विकास पर वाकई बहुत ज्यादा जोर दे रहे हैं ? आम राय की तहत, शिक्षा के कारणत्व के अभाव को देखें तो लगेगा कि उस पर कम जोर दिया जा रहा है। बौद्धिक शिक्षा पर यह तथाकथित अत्यधिक बल किस पहलू में दिखाई देगा? अगर बौद्धिक शिक्षा पर अधिक बल का अर्थ है नैतिक शिक्षा पर कम बल दिया जाना, तो वह निश्चित रूप से समस्या होगी लेकिन यह सच हो, जरूरी नहीं है। नैतिक शिक्षा की उपयुक्तता कम होने का दोषारोपण, बौद्धिक-शिक्षा पर अत्यधिक बल दिए जाने पर, किया जाना ऐसा है जैसे अमीर पड़ोसी से ईर्ष्या करना, और अपनी बुरी माली हालत के लिए उसके प्रयत्नों में कोताही को जिम्मेदार ठहराना।

नहीं, मैं विद्वतापूर्ण साहित्य पढ़ाए जाने को नैतिक शिक्षा प्राप्त करने का एकमात्र आधार मानता हूं। अगर हम विद्वतापूर्ण साहित्य में कटौती करें यह समझकर कि यह सही दिशा में एक कदम है, तो हम अंततः अधिक अज्ञानी ही बन जाएंगे। ऐसा नहीं है कि हम बौद्धिक विकास में बहुत ही आगे निकल आए हैं, बल्कि वास्तविकता यह है कि हमारे साधन अत्यधिक जबरदस्ती वाले हैं। इसके चलते हम लोग बिल्कुल विपरीत नतीजे पर पहुंच जाते हैं—अशिक्षा की ओर। वैसे यह

देखते हुए कि आज के स्कूल किस कदर समय और ऊर्जा को अकुशल तरीके से व्यय करते हैं, नतीजों पर अत्यधिकता की आलोचना उचित लगती है। मगर असली उपलब्धियों के नाम पर? इससे पहले कि हम बौद्धिकता की अति की बखिया उधेड़ें, उस निहित प्राविधिक अकुशलता को जान लें जिसे यह अति सिद्ध करती है।

6. अग्रणी चिंतक और विधायक ने हमेशा ही नैतिक बीजारोपण को लेकर आवाज उठाई है। दुर्भाग्यवश नैतिक शिक्षा के शिक्षण की स्थापित विधियों के अभाव में बात आगे नहीं बढ़ी है। नतीजा यह है कि अब हमारी नागरिकता नैतिक रूप से निर्धन हो गई है।
7. बहुत समय तक प्रशंसात्मक शिक्षा यानी सौंदर्यपरक संवेदनाओं के विकास को भावात्मक परिमार्जन की संज्ञा दी गई है। लेकिन उसके लिए कोई निश्चयात्मक उपगमन नहीं बनाया गया है। हमें कर्मनिष्ठ होने के लिए पुराने आह्वान तो दिए जाते हैं, मगर करना क्या है—हमें यह लेकर असमंजस रहता है। इस परिस्थिति के विषय में मेरी अपनी धारणा यह है कि क्योंकि इस दिशा में स्पष्ट शैक्षिक उद्देश्यों की कमी है, जाहिर है कि हम साधनों को भी एकत्रित नहीं कर सकते।
8. उचित योजना इसलिए नहीं बनती क्योंकि शिक्षा के क्षेत्र में न तो नीति निर्धारकों और न ही शिक्षाकर्मियों में उद्देश्यों के बारे में स्पष्टता है। इसलिए कोई भी बात संपन्न नहीं होती। हम साठ साल से अंधेरे में भटक-भटक कर अब एक कोने में जड़ हो गए हैं। जो कोई भी इस समस्या से संबंधित है—योजनाकार, राजनीतिज्ञ, और शिक्षाविद—सभी को पूर्ण शैक्षिक प्रणाली को नख से शिखर तक वस्तुपरकता से परखना होगा।
9. शैक्षणिक प्रशिक्षण और आंकलन के अभाव के कारण पदोचित नियोजन करने में ही असफलता हाथ नहीं लगी है बल्कि देर सबेर जो अच्छे शिक्षकगण कभी-कभार आ भी जाते हैं वे भी दूसरे व्यवसायों की ओर आकर्षित हो जाते हैं।
10. शैक्षणिक नियोजन और पदोन्नति के मानकों की कमी के कारण, यह महत्वपूर्ण मुद्दे प्रशासकों की मनमानी के आसरे हो गए हैं।
11. शैक्षणिक समन्वय अथवा नेतृत्व के प्रचालन के लिए स्थिर नियमावली नहीं है। प्रशासक खुले रूप से अपनी अधिकार सीमाओं का उल्लंघन कर दखलअंदाजी और दबाव का इस्तेमाल करते हैं। और इस तरह शिक्षकों में किसी प्रकार की पहल करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। और इस तरह शिक्षा कुशलता के सबसे निचले सामान्य धरातल पर ही

अटक जाती है।

12. उपर्युक्त सब क्षेत्रों में शैक्षिक नीति की स्थापना नहीं हुई है। न ही अभी तक इस तरह के नीति-संबंधी मामलों पर विचार करने के लिए पुनर्वीक्षण समिति का कोई प्रावधान है।
13. शैक्षिक नीति स्थापित कर पाने के आधारस्वरूप शैक्षणिक प्रविधियों के अध्ययन अथवा परीक्षण के लिए कोई सुविधा तक नहीं है।

अंततः शिक्षा-प्रणाली में निर्णयात्मक और क्रमिक सुधार प्रस्तावित करने के लिए हमें कुछ अहम मुद्दों को सुलझाना होगा। केवल तात्कालिक और समय के साथ बदलती जरूरतों को पूरी करने के कारण, शैक्षिक यंत्र एक बेडौल भीमाकार में फैल गया है—दफ्तरशाही के एक भीषण ढांचे के स्वरूप, जिसकी मरम्मत की गंभीर आवश्यकता है। हम जहां कहीं भी समस्या काबू से बाहर होने लगे पैबंद लगाने के लिए इधर से उधर दौड़ भाग करते रह सकते हैं, मगर इसी में हमारा समय और धन व्यय हो जाएगा। बुनियाद से लेकर स्तंभों तक पूरा ढांचा सड़ गया है। पूरे ढांचे को गिराकर और शुरुआत से नई संरचना करने में कहीं ज्यादा अकलमंदी है। इस तरह हम एक व्यय साध्य पुराने खंडहर के स्थान पर एक ताजा क्रम ला सकते हैं। न्यूनतम रूप में हमें निम्नलिखित प्रकार्यों को कार्यान्वित करने की आवश्यकता पड़ेगी :

1. मेजी काल की शैक्षिक प्रणाली की कारगरता का संपूर्ण पुनः पर्यवेक्षण।
2. एक तो पहले की तरह अमेरिका और यूरोप के विकसित देशों से तुलनात्मक अध्ययन, लेकिन साथ-साथ कुछ पिछड़े हुए देशों का भी अध्ययन, उदाहरणार्थ चीन, जिसने जापान का ही रास्ता चुना और अब उसी अंधेरे अवरोधक पर रुक गया है जिस पर आज जापान है।
3. सभी चिंतित लोगों को अपने विशेष ज्ञान और व्यावसायिक अनुभव को एकजुट करना चाहिए। मगर इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि हर किसी को शैक्षिक अस्तित्व की कारणता की विधियत और वैज्ञानिक पकड़ हो।

दूसरे शब्दों में, हमें अपने पिछली आधी सदी से भी ज्यादा के अनुभवों का चिंतन करना चाहिए, अपने आदर्श का आलोचनात्मक विवेचन करना चाहिए, और देश-विदेश से मिली संदर्भ सामग्री को भी साथ-साथ विचाराधीन रखना चाहिए। हमें समस्याओं को समाज के प्रतिनिधि, शिक्षाकर्मी और शैक्षिक सिद्धांतवादी की विशेषज्ञताओं के त्रिशूल से बेधना चाहिए।

हमारी वर्तमान दुविधा अंशतः एक तानाशाही ढांचे में फंसे हुए होने के कारण है जिसके अंतर्गत श्रम विभाजन ऐसा है कि लोगों पर अत्यधिक नियंत्रण रखता है। शिक्षक शिक्षा-मंत्रालय के आदेशों को हूबहू मानने के अलावा कुछ नहीं करते, प्रशासक केवल अपने कार्य-क्षेत्रों पर बिना कोई सवाल उठाए अपना ध्यान सीमित

रखते हैं। चूंकि कोई अपनी संकीर्ण सीमाओं से बाहर निकलकर विस्तृत छवि नहीं बनाता, इसीलिए कोई सुधार के बारे में राय भी नहीं रखता। और अगर प्रत्यक्ष रूप से कोई कार्यरत शिक्षाकर्मी राय देता भी है तो बड़ी हस्तियां अथवा राजनीतिज्ञ एकदम यह याद दिलाते हैं कि यह आलोचना शिक्षक-मात्र की अधिकृत सीमाओं का उल्लंघन है। इसलिए होता यह है कि शिक्षाकर्मी केवल अपने काम से काम रखते हैं—न कोई कुछ कहता है, न ही कुछ अधिक जानने की जिज्ञासा रखता है।

आज के दिन और काल में हम सबसे रचनात्मक आलोचना की अपेक्षा है। हमारे वैधानिक मताधिकार का मतलब ही क्या है अगर वह पद अथवा वर्ग से परे, हम में से हरेक के लिए इस तरह के राष्ट्रीय मुद्दे को सुलझाने के लिए आह्वान नहीं है ? यह परम अवसर है जिसमें हम बुनियादी सुधारों में सहयोग दे सकते हैं। इस बात की अपेक्षा है कि नई इमारत बनाने के लिए पुराने खंडहर ढहाए जाएंगे। इस प्रक्रिया में हमारे अपने और साथ ही साथ हस्तियों और राजनीतिज्ञों के पुराने प्रयत्नों की आलोचना या उनका ध्वंस किया जाना संभव है। इसलिए यह कार्य थोड़ा अप्रिय भी हो सकता है। इसके बावजूद, अपने देश के भविष्य और बच्चों की संपन्नता के हित में अपने व्यक्तिगत बंधनों को तोड़ देना चाहिए। हमें इतना विशाल हृदयी होना चाहिए कि विकल्पों को निर्णय किए जाने के लिए उनकी उचित जगह पहुंचा दे—यानी सार्वजनिक मंच पर।

इन मुख्य धारणाओं को मानते हुए, हम सारे मुद्दों की जड़ों पर एक सरसरी निगाह डाल लेते हैं :

1. क्या अब वह समय नहीं आ गया है जब ज्ञान प्राप्ति के विचार पर नहीं बल्कि ज्ञानार्जन को दिशान्वित करने के विचार को महत्ता दी जाए ?
2. छात्रों के अपने सुख और समाज की अपेक्षाओं दोनों के दृष्टिकोणों से क्या यह विवेकहीन बात नहीं है कि युवाओं का सारा बचपन और युवावस्था एक अध्ययन कक्ष में झोंक दिया जाए, बाकी सब आयामों की उपेक्षा करके ?
3. शैक्षिक-वित्त का बजट बनाना तो खैर एक जरूरत है, मगर क्या वह शिक्षा की आर्थिक-सार्थकता के सामने गौण विषय नहीं है ? उसी के चलते, शैक्षणिक सामग्री और सापेक्ष सुधारों में पूर्ण संशोधन की आवश्यकता पैदा होती है। (इस पुस्तक में शैक्षिक प्रणाली के सिलसिले में यह मुख्य मुद्दा है।)
4. शिक्षा का प्रचलन सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा होना चाहिए या निजी क्षेत्र द्वारा ?
5. संरचना संबंधी एक और बुनियादी सवाल : सुधार के प्रस्ताव को अंतिम रूप देने के लिए कौन सबसे अधिक सक्षम है ?

6. अंत में, अनिवार्य शिक्षा की अवधि तय करना एक महत्वपूर्ण मुद्दा है क्योंकि उसका प्रभाव स्कूल प्रबंधन और पाठ्यक्रमों में मूल पाठों के वितरण दोनों पर पड़ता है।

शैक्षिक सुधारों के ध्येय और निर्देश

वे ध्येय जिनमें मेरा स्कूल प्रणाली में सुधारों का कार्यक्रम प्रमुख है, निम्नलिखित पेशकश में संक्षिप्त रूप में अभिव्यक्त हैं :

1. शिक्षा का मर्म ज्ञानार्जन और मूल्य-सृजन की प्रक्रियाओं का मार्गदर्शन प्रदान करना होना चाहिए। छात्रों को पुस्तकों द्वारा ज्ञानार्जन के बोझ तले नहीं दबाना चाहिए। उसके बजाए शैक्षिक साधनों की आर्थिक सार्थकता (विस्तृततम भावार्थ स्वरूप) अपनाने से गतिविधि के दो समानांतर क्षेत्रों में संयोजन संभव है—एक विद्योचित और दूसरा व्यावसायिक।
2. हर स्तर के स्कूल अथवा विद्यालय को वास्तविक जीवन की जरूरतों का पूरक बनाना है। ऐसे सुधार करने हैं जिनसे शिक्षा जीवन में उपयोगी हो सके। स्कूलों को विस्तृत जीवन का अंग बन जाना होगा ताकि हाजिरी को भी थोपना न पड़े।
3. स्नातकों के विशेषाधिकारों को मिटाना होगा। ऐसे कार्यों के लिए जिनको विशेष योग्यताओं की दरकार है, एक विशेष परीक्षा-प्रणाली की स्थापना की जाएगी। इससे केवल तैयारी की शिक्षा समाप्त हो जाएगी और इस तरह यूनिवर्सिटी में प्रवेश का दबाव भी मिट जाएगा।
4. स्कूलों की अंदरूनी शिक्षा का प्रचलन वास्तविक सामाजिक जीवन से संबद्ध होना चाहिए। इससे अचेतन जीवन समाज में जीवन से पूर्णतया चैतन्य रूप से सम्मिलित हो जाएगा। समाज में जीवन से जुड़ी शिक्षा से सुयोजित जीने के लाभ हासिल होंगे। इससे यंत्रचालित एकसमानता के अवांछनीय प्रभाव भी नहीं पड़ेंगे, जो मानक शिक्षा में निहित एक खतरा होता है।
5. शिक्षा को व्यक्ति की आवश्यकता की पूर्ति करनी है, विशेषाधिकारों वाले वर्ग अथवा असाधारण योग्यता वाले व्यक्तियों का पक्षपात किए बिना। यानी विशेष रूप से, सार्वजनिक शिक्षा को समान अवसर की भावना से अपना दामन शोषित वर्गों तक पहुंचाना चाहिए, नहीं तो वे प्रति-उत्पादी व्यवहार की ओर उन्मुख हो सकते हैं।
6. शैक्षणिक प्रविधियों का अध्ययन करते रहना पड़ेगा ताकि सतत बेहतर शैक्षिक कुशलता सुनिश्चित की जा सके।

7. शैक्षणिक प्रशिक्षण सुविधाओं और नॉरमल स्कूलों को ऐसा बनाना होगा कि गुणात्मक शिक्षाकर्मी मिल सकें जो उपर्युक्त शैक्षिक सुधारों का उचित प्रबंधन करने में दक्ष हों।
8. शैक्षिक परीक्षण और पदोन्नति प्रणाली में सुधार लाने होंगे।
9. प्रशासनिक सत्ताओं पर बंधन लगाने होंगे, और शैक्षिक अधिकारों के तहत, स्कूलों की स्वायत्तता सुनिश्चित करनी होगी।
10. विभिन्न प्रशासनिक और नियंत्रण संस्थाओं की या तो काट-छांट करनी होगी, या फिर उन्हें बंद करना होगा।
11. विशेष विवाद-मध्यस्थता एवं सहायक सुविधाओं से अन-अवरोधित शिक्षा के आदर्श की ओर अग्रसर होना होगा।
12. शैक्षिक अनुसंधान के लिए सुविधाएं जुटानी होंगी।
13. शैक्षणिक सामग्री और विधियों का सुधार करना होगा। इसके अलावा शिक्षा के जीवंतीकरण के संदर्भ में, आधे दिन की स्कूल प्रणाली भी मेरे प्रस्ताव का अभिन्न हिस्सा है। अब हम अपना ध्यान उसी पर केंद्रित करते हैं।

आधे दिन की स्कूल प्रणाली

आधे दिन के स्कूल का मूल्य

इस अनुभाग में मैं एक अहम और बुनियादी बदलाव का प्रस्ताव रखूंगा। वह यह है : हमारे विद्यालयों की प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय की क्लासरूम शिक्षा को आधे दिन की प्रणाली में बदल देना चाहिए। यहां मेरा इरादा बहस शुरू करने का है, क्योंकि इस मुद्दे को गंभीर चिंतन की जरूरत है। इस दिशा में उन्मुख होने के गहरे प्रभाव होंगे, और शिक्षा में बहुत बड़ा पुनर्संगठन करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा।

किसी समय यह विचार ईश-निंदनीय जैसा प्रतीत होता और पूरा शैक्षणिक समुदाय इसे आड़े हाथों लेता। इस प्रकार इस विचार को मैंने दस साल से भी अधिक समय तक अपने तक ही रखा। लेकिन अब जमाना बदल गया है। डाक्टरेट की डिग्री बिल्कुल आम हो गई है, और वह किसी दक्षता का दावा नहीं है। वाकई कौन सोच सकता था कि रोजगार के मंदे बाजार में डिग्रियां इतनी बेमानी हो जाएंगी?

इस समस्या के स्रोतों का उद्‌गम हमारी समकालीन शैक्षिक प्रणाली है। जैसे जैसे शिकायतें बढ़ती जा रही हैं, मुझे इस बात पर ही विश्वास होता जा रहा है कि कालांतर में सुधारों के हामी आधे दिन की स्कूल प्रणाली को एक तर्कसंगत समाधान

मानेंगे। वैसे ही उच्च विद्यालय मूल्य-विहीन हैं, और माध्यमिक स्कूल और लड़कियों के स्कूल भी शिक्षा के रूप में अपनी कीमत अदा नहीं करते। व्यावसायिक स्कूल, जो अभी हाल तक शैक्षिक समुदाय के उपहास-पात्र थे, अब अति प्रशंसित और समायोजित समाधान के माध्यमिक स्कूलों का व्यावसायिक स्कूलों में परिवर्तित होने के दिशासूचक हैं। लेकिन वर्तमान शिक्षा प्रणाली में इन माध्यमिक व्यावसायिक स्कूलों के छात्र कहां जाएंगे ? परंपरावादी शैक्षिक समुदाय अगर बदलाव में अवरोध उत्पन्न करे तब भी दैनिक जीवन की वास्तविकताओं से जूझने वाले लोकजन आराम से चुपचाप नहीं बैठे रहेंगे।

आधी सदी की शिक्षा-प्रणाली अब जड़ हो गई है। परिवर्तन होने ही चाहिए। मेरा विश्वास है कि आधे दिन की पद्धति अपना लेना सुधार के लिए सबसे कारगर तरीका है। मेरी नजर में जरूरी बदलावों का प्रारूप निम्नलिखित है :

1. प्राथमिक स्कूल से विश्वविद्यालीय स्तर तक, आधे दिन की प्रणाली में बदलाव कार्यकुशलता बढ़ाने की ओर एक कदम है। यह मान के चला जा रहा है कि इसके साथ शैक्षणिक विधियों में भी सुसंगत सुधार होंगे, जिनके तहत जिस पढ़ाई के लिए पूरा दिन लगता था वह आधे समय में समाहित हो जाएगी। मेरा विश्वास है कि मूल्य-सृजनात्मक शिक्षा में रत प्राविधिक अध्ययन इस समस्या की कुंजी है। किताब में आगे उसका विस्तार है।
2. स्कूल में सुविधाओं और शिक्षाकर्मियों पर राष्ट्रीय निवेश को अव्यय साध्य बनाने के लिए, स्कूल के दिन को दो या तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है ताकि सुबह, दोपहर, और संभवतया शाम के पाठ्यक्रम समा सकें। इसके चलते, ठसाठस भरे हुए स्कूलों में प्रवेश के लिए 'परीक्षा-नर्क' में सुधार भी आएगा। और साथ ही प्रति छात्र लागत भी कम होगी।
3. छात्र अपना बाकी आधा दिन कक्षा के बाहर बिताएंगे, किसी उत्पादक व्यावसायिक गतिविधि में रत। ऐसा वे पैतृक व्यवसाय में कर सकते हैं या उनकी सक्षमताओं के समुचित किसी और कार्य-क्षेत्र में। या फिर उस विशिष्ट क्षेत्र में अध्ययन जो आगे चलकर जीवन-निर्वाह का जरिया बन सकता है। इसके अलावा, स्पष्ट रूप से दक्ष छात्र विशेष विद्योचित क्षेत्र या शारीरिक प्रशिक्षण में शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं। हर रूप में, **ये कार्यक्रम राज्य और निजी नागरिकों दोनों की ही सहकारिता और वित्तीय सहायता से चल सकते हैं।**

इस तरह संभव है कि हम परीक्षा-नर्क का सफाया कर पाएं, और साथ ही

बेकारी का समाधन भी ढूंढ़ पाएं। आधे दिन की स्कूल प्रणाली अलग व्यावसायिक स्कूलों की विलग प्रणाली को समाप्त कर देगी जो फिलहाल समानांतर रूप में कार्य करता है। कारगर रूप से यह शिक्षार्जन को जीवनपर्यंत प्रक्रिया के रूप में परिभाषित करेगा, जो कि सिर्फ युवावस्था तक ही सीमित नहीं होगी। साधारण विद्यालीय और व्यावसायिक प्रशिक्षण सामान्य शिक्षा में हमराही होंगे ताकि स्वस्थ्य दिमाग और शरीर पनप सकें। हमें जो चीज रोक रही है वह है हमारे आधी सदी के दम घोंटने वाले घिसे-पिटे बंधन।

आधे दिन की स्कूल प्रणाली के बुनियादी विचार का सार दोहरा लें। यहां अध्ययन को जीवन की तैयारी के रूप में नहीं देखा जा रहा, बल्कि अध्ययन जीवन के परिसर में सक्रिय है, और जीवन अध्ययन के परिसर में। अध्ययन और वास्तविक जीवन समानांतर नहीं, बल्कि उससे अधिक है। वे एक-दूसरे से एक-दूसरे के संदर्भ में जुड़े हुए हैं : अध्ययन में जीवन और जीवन में अध्ययन। इस तरह देखा जाए तो प्रस्तावित परिवर्तनों का केंद्र स्कूल-कार्यक्रमों का अव्यय साध्य बजट नहीं बल्कि कामकाज के प्रति आनंद और प्रशंसा जगाता है।

ऐसी अवधियां भी होती हैं जब अधिकतर छात्र किताबों के अध्ययन में लीन रहते हैं, शारीरिक कार्यों में रत होने के अवसरों से अलग होकर। इसलिए कोई हैरत नहीं है कि वे कामकाज की ओर नकारात्मक रवैया अपना लेते हैं। इस शिथिलता से लड़ने के लिए स्कूलों को अदक्ष शिक्षा में व्यर्थ समय की कटौती करके उसे आधे दिन की अवधि में बदलना होगा। साथ साथ, छात्रों को इस दिशा में प्रोत्साहित करना होगा कि वे अपने आपको व्यावहारिक निपुणताओं को पाने के लिए एकजुट करें। यह कौशल चाहे पारिवारिक व्यवसाय में हो या विशेष रूप से स्थापित खेत-खलिहानों में, या फिर कारखानों अथवा अतिरिक्त पाठ्यक्रम प्रशिक्षण केंद्रों में। इस तरह शिक्षा दिमाग और शरीर दोनों तक पहुंच पाएगी। ऐसी शिक्षा पूरे व्यक्तित्व के प्रेरक और संवेदी प्रकार्यों का समन्वय करेगी। स्नायविक अव्यवस्था (नर्वस डिसऑर्डर), शिथिलता और उदासी के निर्माण में सहयोग देगी। और इस तरह, वह युवाओं को उत्पादक सामाजिक जीवन में सक्रिय रूप से सम्मिलित होने के लिए आकर्षित करेगी।

दूसरे शब्दों में, कुछ असक्षमताएं जन्मसिद्ध होती हैं—दैहिक अथवा मनोवैज्ञानिक रूप में। इन्हें चिकित्सात्मक समस्याएं समझकर निर्वाह संभव है। लेकिन कुछ असक्षमताएं अनुचित शिक्षा से जन्म लेती हैं—नर्वस सिस्टम पर एक असंतुलित विकास-प्रतिमान थोपने के कारण, जिसके चलते संवेदी स्नायु तो अत्यधिक सक्रिय हो जाते हैं, और प्रेरक स्नायु जड़। इससे अत्यधिक संवेदी स्थिति पैदा होती है, जिसे हम उस उत्पादक स्नायविक ऊर्जा (नर्वस एनर्जी) के रूप में जानते हैं, जिसकी कोई शारीरिक अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। यह एक शैक्षिक समस्या है, और मेजी और

ताइशो कालों (1868-1926) में अत्यधिक विद्योचित पक्ष की विशेष द्योतक है। इसमें क्या अचंभे की बात है, हमने इतनी उदासीन पीढ़ियां पैदा की हैं ! !

मेजी काल (1868-1912) में शैक्षिक सुधारों का सार यह था : सामुराई वर्ग के युवाओं को युद्धकाल प्रशिक्षण की समाप्ति और आम वर्गों को व्यापार में प्रशिक्षणता। इसके बदले, उन्हें दिया गया केवल बौद्धिक और विद्योचित ज्ञान। इसके चलते, बेकार लोगों की एक ऐसी कतार उठ खड़ी हुई जिसकी पारिवारिक व्यवसाय चलाने में रुचि समाप्त हो गई और जो सरकारी 'दिमागों' के रूप में राज्य के खजाने का पुछल्ला बन गई—उनके विघटन पर एक विडंबनापूर्ण टिप्पणी। राजनीति के सावयव पर इससे ज्यादा खराब परजीवी (पैरासाइट) कभी हुए ही नहीं।

आधे दिन की स्कूली शिक्षा को वास्तव में साकार कर पाने का सवाल इतना समस्या भरा नहीं है जितना कि मेजी-शिक्षा के आदी समझते हैं। अगर ये 'दिमाग' यह देखने का कष्ट करें कि आधुनिक काल से पहले स्थिति क्या थी, तो पाएंगे कि आज की तरह स्कूल नहीं होने के बावजूद, बच्चे बस आवारागर्दी नहीं करते फिरते थे। हमारे बड़े-बूढ़े इस तरह की अनुशासनहीनता के हामी नहीं हो सकते थे।

आज जबकि अधिकतर शहरी युवाजन अपना समय बर्बाद करते हैं और श्रम को ओछा समझते हैं, वहीं दूसरी ओर वे अल्पसंख्यक जिन्हें काम करना पड़ता है अपनी स्थिति को लेकर लज्जित रहते हैं। अगर सोचें कि स्थिति इसके विपरीत होती यानी अधिकतर लोगों के पास सार्थक कार्य होता और गिने चुने आलसीजन निष्कासित का दर्जा पाते। सब कुछ कितना अलग होता। इस बात का अहसास हमें कम है कि युवाओं की समाज के जीवन की जानकारी की मात्रा हमारी उन्हें कम में रखने की क्षमता पर निर्भर करती है। आधे दिन के स्कूलों का सुयोजन कर पाने में हमारी मुश्किलें यही दर्शाती हैं कि हम असली मुद्दों से कितने कम परिचित हैं। अगर छात्र वर्तमान में वास्तविक दुनिया में जीने और काम करने के लिए पर्याप्त मात्रा में जिम्मेदार नहीं हैं, तो फिर कब होंगे ?

युवावस्था शिक्षार्जन अथवा सीखने के लिए, सबसे अच्छा काल है। इस अवसर को गंवा दें तो जीवनपर्यंत अभावपूर्ति नहीं हो सकती। इस काल में काम करने की आदत न पड़े तो अधेड़ावस्था में रोजगार बदलते रहने की कठिन स्थिति में रहना पड़ता है। ऐसे व्यवसाय जिनमें विशेष रूप से शारीरिक श्रम की दरकार है, जब चाहा तब नहीं अपनाए जा सकते।

कारोबारी लोगों को इस बात का ज्यादा अच्छा अंदाजा है। अपने लंबे सालों के कठिन तजुर्बों के बाद वे इस नतीजे पर पहुंचते हैं कि स्नातकों को कारगर कार्यकर्ता बना पाना बहुधा असंभव होता है। इन तजुर्बेकार लोगों की इस बात पर सहमति

है कि पुरानी प्रशिक्षु प्रणाली (एप्रेंटिसशिप) ज्यादा अच्छी थी। तर्क यह है कि सबसे महत्वपूर्ण और संवेदी काल को अगर पाठ्यपुस्तकों के अध्ययन मात्र से भर दिया जाए तो व्यावसायिक प्रशिक्षण की जगह ही कहां बचेगी। मुझे यकीन है कि ये वरिष्ठ व्यवसायी मेरा सहयोग देंगे अगर वे इस पर विचार करें कि शीघ्र ही इस समस्या के निर्णयात्मक निदान के बिना, हमारे सामने एक कठिन भविष्य है।

व्यावसायिक संस्थाएं, अभिभावक और स्वयं छात्र आधे दिन के स्कूलों की मांग कर रहे हैं ताकि आर्थिक रूप से जिंदा रह पाने की लड़ाई में लड़ पाने का अवसर तो मिले। वर्तमान पाठ्यक्रम में केवल व्यावसायिक प्रशिक्षण जोड़ देने भर से बात नहीं बनेगी। समस्याएं अब काफी आगे बढ़ गई हैं, यहां तक कि कृषि विद्यालयों के स्नातक भी दफ्तरों में काम करने की सहूलियत के आदी हैं। ऐसा क्यों है ? जापान में पुराने जमाने में पंद्रह साल की उम्र वाले युवा को वयस्क माना जाता था। सामुराई युवाओं को बड़े लोगों में उठने-बैठने की इजाजत होती थी, और आम वर्गों को पूरी तौर पर कामकाज के लिए तैयार माना जाता था। मेरी पीढ़ी तक लगभग यही परिस्थिति लागू थी। यह मान लेने का कोई आधार नहीं है कि आज के युवावर्ग का बल या झुकाव पहले सालों की अपेक्षा से कुछ कम है। तो फिर मां-बाप कोई शर्म क्यों महसूस करें अगर वे अपने बच्चों का पालन-पोषण उनके यूनिवर्सिटी-स्नातक होने तक कर पाने में असमर्थ हैं ? हर गर्मी के मौसम में समुद्रतट युवाओं से भरा रहता है। उन्हें देखकर लगता है जैसे उनके पास विलास के लिए इधर-उधर भागते फिरने से अच्छा कुछ और करने के लिए नहीं है। मुझे चोट पहुंचती है जब मैं अवनति के इन संकेतों को देखता हूं—मगर हाल चारों तरफ एक-सा है। पारंपरिक कार्य नियमों को आखिर हुआ क्या है ?

लड़कियों के पूरे दिन की शिक्षा भी कुछ कम बेमानी नहीं है। क्या लड़कियों की हाई-स्कूल स्तरीय शिक्षा को सबसे पहले घर चलाने के लिए उचित व्यावहारिक प्रशिक्षण पर ध्यान नहीं देना चाहिए ? व्यावसायिक महिलाओं की बात अलग है। मगर क्या यह विरोधाभास नहीं है कि लड़कियों को घरों से बाहर निकाला जाए और गृह-विज्ञान सिखाया जाए ?

रेडियो पर अंग्रेजी पाठ्यक्रम प्रसारित होते हैं। क्या यह बेहतर नहीं होगा कि रेडियो पर प्रसारित होने वाले पाठ्यक्रम गृह-विज्ञान पर हों, और उद्घोषक एक व्यावसायिक-कार्यरत शिक्षाकर्मी। हर सुबह, शारीरिक स्वास्थ्य पर कार्यक्रमों के ठीक बाद, क्यों न देशभर के बच्चे अपनी दादी-नानी के साथ जुड़ें, और घरेलू काम करने की आदत डालें। कालीन पर लेटे लेटे तैराकी के पाठों को सीखने से यह ज्यादा कारगर भी है और दैनिक जीवन से अधिक संपर्क में भी। और यह सिर्फ एक उदाहरण है।

यही वह समय है जब समाज एक संगठित स्वरूप में भटके हुए युवाओं पर दबाव डालकर उन्हें उन गतिविधियों की ओर उन्मुख कर सकता है जो सामाजिक सुधार और व्यक्तिगत सुख की ओर ले जाए। तब भी बहुत से लोग संकोच करेंगे कि हम उस पर कैसे कटिबद्ध हो जाएं जो वर्तमान स्कूल-प्रणाली से एक उग्रवादी छलांग जैसी लगती है। लेकिन जरा सोचें कि पचास साल पहले आज की आधुनिक शिक्षा कितनी उग्रवादी परिवर्तन मानी जाती। अगर उस काल में हमारे पूर्वजों ने सामुराई और संपन्न उच्च वर्गों पर ध्यान केंद्रित करने के बजाए, कृषि, कारीगरी व्यापार में संलग्न आम वर्गों के जीवनों को अपना मुख्य विषय बनाया होता और स्कूली शिक्षा का वही आधार होता, तो नतीजा क्या से क्या होता। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है जो आधे दिन की स्कूल प्रणाली के विचार को एक वास्तविक संभावना के स्वरूप देख पाने में सहायता करें। एक उदाहरण तो उन सैनिक स्कूलों का है जो उस ही अवधि में क्रमिक हाई स्कूल की शिक्षा के साथ साथ विशिष्ट सैनिक प्रशिक्षण देते हैं। दूसरा उदाहरण टोकियो स्पेशल नॉरमल एलिमेंटरी स्कूल (विशेष प्राथमिक स्कूल) का है जिसने आधे दिन और तीन घंटे रात का कार्यक्रम प्राथमिक शिक्षा को पूरा करने के लिए अपनाया हालांकि वह पूर्ण रूप से सफल नहीं हुआ। उसमें साथ साथ कारोबार की बुनियादी जरूरतों और वास्तविक व्यवसाय का प्रशिक्षण भी सम्मिलित था। इस प्रकार गरीब बच्चों को भी स्कूली-शिक्षा छोड़ देने से पहले कुछ मात्रा में आर्थिक स्वतंत्रता अनुभव करने का अवसर मिला। यह मेरी राय में सफलता की कहानी थी। मगर चूंकि शिक्षा मंत्रालय का ध्येय शायद पूरी तौर पर राष्ट्र के हर स्कूल में एक समान शिक्षा का मानकीकरण है, उसे इस तरह का प्रयोग अपवाद ही लगा।

यह विचार केवल ज्यादा सुयोजन, कुशलता और अव्यय साध्य होने की दृष्टि से ही बेहतर नहीं है, जैसा कि हमने अब तक सुझाव दिया है। यह इसलिए भी ज्यादा अच्छी परिकल्पना है क्योंकि यह मानव की संरचना के अनुरूप तत्वों को लेकर गढ़ी गई है। एक नकारात्मक उदाहरण दिया जा सकता है—ऊबे हुए और थके हुए लोगों पर श्रम थोपने से ज्यादा पहले दरजे की अकुशलता अथवा व्ययसाध्यता कुछ भी नहीं होती। आलस्य के आनंद को केवल उत्पादक कार्यरतता के बीच ही अनुभव किया जा सकता है। इसके बरअक्स, एक सतत कार्यरतता की शृंखला तब ही उत्पादक हो सकती है अगर वह शांति के अंतरालों से गुंथी हुई हो। कोई भी जो पांच, आठ या दस साल तक लगातार स्कूल जाता रहा हो, वह एकदम स्वीकार कर लेगा कि यह सब कितना उबाऊ हो सकता है। आधे दिन के व्यावसायिक स्कूलों की सफलता का एक अहम कारण यह है कि इसमें तनाव घटाने और उत्पादकता बढ़ाने के लिए स्नायविक ऊर्जाओं की यथायोग्य अभिव्यक्ति का प्रावधान है। मैं तो यहां तक कहूंगा

कि वयस्कों की दुनिया में भी आधे दिन की कार्य-अध्ययन की प्रणाली में विभाजन लाभप्रद होगा। मेरा अनुमान है कि उत्पादकता ज्यादा अधिक हो जाएगी और छह घंटे प्रतिदिन की कार्य-अवधि उतनी ही पर्याप्त होगी जितनी आठ घंटे की।

व्यावसायिक प्रशिक्षण के मेरे प्रस्ताव में चिंता का विषय यह है कि वह बाल-श्रमिक कानून के आड़े आएगा। इस कानून के अनुसार तेरह साल से छोटे बच्चे काम नहीं करेंगे। मैं यह मानता हूं कि यहां टकराव है। लेकिन अगर हम निहित कारण को देखें तो जाहिर हो जाता है कि कानून की सच्ची भावना को कोई ठेस नहीं पहुंचती है। शारीरिक श्रम पर वैधानिक सीमाएं इसलिए हैं ताकि अत्यधिक मेहनत से बच्चों के दुर्बल शरीरों को कोई हानि न पहुंचे। आधे दिन का प्रावधान न सिर्फ अत्यधिकता से छुटकारा दिलाता है—काम को कुछ ही घंटों तक सीमित रखकर, बल्कि साथ साथ यह सकारात्मक हित करता है कि जीवन के सबसे महत्वपूर्ण काल में विद्यार्जन के साथ व्यावसायिक हुनर का भी समन्वय हो। इसका कानून की मूल भावना से तारतम्य है क्योंकि यह युवाओं के हितों की रक्षा करता है। और इसलिए प्रत्यक्ष है कि यह सही दिशा में एक कदम है।

व्यावसायिक शिक्षा कार्यक्रमों की कमियां

आधे दिन के स्कूल के पक्ष में इतना कुछ कहने के बाद, यह शायद अजीब-सा लगे कि मैं तथाकथित व्यावसायिक शिक्षा के पक्ष में नहीं हूं। मैं बात स्पष्ट करना चाहूंगा। पहली नजर में, हाल ही में स्कूलों में व्यावसायिक शिक्षा का प्रचलन किया जाना वास्तविक जीवन के ज्ञानार्जन की कमी को पूरा करता हुआ लगता है। इसके बावजूद, मैं शिक्षाकर्मियों के व्यावसायिक कार्यक्रमों की केवल प्रदर्शनात्मक प्रविधि पर एतराज करता हूं क्योंकि ये स्वांग के अलावा कुछ भी नहीं हैं। सूट और टाई से लैस शिक्षक चाहे कितनी तत्परता से भी छात्रों को उस काम की जानकारी दे जो कारखाने के चोगों में किया जाता है, नतीजा बस एक सजी-सजाई नकल के जैसे ही होगी।

इसके अलावा रोजगार ढूंढ़ना स्नातक बनने के बाद की ही गतिविधि रही, तो नियोजन पर दबाव शायद कभी समाप्त नहीं होगा। कारोबारों में राष्ट्रव्यापी अवनति इसी बात का संकेत है कि मेजी और ताइशो काल में व्यावसायिक शिक्षा को अनदेखा किया गया।

व्यावसायिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने का आह्वान समय की रफ्तार से सुस्त है। समकालीन शिक्षा-प्रणाली की भावना के अंतर्गत दी गई व्यावसायिक शिक्षा कारोबारों को और शिथिल कर देगी। कारण एकदम प्रत्यक्ष हो जाता है जब हम वास्तविक व्यावसायिक शिक्षा के सबसे नजदीकी उदाहरण यानी स्कूलों में कृषि शिक्षा

की असफलता पर निगाह डालते हैं। कृषि के अधिकतर स्नातक क्या कृषि-प्रशिक्षण केंद्रों अथवा खेतिहरों की संस्थाओं में दफ्तरी सहायक बनकर नहीं रह जाते ? और ऐसा क्यों ? क्योंकि स्कूली शिक्षण उनमें वास्तविक काम के लिए अरुचि पैदा कर देता है।

लेकिन फिर भी कोई ध्यान देता हुआ नहीं लगता। कोई भी इस बात का पता नहीं रखता कि वास्तव में क्या होता रहता है। पता नहीं लोग इस बात पर मासूमियत से क्यों यकीन कर लेते हैं कि अगर छात्रों को व्यावसायिक स्कूलों में भेजा जाएगा तो वे स्वाभाविक रूप से ही काम में दिलचस्पी पैदा कर लेंगे। इस प्रकार कारोबारों को बढ़ावा दे पाने की समस्या का एक सरलीकृत समाधान यह दिखाई पड़ता है कि और ज्यादा व्यावसायिक स्कूल स्थापित किए जाएं। ऐसा लगता है कि दफ्तरशाही इस तरह के अल्प-कारणों में बहुत विश्वास रखती है।

मेजी काल से जो व्यावसायिक स्कूलों में झटपट बने हुए कारोबारी होने वाले थे, उनमें से कितने लोग वाकई उत्पादन से सीधे संबंधित हैं और मूल्य स्थापना कर पाए हैं ? तथ्य यह है कि वे श्रम-प्रबंधन के कार्य में रत हैं। अब तक तो खैर शायद चलन स्वीकार किया जा सकता था मगर यदि यही चाल चलती रही तो आखिर होगा क्या ? यह सोचकर मैं डर जाता हूं।

यहां भी कृषि के स्कूल इस बात के परम उदाहरण हैं कि वास्तव में हम रास्ता कहां भटके। इस विषय पर मैं कृषि के वरिष्ठ सिद्धांतवादी कोजुई ओतानी का कृतघ्न हूं। शिक्षा के भविष्य के बारे में उन्होंने विचारोत्तेजक अंतःदृष्टि प्रदान की है। उनका निष्कर्ष है कि अंततः जब तक जमीन और मानवीय श्रम विद्यमान हैं और तीसरा तत्व यानी, कृषि की तकनीक, संतोषजनक रूप से विकसित नहीं होती, "कृषि में प्राविधिक अध्ययन को बढ़ावा देने से ज्यादा अच्छी कोई और योजना नहीं हो सकती।"[12] एक हद तक तो यह बात सच है, मगर शैक्षिक दृष्टिकोण से सिर्फ यही काफी नहीं है। यह उसी मान्यता की पुष्टि करता है जिसकी बिना पर ही कृषि स्कूल स्थापित किए गए थे और कृषि की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया था। मगर यहां पर अनिवार्य तत्व तो दिखता ही नहीं है--और वह तत्व है व्यावहारिक क्षेत्र-भूमि में कार्य। इसलिए इसमें कोई हैरत नहीं है कि सिवाय श्रमिक-प्रबंधन से एक क्षीण संबंध के अलावा, इन स्कूलों के स्नातकों की वास्तविक श्रम के प्रति कोई कटिबद्धता नहीं है।

समकालीन व्यावसायिक शिक्षा में एक और कमी भी है। वह यह है कि बचपन और युवावस्था के केवल एक पहलू पर क्रमिक रूप से ध्यान केंद्रित करके, इसने अन्य महत्वपूर्ण पहलुओं को अनदेखा कर दिया है। यानी, ध्यान इस पर ही केंद्रित है कि धनार्जन कैसे किया जाए, मगर इस प्रशिक्षण पर कि धन का उपयोग

कैसे किया जाए कोई विचार नहीं किया गया है। इसमें कोई शक नहीं कि निचले वर्गों में शिक्षा की बड़ी मांग को यह शिक्षा पूरी करती है ताकि जीविका-संबंधी तात्कालिक महत्वपूर्ण मुद्दों पर मदद हो सके। लेकिन सिर्फ लाभ की ओर दृष्टि रहे तो खतरा है। स्वतंत्र और आत्मनिर्भर बन जाने की जल्दी के कारण, मां-बाप के निरीक्षण और मार्गदर्शन की गुंजाइश नहीं बचती। इस तरह जब युवाजन अपने पैरों पर खड़े होते हैं तो वे व्यावसायिक रूप से पूर्णतः सक्षम होते हैं मगर कुछ और अधूरे और व्यक्तिगत रूप से अपरिपक्व रहते हैं। इस प्रकार वर्तमान प्रणाली का आम नतीजा होता है ऐसे व्यक्ति जो दूसरों के प्रति अमानवीय रूप से कठोर और उदासीन होते हैं।

4. शैक्षणिक प्रविधि

शैक्षणिक प्रविधि के प्रमुख मुद्दे

तर्कहीन व्यक्तिवाद बनाम क्रमिक सार्वभौमवाद

आम लोगों ने नियंत्रित शिक्षा की कमियों और सीमाओं को हाल ही में समझना शुरू किया है। मगर एक अति से दूसरी अति की ओर चले जाने के कारण, दिए जा रहे अधिकांश प्रस्तावित समाधान ज्यादा लाभप्रद नहीं हैं क्योंकि शिक्षार्जन प्रक्रिया संबंधी धारणाओं पर सवाल नहीं उठाए गए हैं। खास तौर पर वैयक्तिकता के मुद्दे पर किया जा रहा चिंतन अस्पष्ट और भ्रमित रहा है। इसलिए प्राथमिक अवधारणाओं का गहराई से पुनःपरीक्षण कर, हमें नए सिरे से शुरुआत करनी होगी।

मान लीजिए कि वैयक्तिकता वह विशिष्टता है जो हर 'स्वयं' का 'अन्य' से भेद करती है। यह ऐसी विशिष्टता है जो पारस्परिक रूप से प्रतिकूल और अपरिचित है। इसके चलते हमें हर उस विज्ञान को खारिज करना होगा जो यह मानकर चलता है कि प्रमाणों की एक परंपरा चली आ रही है जिससे पूरी मानवता परिचित है। शिक्षक रूपी 'अन्य' को विद्यार्थी रूपी 'स्व' तक पहुंचाने का प्रयत्न असंभव है, हालांकि यही प्रक्रिया शिक्षा है। फिर भी शिक्षा को अमान्य घोषित कर सकने वाला यह विरोधाभास, वैयक्तिता के बारे में दायित्वहीन बातें करने वालों को परेशान करता हुआ नहीं लगता।

शिक्षा के एक नए संप्रदाय का तो एकमात्र नारा ही यह जान पड़ता है कि 'व्यक्ति का सम्मान करो' और 'नियंत्रण को ध्वस्त करो।' इस संप्रदाय के झंडे तले, अनुभवहीन शिक्षकों की बिना शर्त स्वीकृति के, कीर्तन गाए जा रहे हैं। यह कहां ले जाएगा ? मशीनी नियंत्रण की निंदा करने के बावजूद, वे विकल्प रूप में मौजूद व्यक्तिवाद के परिणामों को नहीं समझ पा रहे। ऐसी हालत में अंधा ही अंधों को राह दिखा रहा है। वे आगे जाने के बजाए पुराने दुश्चक्र में ही फंसे हुए हैं। समाज की उपेक्षा करके व्यक्ति पर ज्यादा जोर देने का यह सिलसिला जब बेअसर साबित हो जाएगा, तब व्यक्ति की उपेक्षा करके, एक बार फिर निरंकुश यंत्रचालित

सामंतवादिता की प्रभुत्वता होगी। ऐसा कोई सबक नहीं सीखा गया होगा कि हम लोगों का समग्र अध्ययन करें और उन गुणों को छांट लें जो कुछ ही लोगों में पाए जाते हैं। ये गुण गौण और गैर-जरूरी हैं। साथ ही हम अपना ध्यान 'स्व' तथा 'अन्य' के साझे गुणों पर केंद्रित करें और इन साम्यताओं के विधान को शिक्षा पर लागू करें।

क्या सामान्यता और वैयक्तिकता परस्पर अपवर्जक हैं ? अगर यह प्रश्न असमंजस में डालता है तो मैं भी परिप्रेक्ष्यों को बदल देता हूं। क्या हम आदम-जात के परे वैयक्तिकता की तलाश कर सकते हैं ? अगर हां, तो यह अमानवीय वैयक्तिकता कैसी होगी ?

इसका सीधा जवाब है कि वैयक्तिकता की चाहे जितनी भी प्रशंसा की जाए, मनुष्य-जाति के बाहर इसका पालन असंभव है। यानी इसका अनुसरण स्वयं की चेतना और मानव-जाति की स्वतः स्वीकृत सदस्यता के संदर्भ में ही किया जा सकता है। यह समझ लेने के बाद साफ हो जाता है कि पूरी मानवता को ही वैयक्तिकता की तलाश है। एक साझे आधार के बगैर 'स्व' और 'अन्य' का अंतर एक काल्पनिक अहंवाद है जो दूसरों की पहुंच से बाहर है। हमें इससे सरोकार रखने की कोई जरूरत नहीं है। गंभीर शैक्षणिक चर्चाओं में इस तरह की वैयक्तिकता का तो जिक्र तक नहीं होना चाहिए।

फिर भी, अगर यह बहस जारी रहती है कि आज की नियंत्रित शिक्षा ने वैयक्तिकता के विकास को रोका है तो वैयक्तिकता के सुनहले अतीत को जानने के लिए शिक्षा पूर्व के दिनों की ओर देखने भर की देरी है। हम जानते हैं कि यह सच नहीं है। शिक्षा ही ने पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन नई संभावनाओं को प्रस्तुत किया है जो पहले नहीं थीं। कम से कम इतना तो साफ है कि आनुवांशिक वैयक्तिकता एक जैविक तथ्य है जिसे शिक्षा, समाज या माता-पिता जैसे बाहरी प्रभावों द्वारा ज्यादा बदला नहीं जा सकता। बाहरी दबाव से केवल सतही नियंत्रण ही कायम किया जा सकता है। व्यक्तियों के मौजूद रहते हम बाध्य हैं कि भिन्नताओं को पैमानों या मात्रा के रूप में देखें, भिन्नताएं जो एकता में अनेकता का प्रतिनिधित्व करती हैं। किंतु विडंबना ही है कि इस किस्म की वैयक्तिक भिन्नता की पहचान किसी समूह या सामाजिक इकाई विशेष के भीतर ही की जा सकती है। यह और भी स्पष्ट हो जाता है जब दुर्खीम कहते हैं कि समाज में श्रम विभाजन का उदय समूह की आवश्यकताओं के फलस्वरूप होता है, व्यक्ति की अलग दिखने की आकांक्षा के कारण नहीं। सामाजिक मांगों को प्राथमिकता दी जाती है। इसके बाद ही लोग अपनी व्यक्तिगत रुचियों के अनुसार इस ढांचे में शामिल होते हैं। जाहिर है, हर कोई अपनी मनमर्जी करना चाहता है लेकिन पहले जिदंगी की जरूरतों को निपटाना पड़ता है। व्यक्तियों को ऐसे समाज का सदस्य होना चाहिए जो श्रम विभाजन में

सक्षम हो और इस तरह सदस्यों को कमियों से बचाए। तब बुनियादी तौर पर यह कहा जा सकता है कि समाज अपने ही मंगल के लिए श्रम-विभाजन का बीड़ा उठाता है और शिक्षा समाज के सदस्यों को उनकी श्रेष्ठतम भूमिकाओं तक ले जाने का एक साधन है।

चर्चा को इतनी दूर तक ले आने के बाद, वैयक्तिकता संबंधी अपने नजरिए को स्पष्ट करने का मेरा आग्रह शायद अनावश्यक लगे। लेकिन अगर शिक्षा को अबाध वैयक्तिकता और सार्वभौम वैज्ञानिक पद्धति जैसे विरोधाभासों के समकालिक अनुसरण से बचाना है तो वैयक्तिकता के साथ उदार शिक्षा की तुलना बंद करनी होगी। हमें चीजों पर अच्छी तरह विचार करके तर्कसम्मत तरीके से व्यवहार्य शिक्षण प्रविधियों तक पहुंचना होगा। ऐसा करते वक्त एक ही बात का शांतिपूर्वक ध्यान रखना होगा कि शिक्षार्जन की व्यक्तिगत प्रेरणाएं अवरुद्ध न हो रही हों।

शायद यह पुरानी कहावत इस आदर्श को सबसे बेहतर ढंग से अभिव्यक्त करती है, "एक सामान्य मानव जीव एक व्यक्तिगत श्रेष्ठता से युक्त"। इस बात के अनुसार वैयक्तिकता परिपाटी से एक विशेष लक्षण में निहित है। ऐसी कमी जो समाज के अन्य सदस्यों पर बोझ बन जाती है, समाज उस किस्म की व्यक्तिगत भिन्नता को नष्ट कर देना चाहता है। अतः शैक्षणिक सिद्धांत की दृष्टि से वैयक्तिकता दो प्रकार की होती है : एक, जिसे शिक्षा प्रसारित और प्रचारित करना चाहती है, दूसरी, जिसे वह रोकना और ठीक करना चाहती है।

यहां यह गौर करना चाहिए कि जिन्हें भी 'बंधनहीन' स्वाभाविक अवस्था में छोड़ दिया जाता है वह समाज द्वारा स्वीकृत सबल गुणों को विकसित करने के बजाए उन कमियों से ग्रस्त हो जाते हैं, जिन्हें समाज मिटा देना चाहेगा, हम सब में ये कमियां हैं। इसलिए जब वैयक्तिकता को शैक्षणिक प्रविधियां विकसित करने का आधार बनाया जाए तो मुख्य ध्यान बेतरतीब वैयक्तिकता कम करने पर होना चाहिए। इस प्रतिरूप में शिक्षा की शुरुआत बेलगाम वैयक्तिकता के सामान्यीकरण से होती है लेकिन अंततः अतिसामान्य का दर्जा हासिल कर लेती है। यह पूछने के बजाए कि वैयक्तिकता को किस प्रकार उभारा जाए, यह ज्यादा जरूरी है कि व्यक्तिगत संभावनाओं को एकांगी दृष्टि से परे वृहद मानव समग्रता की ओर ले जाया जाए। वैसे भी व्यक्ति-केंद्रित शिक्षण से शुरुआत करने का अर्थ है ऊपर से नीचे की ओर काम करने की कोशिश, बाहरी तनों से धड़ तक पहुंचने का प्रयास वर्तमान गतिरोध से मुक्त होकर शिक्षा में अपने गंतव्य तक पहुंचने का कोई तरीका नहीं है। यह हसीन ख्वाब देखने के अलावा और कुछ भी नहीं है। अपने साझी मानवता का विस्तार करने के लिए एक विस्तृत आधार स्थापित करने के बाद ही हम वैयक्तिकता को बढ़ावा देने की बात करने योग्य बन सकेंगे। इसीलिए हमें नियमबद्ध तरीके से आगे बढ़ना चाहिए। और इसकी न्यूनतम मांग यह है कि हम शेखचिल्लीपन

को निकाल बाहर करें और अपना सारा ध्यान उन चीजों पर केंद्रित करें जिन्हें क सकना संभव है। ऐसा न होने पर, यथार्थ और आदर्श की खाई को पाटा नहीं जा सकता है। दुर्भाग्यवश, शैक्षणिक प्रविधि के प्रति वैज्ञानिक नजरिया अपनाने में सबसे बड़ी बाधाएं स्वयं शिक्षक ही खड़ी करते हैं। एक घटना का हवाला देता हूं। एक बार जब मैं टोकियो में नौजवान शिक्षकों के एक समूह को मूल्य-सृजन शिक्षा के सिद्धांत पर भाषण दे रहा था तो सभा में से किसी ने चौंका देने वाला प्रश्न पूछा, "क्या आप वाकई यह सोचते हैं कि शिक्षा के सार्वभौमिक सत्यों को एक ढांचे के रूप में स्थापित किया जा सकता है ?" और इसमें संदेह नहीं कि प्रश्नकर्ता शैक्षणिक सिद्धांत के तर्क को गंभीरतापूर्वक समझने की कोशिश कर रहा था और संगोष्ठी में मौजूद अन्य लोगों की अपेक्षा इस तलाश के प्रति उसकी अधिक निष्ठा थी। संगोष्ठी के दूसरे लोगों के मन में भी शायद वही शंकाए थीं, लेकिन वे बोलने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे थे। मैं तो हतप्रभ रह गया, लेकिन मैं यह जानता था कि इस प्रश्न का ठोस और तत्काल उत्तर देना होगा। उदारवादी शिक्षा के तथाकथित हिमायतियों का वैयक्तिकता की श्रेष्ठता में अडिग विश्वास था और उस प्रश्न से इसी की बू आ रही थी। मैंने प्रश्नकर्ता से पूछा, "क्या आपको कभी सर्दी हुई है" और "क्या तब आप डाक्टर के पास नहीं गए।" दोनों का जवाब 'हां' था। "क्या तब आपने चिकित्सा विज्ञान में मौजूद सार्वभौमिक लागू किए जा सकने वाले सत्य को स्वीकार नहीं किया ? तो फिर शिक्षा के क्षेत्र में इस तरह के सत्यों पर आप क्यों शंका करते हैं।" ऐसी कई घटनाएं याद आती हैं और यह शायद इस बात का सूचक है कि तर्कपूर्ण ढंग से स्थापित आधारों के बल पर शिक्षा देने के विचार को सर्वग्राह्य बनाने के लिए हमें अभी भी काफी रास्ता तय करना है।

शिक्षा की परिभाषा गढ़ना

आत्म-ज्ञानोदय या जबरन थोपा गया ज्ञान ? सूचनाओं का संकलन करना या दिलचस्पी पैदा करना ? इनमें से किसको रखना है ? शिक्षक ठूंस सकते हैं या सजग बना सकते हैं, ज्ञान की बातें बता सकते हैं या शिक्षार्जन प्रक्रिया की रहनुमाई कर सकते हैं। हम क्षेत्र-दर-क्षेत्र अकादमिक पहलुओं पर ध्यान केंद्रित कर सकते हैं या मानव-चरित्र का चुनिंदा विकास करने की सोच सकते हैं। लेकिन हम जिसे भी चुनेंगे वह स्कूली व्यवस्था के सुधार ही नहीं बल्कि शिक्षा के प्रति हमारी पूरी अवधारणा को रूपायित करने वाला एकमात्र महत्वपूर्ण कारक सिद्ध होगा।

बड़ी अजीब बात है कि खुले तौर पर कोई भी जबरन थोपी गई शिक्षा की वकालत नहीं करेगा। लेकिन अगर शब्द-विन्यास को 'ज्ञान का हस्तांतरण' में बदल दें तो कई लोग इसका साथ देंगे। इसी तरह, इससे पहले कि हम में से कोई इसे भांप पाता, प्राथमिक विद्यालयों से लेकर विश्वविद्यालयों तक की पूरी जापानी शिक्षा

ने तथ्यात्मक ज्ञान के स्तर को ही एकमात्र मापदंड मान लिया। इस स्तर को नापने का पैमाना परीक्षा है जो 'उत्तीर्ण' और 'अनुत्तीर्ण' जैसे निर्णय देती है। यह स्थिति और भी निंदनीय हो जाती है जब हम यह ध्यान करते हैं कि हम मानसिक क्षमता की बात कर रहे हैं जो तरल या गैसयुक्त पदार्थ जैसे पूरी तरह एकजुट है, जिसे ठोस पदार्थों की तरह अलग अलग करके विश्लेषित नहीं किया जा सकता।

जैसे कि पहले चर्चा की जा चुकी है, हरबार्ट ने पहले-पहल इस स्वीकृत धारणा को चुनौती दी कि दिलचस्प शैक्षणिक तरीकों का इस्तेमाल ज्ञान बढ़ाने के लिए ही किया जाना चाहिए। उसने माना कि जहां तक संभव हो, सूचनाओं का संप्रेषण दिलचस्पी पैदा करने के लिए करना चाहिए। फिर ऐसा क्यों है कि हरबार्टीय अध्ययन के विकास के तीस साल के बाद भी शैक्षणिक हलकों में हरबार्ट का जिक्र कभी-कभार ही किया जाता है ? ऐसा क्यों है कि अनेकानेक नीति परिवर्तनों के बावजूद हम आज भी जबरन थोपी जाने वाली सोच के बोझ तले दबे हैं ? अगर शिक्षा की सही भूमिका शिक्षक से विद्यार्थी तक ज्ञान पहुंचाने की है, तब तो शैक्षणिक प्रविधि को लेकर चिंतित होने की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि ऐसी स्थिति में शिक्षकों का काम बच्चों को किताब प्राप्त करवाने तक ही सीमित होगा। लेकिन अगर शिक्षा का उद्देश्य छात्रों में रुचि पैदा करना है तब शिक्षक की भूमिका मुख्य रूप से शिक्षार्जन प्रक्रिया को दिशा-निर्देश देने की होगी। और, ऐसे में रुचि क्या है और इसे कैसे उभारते हैं जैसी तकनीकी समस्याओं से जूझना पड़ेगा।

मानवता की प्रगति तथा संस्कृति के विकास के साथ साथ, ज्ञान के भंडार में उत्तरोतर बढ़ोतरी हो रही है। लेकिन छात्र जीवन तो बहरहाल एक समय-सीमा से बंधा रहेगा। चाहे कितनी भी कोशिश की जाए, विकास की रफ्तार से चलने की आशा नहीं की जा सकती। एक चीज जो हम कर सकते हैं वह यह कि हम अपनी योग्यता इस तरह संवारें कि जरूरत पड़ने पर अपनी शक्ति का इस्तेमाल कर सकें। दूसरे शब्दों में, हमें हरबार्ट का नजरिया अपनाना चाहिए—यानी सूचना संग्रह को ही शिक्षा का मुख्य ध्येय नहीं समझना चाहिए बल्कि लोगों में वह जिज्ञासा पैदा करनी चाहिए जिससे वे खुद जानकारी हासिल करना चाहें।

शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान का हस्तांतरण नहीं है। इसका ध्येय शिक्षार्जन प्रक्रिया को दिशा-निर्देश देना है, अध्ययन की जिम्मेदारी छात्र के हाथों में सौंपना है। यहां सूचना की दुकानदारी नहीं है, यहां लोगों को ज्ञान के खजाने की चाबी सौंपी जाती है। यह अपनी बुद्धि या मेहनत का इस्तेमाल किए बगैर दूसरों द्वारा इकट्ठी की गई बौद्धिक राशि की लूट नहीं है, यह लोगों को खोज एवं आविष्कार की राह दिखाती है। कोमेनियम और पैस्तालॉजी के जमाने से ही हमारे जैसे शिक्षकों के कान में यह शब्द गूंजते रहे हैं, किंतु इन पर अमल किया जाना बाकी है। शिक्षा जीवित परिवेश के बीच मूल्य ढूंढ़ने का काम करती है। इस क्रम में वह हमारे जीवन को परिचालित

करने वाले भौतिक और मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को खोज निकालती है और इन्हें वास्तविक जीवन पर लागू करके नए मूल्य रचती है। कुल मिलाकर यह अवलोकन, आकलन और प्रयोग जैसे गुणों का दिशान्वित अर्जन है।

अतः अगर किसी के पास ज्ञान के खजाने की चाबियां हैं तो पुस्तकों के अनंत पन्ने रटे बगैर उसे वह सारा ज्ञान हासिल हो जाता है जिसकी उसे जरूरत है। आजकल छपाई और प्रकाशन का बड़ी तेजी से विकास हुआ है। ऐसे में अच्छी आकलन शक्ति होने से खुद-ब-खुद जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इसके अलावा, श्रम-विभाजन भी काफी विकसित हुआ है। ऐसे में कौन-सी सूचना कब काम आ जाए कहा नहीं जा सकता। गैर-जरूरी और मामूली सूचनाओं के ढेर तले दबने की कोई जरूरत नहीं है। हो सकता है, हमें कभी भी इनकी आवश्यकता न पड़े।

सामूहिक ज्ञान संप्रेषण का विचार, शिक्षक का प्रतिमान गढ़ने की प्रतिभा का सिमट कर रह गया। अगर शिक्षक का अनुकरण किया जाता है तो यह बेहतर होगा कि ज्ञान की प्रतिमूर्ति या पका-पकाया उदाहरण बनने के बजाय, वह व्यावहारिक शिक्षा या शैक्षणिक पद्धति का जीता-जागता आदर्श बने। शिक्षक को उत्साही बनने के बजाय शिक्षा की निरंतर प्रक्रिया का प्रतिनिधि बनना चाहिए। नहीं तो, शिक्षा अहंकारपूर्ण दिखावे और आत्मतुष्टि में परिवर्तित हो जाती है, और छात्रों को अपने प्रवाह में बहा ले जाती है। शिक्षक को विद्यार्थियों के सामने विनम्र होना चाहिए। शिक्षक को ज्ञान के एक ही मार्ग पर अलबत्ता थोड़े आगे चलने वाले बुजुर्ग राहगीर की तरह छात्रों का पथ-प्रदर्शन एवं उत्साहवर्द्धन करना चाहिए। यह नहीं कि उसे एक पकी-पकाई वस्तु देकर यह कहा जाए 'यह लो, इसका प्रयोग करके देखो'—यह भ्रांति है कि शिक्षक पकी-पकाई वस्तु दे सकता है। यह अत्यंत निम्न कोटि का दंभ प्रदर्शन होगा।

अतः जिन शिक्षकों को अपने सही ध्येय की कोई जानकारी नहीं है, उन्हें जल्द से जल्द अपने आप को शिक्षार्थी के रूप में देखना होगा और दूसरों के साथ अपने संबंधों को, पथप्रदर्शक सहयोगी के रूप में देखना होगा। इन मूलभूत अवधारणाओं को सही ढंग से न समझ सकने के कारण ही शिक्षा में वर्तमान गतिरोध पैदा हो गया है। मानव संसाधनों को विकसित करना अत्यंत कठिन कार्य है। शिक्षा की सरल और अपूर्ण समझ लेकर उन्हें विकसित करने का प्रयास मानो कंपास लिए बगैर समुद्र की यात्रा पर निकल पड़ने जैसा था।

शिक्षक और ज्ञानार्जन प्रक्रिया के संबंधों में जिन प्रमुख बातों का ध्यान रखना चाहिए, उनका सार कुछ इस प्रकार है :

1. **शिक्षक कहीं और से अर्जित की गई सस्ती और घटिया सूचनाओं के खुदरा विक्रेता नहीं हैं, उन्हें छात्रों को उनकी पढ़ाई और दैनिक जीवन**

में दिशा-निर्देश देने वाले चिंतन-विशेषज्ञ के तौर पर काम करना है।

2. तकनीशियन और कलाकार भौतिक संसाधनों से लाभ लेते और सौंदर्य के भौतिक मूल्यों की संरचना करते हैं। वहीं शिक्षक मानव संपत्ति के आध्यात्मिक विकास और प्रसार से जुड़ा हुआ है। वह चारित्रिक मूल्य गढ़ने में इंसानों की सहायता करता है और यही आगे चलकर भौतिक मूल्य गढ़ते हैं। अतः शिक्षा सर्वोच्च कोटि की प्रौद्योगिकी की कला का स्थान ग्रहण करती है।
3. यह बड़ी सरलीकृत अवधारणा है कि शिक्षक विद्यार्थियों के सामने एक पूर्ण उत्पाद या ध्येय-स्थापक होता है। शिक्षकों को इस धारणा को तोड़ कर अपने विशिष्ट अध्ययन को आगे बढ़ाने का अथक प्रयत्न करना होगा और तार्किकता की सतत तलाश में छात्रों को भी शामिल करना होगा। शिक्षकों को आत्म-महत्ता के उच्च शिखर से नीचे उतरना होगा।
4. शिक्षकों को अपने सिंहासन से उतरकर सेवा करनी होगी, वे अनुकरणीय प्रतिमान नहीं हैं बल्कि प्रतिमान को लागू करने में संलग्न सहयोगी हैं।
5. शिक्षकों को तथ्य परोसने का काम पुस्तकों पर छोड़ देना चाहिए और विद्यार्थी के शिक्षार्जन अनुभवों में सहयोगी की भूमिका निभानी चाहिए।

कई शिक्षक यह नहीं तय कर पाते कि वे अपनी पढ़ाई कैसे करें। वे भला छात्रों को क्या पढ़ना सिखाएंगे ? जिन शिक्षकों के ज्ञानार्जन के ढर्रे का अनुकरण नहीं किया जा सकता वे आदर्श प्रतिरूप कैसे बनेंगे ? शिक्षकों को कक्षा के सामने खड़ा होने का कोई अधिकार नहीं है, अगर वे खुद ज्ञानोपार्जन का अर्थ नहीं जानते।

शैक्षणिक प्रविधियों पर किए गए अध्ययन

पृष्ठभौमिक प्राविधिय अध्ययन

सोचने का कोई महत्व नहीं है अगर हम सही ढंग से नहीं सोच सकते। अगर हम नहीं जानते कि किस प्रकार सोचा जाए तो यह कोई विशेष अर्थ नहीं रखता कि हम क्या सोचते हैं। मूर्तियां गढ़ने के पहले मूर्तिकार अपने उपकरणों को ठोक-बजा लेता है। इसी तरह, बुआई करने के पहले किसान भी खेतों की निराई-जोताई कर लेता है। इसी तरह, बच्चों को शिक्षा देने के तरीकों पर विचार करने के लिए एक खास बुनियादी दृढ़ता की जरूरत है ताकि चीजों को ठीक तरह से नापा-तोला जा सके। इसके बगैर, हमारा अनुसंधान एक अर्थहीन बहस बनकर रह जाएगा जिसमें एक राय दूसरी राय के मुकाबले खड़ी हुई होगी।

जैसा कि हमने पहले देखा है, बोध और मूल्यांकन में भ्रांति को लेकर कई खास खतरे होते हैं विशेषकर जब दूसरे को पहले स्थान पर रखते हैं। कई बार

ऐसा होता है कि लोग अपनी भावनाओं के कारण तर्कहीनता को नहीं समझ पाते, या बोध और मूल्यांकन में भेद नहीं कर पाते। तथापि तर्कहीनता में भी एक सामान्य नियमितता होती है।

एक आम चलन यह है कि हम अपने प्रिय झुकावों का ही साथ देते हैं। विपरीत संकेतों के बावजूद हम तथ्यों को जांचने की कोशिश नहीं करते या उन्हें अनदेखा कर देते हैं। यही नहीं, हम तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रमाण पेश करते हैं। यह रवैया शिक्षार्जन के लिए बाधक है। सोचने और सीखने के लिए विचारों और रायों को सुनना ही नहीं बल्कि उन्हें अपने अनुभवों से जोड़कर देखना चाहिए। हमें दूसरे भी बहुत कुछ दे सकते हैं। जब हम उनकी ओर के दरवाजे को बंद करते हैं तो हम अपने ही विकास को सीमित करते हैं।

दूसरी जो गलती होती है, वह इसके ठीक विपरीत तरीके से। हमें जो कुछ भी बताया जाता है, उसे हम बिना सोचे-समझे आदतन मान जाते हैं। जब हम किसी सरकारी निर्देश को या दूर-दराज की जगहों की खबरों को बिना सोचे-समझे स्वीकार कर लेते हैं तो यह आदत बड़ी समस्याप्रद बन जाती है।

तीसरे प्रकार की गलती की व्याख्या करने के लिए मैं एक अमेरिकी हरबार्टवादी चार्ल्स दी गार्नो की रचनाओं में उल्लिखित एक मजेदार घटना का हवाला देना चाहूंगा। एक बार एक रेलगाड़ी फ्रांस जा रही थी। उसके एक डिब्बे में एक जर्मन समाचार संवाददाता और एक अमेरिकी आमने-सामने बैठे थे। अमेरिकी ने जर्मन को ऊपर से नीचे देखा और अपनी पत्रिका में कुछ लिखने लगा। जर्मन ने भी उसकी देखा-देखी अपनी पत्रिका में कुछ लिख डाला। उस रात वे एक ही सराय में ठहरे और उनमें परिचय बढ़ा। तब उन्होंने एक-दूसरे को अपनी टिप्पणियां पढ़ाईं। अमेरिकी ने लिखा था, ''गर्मी और पसीने के बावजूद जर्मन अपना ओवरकोट पहने रखते हैं।'' जर्मन ने लिखा था, ''अमेरिकी जब अपने विषय को परख रहे होते हैं तो उनकी पेंसिल उनके होठों पर आ जाती है।'' दोनों खुलकर हंसे और उन टिप्पणियों को मिटा दिया। पूरी सूचना इकट्ठा किए बगैर, गैर-जरूरी लक्षणों को आधार बनाकर एक सामान्य वक्तव्य दे देने के जो खतरे हैं यह घटना उसी को दर्शाती है।

एक चौथा तरीका तीसरे तरीके का अनुप्रमेय है। इसमें एक मामले के निष्कर्षों को परिस्थितियों की मूलभूत समानता के बगैर दूसरे मामले पर भी लागू कर दिया जाता है। ''दूध का जला छाछ को भी फूंक-फूंककर पीता है'', यह उक्ति यहां प्रासंगिक है। जैसे कोई गंवई शहर आए और ठगे जाने के एक दुर्भाग्यपूर्ण अनुभव के बाद किसी भी शहरी पर विश्वास न करे।

इसके अलावा एक पांचवां तरीका है। जब घटनाएं हमारे आम अनुभव या रोजमर्रा की जिंदगी से जुड़ी हुई नहीं होती हैं तो हम उन्हें नकारने की कोशिश करते हैं। अपने पूर्वाग्रहों के कारण हम सच्चे सबूतों को अनदेखा कर देते हैं और

कभी-कभार तो इन प्रमाणों को पेश करने वाले लोगों पर शक भी करने लगते हैं। सांप्रदायिक विवादों में इस किस्म से विरोधाभास पैदा होते हैं। कोई निर्णय देने से पहले उन पर वस्तुनिष्ठ ढंग से विचार कर लेना आवश्यक है।

और अंततः जब चीजें हमारी समझ और विश्वास से काफी आगे निकल जाती हैं तो हम आत्म-औचित्य के पुराने तरीके को अपना लेते हैं। हम 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली नीति अपना लेते हैं, सिर्फ इस डर से कि बराबरी का दर्जा देकर विरोधी मत का उल्लेख करना भी उसे वैधता प्रदान करना है।

वजह चाहे जो भी हो, उन सबका परिणाम एक होता है। हम अपने सीमित ज्ञान के आधार पर निराधार अवधारणाओं की भावात्मक वकालत करते हैं। हम अपने दायरे से बाहर निकलकर वास्तविकताओं को नहीं देख पाते। निजी घाटे और लाभ की सोच हमारी आंखों पर पर्दा डाल देती है। हम या तो हर तथ्य को अनदेखा करते हैं या अपनी सुविधा के अनुसार सूचना चुन लेते हैं और बाकी को फेंक देते हैं।

पिछले अनुभव और वर्तमान मानसिक परिवेश के संकुचित दायरों से बाहर निकलकर हम चाहे जितना भी पूर्वानुमान लगा लें, आगे पड़ने वाले अज्ञातों के असीमित विस्तार का सही-सही अंदाजा नहीं लगा सकते। किसी अप्रशिक्षित के सतही पूर्वानुमानों को खारिज कर देना सरल है लेकिन इस यथार्थ को स्वीकार करना आसान नहीं है कि वैज्ञानिक प्रमाणों के ठोस समूह पर आधारित अनुमान भी गलत सिद्ध हो सकते हैं। महान विद्वानों ने बार बार दुहराया है कि इस अज्ञात, अथाह समुद्र में, मानव ज्ञान का कुल योग एक बूंद के बराबर है। फिर भी, संकल्पना के माध्यम से ज्ञान का थोड़ा बहुत विस्तार हुआ है। ठोस और यथार्थपरक वैज्ञानिक नजरिए ने इस ज्ञान को और भी अर्थवान बनाया है। इसके अभाव में हम एक छोटी-सी तयशुदा काल्पनिक दुनिया में हमेशा क्षुद्र भावात्मक आकलन करने में अभिशप्त होते। हम अपने बारे में बढ़-चढ़कर सोचते अगर हमें यह न पता होता कि हमें कितना कम आता है।

आकलन के मानदंड और वैज्ञानिक पद्धति से जुड़ी सच्ची विनम्रता के साथ यह ख्याल रखना होगा कि हम अपने आपसे आगे न निकल जाएं। ग्राम में भार तौलने की तराजू में किलोग्राम का वजन नहीं तौला जा सकता है। सब कुछ बहुत बारीकी से करना होगा। सामान्यीकरण की अपनी बनी-बनाई धारणा को तोड़ फेंकना आसान नहीं है। मैं यह मानकर चलता हूं कि आलस्य और आत्म-समर्थन जैसी मानव कमजोरियां जल्द ही मुद्दों को ढंक लेंगी। हालांकि, एक विद्वान की साख के लिए इससे ज्यादा घातक कुछ नहीं हो सकता। कोई बहाना नहीं बनाया जा सकता। हमें अपनी पूर्वधारणाओं का जड़ से सफाया कर देना होगा।

अब तक शिक्षाविदों का यह मानना था कि शैक्षणिक प्रविधियों के उभरने

के लिए केवल बच्चों के स्वभाव की जानकारी का अध्ययन ही काफी है, काश्तकारी की भांति। इसलिए, बहुत सारे शिक्षाविद बाल मनोविशेषज्ञों का दामन थामने के लिए आतुर रहे हैं। इस नजरिए से कुछ हासिल क्यों नहीं हुआ है ? क्योंकि यह गलत विषय का अध्ययन है, क्योंकि इसकी तलाश गलत जगह पर की जा रही है। अगर बच्चों को समझाने से ही शिक्षा की समझ आ जाती तो यह सोचने की बात है कि तब माता-पिता ही सर्वश्रेष्ठ शिक्षक होते। आखिरकार, बच्चों को माता-पिता से अधिक कौन जानता है ? फिर भी, अधिक लाड-दुलार उंडेलने वाले माता-पिता के अनुकरण से बचना चाहिए।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक बढ़ई का उदाहरण लेते हैं। अगर किसी पद्धति को समझने के लिए अपने द्वारा बनाई जाने वाली वस्तु के भीतर केवल झांकने भर की जरूरत होती तो लकड़ी के बारे में सबसे अच्छी जानकारी रखनेवाला बढ़ई ही सबसे अच्छा कारीगर होता। ऐसा ज्ञान बेकार नहीं है मगर यह पूरी तस्वीर भी नहीं पेश करता। ज्यादा महत्वपूर्ण है हर किस्म की लकड़ी का उत्तम उपयोग करने वाली उम्दा कारीगरी। यहां शिक्षक और माता-पिता दोनों ही के लिए एक सीख है। अगर हम सुबह से शाम तक भी अपने बच्चों पर नजर रखें, तब भी कुछ नहीं हाथ लगने वाला। यहां उनके भूखे मस्तिष्कों पर ध्यान देना अधिक महत्वपूर्ण है। यह देखना जरूरी है कि उनके मानसिक क्रम में ऊर्जा की आवश्कता कहां है। यह बताने की जरूरत नहीं है कि इसे व्यावहारिक तौर पर लागू करना कितना मुश्किल है। तीन हजार से भी अधिक वर्षों से यह जरूरत महसूस की जा रही है। लेकिन हम अभी तक इस जरूरत को पूरा करने वाले दिशासूचक सिद्धांत नहीं गढ़ पाए हैं। अभी तक ऐसा कोई आसान तरीका नहीं है जिसके माध्यम से अनुभवहीन नौजवान शिक्षक परिपक्व विशेषज्ञता प्राप्त कर सकें। सबसे अच्छा तरीका तो यह होगा कि हम शिक्षाविदों की पिछली सफलताओं के उदाहरण इकठ्ठे करें और देखें कि उन्होंने पिपासु मस्तिष्कों को किस प्रकार पोषण प्रदान किया। इन उदाहरणों की अपनी असफलताओं से तुलना करें और इस प्रकार अपनी कोशिशों को और बेहतर बनाना सीखें।

इसका मतलब है कि हमें अपने अध्ययन का केंद्रबिंदु बदलना होगा। बच्चे के बजाए हमें यह समझना होगा कि प्रत्येक बच्चे की क्षमता को विकसित करने के लिए शैक्षणिक सामग्री को सफलतापूर्वक और विभिन्न तरीकों से किस प्रकार इस्तेमाल किया जा सकता है। किसी जमाने में अनुभवी शिक्षकों की कक्षाओं का अध्ययन-दौरा करना उचित रहता। लेकिन आज की तारीख में शैक्षणिक सामग्री के वैज्ञानिक सर्वेक्षण के जरिए यह जानकारी बड़ी सुगमता से और कम लागत में प्राप्त की जा सकती है। अगर कोई इससे बेहतर तरीका जानता है तो मैं उसके बारे में जानना चाहूंगा।

अब हमें सबसे पहले अपने उद्देश्य का जायजा लेना होगा। और आलोचनात्मक मानदंडों को पैना करना होगा। अपने तरीकों के हरेक तत्व का विश्लेषण करना होगा ताकि यह तय किया जा सके कि वे हमारे साध्य के अनुरूप हैं या नहीं। और इस प्रकार कारणता के बुनियादी नियम बनाने होंगे। दूसरों को पढ़ाने के तरीके ढूंढ़ने के लिए, शिक्षकों को स्वयं अपने ज्ञानार्जन के तरीके ढूंढ़ने होंगे। और, जैसे कि पहले संकेत दिया गया है जब सबसे संगठित तरीका मिल जाएगा तो बच्चों को दिशा-निर्देश देने के लिए वही तरीका सही जान पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, सत्य की खोज के लिए शिक्षकों को वैज्ञानिक रीति अपनाने पर विचार करना होगा और अपनी खोज के आधार पर वैज्ञानिकों की तरह आगे बढ़ना होगा।

इसके बावजूद, वैज्ञानिक पद्धति में काफी विभिन्नता निहित है। अब अंतःप्रेरित निगमन और प्रायोगिक उद्‌गमन को ही लें। पारंपरिक रूप से अंतःप्रेरित निगमन मानक विज्ञानों की एकांतिक पद्धति थी। प्राकृतिक विज्ञानों में यही भूमिका प्रायोगिक उद्‌गमन की थी। यह ध्यान में रखते हुए कि शिक्षा में सिद्धांत और व्यवहार दोनों शामिल होने चाहिए, यह संदिग्ध हो जाता है कि दोनों में से कोई एक दृष्टिकोण अकेले ही पूरी शिक्षा को निर्देश देने में सक्षम है। इस दुविधा से ग्रस्त युद्धोत्तर जर्मन शैक्षणिक समुदाय अनेक दिशाओं में बंट गया ताकि अधिक से अधिक चीजें शामिल की जा सकें। इसकी तीन मुख्य धाराएं हैं। व्यापक पद्धति, जिसमें पहले यथार्थ को समझा जाता है और फिर इसके इर्द-गिर्द एक परिकाल्पनिक ढांचा रचा जाता है। दूसरी, द्वंद्वात्मक पद्धति, जिसमें यथार्थ को विरोधात्मक दृष्टि से समझने की कोशिश की जाती है। और तीसरी, प्रत्यक्ष-ज्ञानवाद पद्धति, जो ऊंचे धरातल से व्यवहार और सिद्धांत दोनों का अवलोकन करती है और इन प्रयत्नों में समन्वय पैदा करती है।[1] यह कहने की जरूरत नहीं है कि इनमें से कोई भी पद्धति अपने आप में पूर्ण नहीं है, अतः वर्तमान में इनको आधार बनाकर शिक्षा की कोई व्यवस्था स्थापित नहीं की जा सकती। ये सारे खंडित प्रयास हैं; निर्णयात्मक और संपूर्ण नहीं।

एडवर्ड स्प्रैन्गर[2] ने मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य से जुड़े शैक्षणिक मुद्दों के लिए व्यापक पद्धति अपनाई थी। उनकी राय में यह पद्धति या तो व्याख्यात्मक सिद्धांतों की खोज तक सीमित है, या फिर तात्कालिक यथार्थ से एक आगमनात्मक विभिन्नता तक। इसके अलावा वह किसी भी चीज का अर्थ, वृहद समग्र से उसके संबंधों के परिप्रेक्ष्य में ही समझती है। व्यापक पद्धति विशुद्ध प्रायोगिक निगमन से इस अर्थ में भिन्न है कि यहां वस्तु से अधिक वस्तु की प्रस्थिति का महत्व है—मूल्यों की संपूर्ण व्यवस्था में एक संघटन तत्व की प्रस्थिति के स्वरूप। यहां हम यथार्थ के बुनियादी दृष्टिकोण पर मूल्य संरचना को आरोपित होता हुआ देखते हैं।

दूसरी पद्धति में, विरुद्धों का संश्लेषण करके सत्य की खोज की परिकल्पना स्थापित होती है। यह मूल्य संरचना का अधिक सफल तरीका जान पड़ता है। लेकिन

ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से देखने पर इस पद्धति में विचार शृंखला यथार्थ को समझने वाली योजना के समकक्ष ही लगती है।

प्रत्यक्ष-ज्ञानवाद वास्तविक विषयों का विश्लेषण करता है ताकि उनके साभिप्राय मौजूदगी में निहित आधिभौतिक वस्तुपरकता को स्वैच्छिक घटना के रूप में पेश किया जा सके। वस्तुपरकता और वास्तविक अस्तित्व का विश्लेषण करने के कारण यह द्वंद्वात्मक पद्धति के सदृश लगती है। लेकिन यह विश्लेषण सामंजस्य स्थापित करने तक ही सीमित रहता है। संबंधों को समन्वयकारी परिकाल्पनिक ढांचे में रखकर देखने की कोशिश नहीं करता।

जर्मन शैक्षणिक दर्शन के संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह बात तत्काल साफ हो जाती है कि अध्ययन वस्तु तय करने के विषय में विद्वान स्वयं असमंजस में हैं। उनके पास वो मूल्य नहीं हैं जो यह बता सकें कि अध्ययन में किसे वरीयता मिलनी चाहिए। विपरीत रूप से कहें तो उन्हें पता नहीं है कि अपने शोध के जरिए वे किसकी सहायता करेंगे। अतः उनके प्रयास पहले पग की भांति हैं, शैक्षणिक प्रविधियों के लिए मंजिल नहीं। फिर भी, वे मौजूदा शिक्षा-व्यवस्था को लेकर मूलभूत सवाल तो उठाते ही हैं। यह विद्वता अगर केवल विद्वता के प्रदर्शन के लिए होती तो हानिरहित हो सकती थी। मगंर शिक्षाविदों ने इस प्रकार की परिकल्पना को मान्यता दी है। जाने-अनजाने वे उन मुकामों पर पहुंच गए हैं जिनका शिक्षाकर्म से कोई सरोकार नहीं। उन्होंने विद्वान विशेष की निजी रुचियों से परिचित होने के लिए ही ऐसा किया न कि अपने काम से संबद्ध नियमों एवं सिद्धांतों को जानने के लिए। मैं ऐसा इसलिए कह रहा हूं क्योंकि इस तरीके से कोई भी महत्वपूर्ण शैक्षणिक खोज हमारे सामने नहीं आई है। यानी ऐसा नहीं हुआ है कि किसी विद्वान ने पहले एक प्राक्कल्पना पेश कर दी और शिक्षाविदों ने उस पर आधारित कोई महत्वपूर्ण नियम खोज निकाला। वस्तुतया हमेशा हुआ यह है कि शैक्षणिक सुधार के लिए नए विचार शिक्षाविदों के वास्तविक अनुभवों से ही उपजे हैं। केमिनियम, पैस्तालॉजी या अन्य किसी शिक्षा-सुधारक ने प्रमुख खोज करने के लिए विद्वज्जन की आराधना नहीं की। वास्तविक अनुभव से क्षणिक अंतर्दृष्टि तो मिल सकती है या पूरी दुनिया को प्रभावित करने वाली खोजें भी की जा सकती हैं, लेकिन व्यवहार में उन्हें प्रस्फुटित कर पाना विरली बात ही है। हरबार्टीय अध्ययन में आई तेजी ने भी स्कूली शिक्षा को बहुत कम ही प्रभावित किया। अधिकांश शिक्षाविदों को हरबार्ट के विचारों की समझ न के बराबर है। वे उसके सिद्धांतों की थोड़ी बहुत औपचारिक नकल भले ही कर लें, लेकिन इन्हें भी कालांतर में भुला दिया जाएगा। मैं पहले भी यह कह चुका हूं और फिर दुहराउंगा : शिक्षकों को विद्यालय में जिन शैक्षणिक सिद्धांतों की शिक्षा दी जाती है उनका व्यावहारिक जीवन से शायद ही कोई संबंध होता है। दार्शनिकों के विचार, आज तक, क्लासरूम शिक्षा पर बमुश्किल लागू हो पाते हैं। बिना इस

मूल्यात्मक दृष्टि के हम किसे लाभ पहुंचाने जा रहे हैं, हम विद्वता को बढ़ावा देते रहते हैं। हमने अपने प्रयासों के साध्य पर अधिक ध्यान नहीं दिया है।

यह अनुभव करने के बाद भी दार्शनिक अध्ययन का मौजूदा तरीका कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। हम अपने पिछले संबंधों को नहीं नकार पाते और न ही शिद्दत से विकल्पों की तलाश करते हैं। इससे मैं यही निष्कर्ष निकाल सकता हूं कि दर्शन के प्रति हमारे अपने आग्रह ने शैक्षणिक अध्ययन को दार्शनिकों के हवाले रख छोड़ा है, और जिन्हें शिक्षाकर्मियों की व्यावहारिक कठिनाइयों की कोई चिंता नहीं है। इसलिए आगत भविष्य में भी स्थिति कोई विशेष सुधरने वाली नहीं है। दार्शनिक और शैक्षणिक सिद्धांतकार मानवीय व्यवसायों में कारणात्मक संबंधों और उससे जुड़ी प्रौद्योगिकी के अध्ययन को स्थगित करते रहते हैं। इसलिए मेरा यह मानना है कि जब तक हम उनका अध्ययन व अनुकरण करते रहेंगे, शैक्षणिक प्रविधि के उन दिशा-निर्देशक सिद्धांतों की स्थापना टलती चली जाएगी जिसका शिक्षाकर्मियों को बेसब्री से इंतजार है।

मानव प्रयास के हर क्षेत्र में, जैसे ही लोग किसी कर्म की ओर प्रवृत्त हुए उससे जुड़ी तकनीक की एक परंपरा भी विकसित हो गई। ऐतिहासिक काल के पहले से ऐसा होता आ रहा है। इसके मुकाबले, वैज्ञानिक शोध काफी बाद में, बल्कि हाल में ही, आया। अतः यह मानना गलत है कि प्रौद्योगिकी का अस्तित्व प्रायोगिक विज्ञान के रूप में है। नवागत पीढ़ियों को मौजूदा प्रौद्योगिकी से रू-ब-रू कराने का सबसे आसान तरीका यह जान पड़ता था कि जिन सिद्धांतों पर ये प्रौद्योगिकी आधारित हैं उनकी व्याख्या कर दी जाए। यही कारण है कि वर्तमान शिक्षा ने इस चक्करदार प्रक्रिया का सहारा लिया है। पुराने जमाने में ऐसा नहीं होता था, क्योंकि गुरु-शिष्य परंपरा की अगणित कड़ी में व्याख्याओं को आखिर के लिए छोड़ दिया जाता था। सच पूछिए तो, आनुमानिक परंपरा, अगर उसे ऐसा कहा जा सकता, विचारों के इतिहास के बहुत बड़े हिस्से के विरुद्ध जाती है।

तकनीक तो गुरु से शिष्य तक पहुंच जाती थी लेकिन तकनीक-शास्त्र विश्लेषणात्मक विज्ञान के सिद्धांतों का निगमन नहीं करता बल्कि मौजूदा तकनीक की नवीनतम पेशकश के तुलनात्मक आकलनों से ज्ञान को व्यवस्थित करता है और साथ ही साथ उनके ऐतिहासिक विकास की समीक्षा करता है। इसके बाद इन तकनीकों में निहित सत्यों के प्रमाणों की कठोर जांच भी करता है। तो फिर शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा कब तक चलेगा ? मैंने व्यक्तिगत सोच और उन आकस्मिक सफलता के इक्का-दुक्का मामलों को मान्यता देने के खिलाफ़ हमेशा ही सावधान किया है जिन्हें शिक्षाकर्मी प्रदर्शन वस्तु के तौर पर इस्तेमाल करते हैं। पद्धति और विचारों के क्रमबद्ध विकास के बिना शिक्षा का प्रवाह रुक जाएगा। जैसा कि मैं बार बार दुहराता रहा हूं, जीवन के समस्त तकनीकी विज्ञानों में शिक्षा संभवतया सबसे जटिल है क्योंकि

यह स्वयं मानव जीवन की प्रगति के प्रति समर्पित है। यह भी तय है कि इसके मार्ग में कई भटकाव आएंगे जिन्हें भावी विद्वानों के सुधार और पुनर्मूल्यांकन की जरूरत पड़ेगी।

बेतरतीब और विषयपरक निरंकुश मूल्यांकन बर्दाश्त नहीं किए जा सकते। नए विचारों को नियमबद्ध प्रयोग का अवसर मिलना चाहिए। इन्हें अस्थायी रूप में मान लेना चाहिए लेकिन किसी निर्णय पर पहुंचने के पहले विश्वसनीय परीक्षाओं से इनकी जांच करनी होगी। अगर वे सही साबित हुए तो अच्छी बात है, लेकिन अगर उनमें कोई कमी पाई गई तो असफलता के कारणों का श्रमसाध्य विवेचन जरूरी होगा। भाग्य पर कुछ भी नहीं छोड़ना है, न ही आकस्मिक निर्णयों को मान्यता देनी है। यहां केवल शिक्षा के प्रविधि पक्ष की चर्चा की जा रही है। यह तो हम मानकर चल ही रहे हैं कि शैक्षणिक उद्देश्यों को मानव स्वभाव के मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्ष ज्ञानवादी अध्ययन से उद्घाटित साझी मानवीय आकांक्षाओं पर आधारित किया जाएगा।

इस अनुभाग को समाप्त करते हुए मैं दुर्खीम को उद्धृत करना चाहूंगा। शैक्षणिक प्रविधि के अध्ययन में मैंने जिस दृष्टि का उपयोग किया है, यह उद्धरण उसी की पुष्टि करता है। मैंने शैक्षणिक तथ्यों के बजाए शैक्षणिक तकनीकों का अध्ययन किया है। पर्यवेक्षण, तुलना एवं वर्गीकरण के द्वारा इनमें तर्कसंगत कारणत्व के नियम ढूंढ़ने की कोशिश की है।

"नीतिशास्त्र अपने सिद्धांतों का किसी प्रागनुभाविक मूल से पैदा होने का दावा तो नहीं कर सकते। लेकिन जीवविज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और ऐसे ही एक या अनेक अनुमोदक विज्ञानों से उद्धृत किए जाने के कारण वे अपनी नीतियों पर वैज्ञानिक होने का लेबल जरूर लगाना चाहते हैं। मेरे चुने हुए तरीकों में ऐसा कुछ भी नहीं है। मैं विज्ञानों से आचार उद्धृत नहीं करना चाहता, बल्कि एक नैतिक विज्ञान की संरचना करना चाहता हूं। इन दोनों विचारों में रत्ती भर समानता भी नहीं है।[3]

शिक्षाकर्मियों की पद्धति में मनोवृत्ति का महत्व

किसी जमाने में यह माना जाता था कि शिक्षाकर्मियों का काम तो एक विषय-सामग्री के रूप में सूचना को गले उतारने भर का है, शिक्षा अपने आप हो जाएगी। अब वे दिन लद गए। अब हम यह समझने लगे हैं कि शैक्षणिक सामग्री का उपयोग विद्यार्थी की आत्म-ज्ञानार्जन प्रक्रियाओं को निर्देश देने में है और यही शिक्षा का सार है। जैसा कि हम जानते हैं, इसके लिए अनेक प्रविधियों का संयुक्त अध्ययन करना पड़ेगा। लेकिन अगला कदम लेने से पहले बल्कि दूसरों को पढ़ाने के तरीकों की चर्चा करने के पहले हमें एक बात गांठ बांध लेनी चाहिए। जैसा कि जॉन ड्यूई

ने कहा था, स्व-अध्ययन के प्रति शिक्षक का अपना दृष्टिकोण उसके शिक्षाकर्म की कारगरता की पूर्व घोषणा कर देता है।

अगर ऐसा ही है तो शैक्षणिक प्रविधि का अन्वेषणात्मक अध्ययन बहुत हद तक शिक्षकों की कर्मनिष्ठा पर निर्भर करेगा। एक अति स्वीकृत मान्यता के अनुसार अगर किसी में सच्ची निष्ठा और लगन है तो पढ़ाने के तरीके स्वयं ही आ जाते हैं। वे पैस्तालॉजी को इसकी सबसे बढ़िया मिसाल मानते हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि इस दावे में कुछ सचाई तो है, लेकिन हमें इस तथ्य को अनदेखा नहीं करना चाहिए कि सबसे निष्ठावान शिक्षक की भी गलत दिशा अपनाने की संभावना है। पैस्तालॉजी सचमुच में निष्ठावान थे, पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वे अपनी प्रखरता की तीव्रता मात्र से ही संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने शैक्षणिक पद्धति जैसे कठिन अनुशासन के अध्ययन में भी उसी प्रखरता का जीवनपर्यंत उपयोग किया। कहने का अर्थ यह नहीं है कि शिक्षक के चरित्र या निष्ठा को उपेक्षित कर देना चाहिए। सच तो यह है कि किसी भी तरह की प्रगति का आधार और हमारी सारी आकांक्षाओं का मूल भी वही है। मगर इस निष्ठा का सर्वोत्तम आकलन किस तरह से किया जा सकता है ? शुरुआत करने के लिए, मैं इस चार-सूत्रीय मूल्यांकन की पेशकश करूंगा :

1. शिक्षक—जिनकी प्राथमिक प्रेरणा अर्थोपार्जन है।
2. शिक्षक—जिनकी प्राथमिक प्रेरणा रुतबा है।
3. शिक्षक—जिनकी प्राथमिक प्रेरणा शिशु-स्नेह है।
4. शिक्षक—जिनकी प्राथमिक प्रेरणा स्वयं शिक्षा में रुचि है।

पहले वर्ग में उन शिक्षकों को रखा गया है जिनका आधार सबसे निचले यानी केवल एक व्यापारिक प्रेरणा पर आधारित है। शिक्षा जैसे जटिल कर्म के लिए सतत अभ्यास और आग में तपकर सोना बनने की जरूरत है। लेकिन इस तरह के शिक्षक को अपने व्यवसाय में कोई रुचि नहीं होती, बल्कि पैसे की चमक का आकर्षण होता है, जो उसका केवल एक गौण लाभ है। वेतन का घटना या बढ़ना नौकरी के प्रति इनकी निष्ठा तय करता है और ये किसी भी पल नौकरी छोड़ भी सकते हैं। बाल-विकास और उनकी उपलब्धियों के प्रति शिक्षक से इस प्रकार की अपेक्षा नहीं की जा सकती। यह निहायत स्वार्थ-प्रेरित, अहंवादी नजरिया है। इस तरह के शिक्षकों पर भरोसा नहीं किया जा सकता और न ही इनके बलबूते कोई बड़ी योजना बनाई जा सकती है। बल्कि उनकी निपट उदासीनता से माता-पिता और राष्ट्र के हितों को क्षति पहुंचती है। इनकी तुलना में रुतबे और उन्नति की आकांक्षा रखने वाले शिक्षक कहीं अधिक 'सामान्य' जान पड़ते हैं, क्योंकि आज के पूंजीवादी समाज में ख्याति को पूर्णतया नकारा नहीं जा सकता है। फिर भी, अगर वही मुख्य उद्देश्य बन जाए या शिक्षा साध्य से गौण पड़ जाए तो इसका क्या मतलब निकाला जा

सकता है ? क्या यह और भी उदासीन रवैया नहीं है ? आखिरकार अगर वह शिक्षक जो बच्चों के प्रति मानवता-मात्र के जैसे सर्वहित का नजरिया रखता भी है उसे भी तकनीकी रूप से अच्छा शिक्षक बनने के लिए एक लंबी दूरी तय करनी होती है। दूसरे शब्दों में, शिक्षाकर्म के लिए अचल और निरंतर समर्पण चाहिए। इसके बिना शिक्षक की प्रेरणा अधूरी है।

एक प्राथमिक स्कूल के प्रधानाचार्य के रूप में मेरा लंबा अनुभव रहा है। इस अनुभव के आधार पर मैं बड़े दावे के साथ कह सकता हूं कि कला एवं तकनीकी क्षेत्र के कर्मियों की तरह, एक सक्षम और अक्षम शिक्षक की पहचान भी बड़ी आसानी से की जा सकती है। दुर्भाग्यवश शिक्षक प्रशिक्षण और निरीक्षण निकायों को एक बात नजर नहीं आती। वे बस एक व्यापारिक मानसिकता से संतुष्ट लगते हैं। इसीलिए उन्होंने निर्देश जारी करने में कोताही बरती है, जिसके कारण बड़े अयोग्य लोगों को नौकरियों में रख लिया गया है। निजी क्षेत्र के तकनीकी व्यवसायों में तीव्र प्रतिस्पर्द्धा है। लेकिन शिक्षण व्यवसाय पर सरकारी शासन तंत्र की पकड़ इतनी मजबूत है कि सबसे अनुपयुक्त के फलने-फूलने में भी कोई परेशानी नहीं होती। इस कारण बच्चों पर पड़ रहे प्रतिकूल प्रभाव की चिंता किसी को नहीं होती। किसी अनाड़ी कारीगर द्वारा बनाई गई चीनी मिट्टी की कोई बढ़िया वस्तु बाजार तक कभी नहीं पहुंच पाएगी, लेकिन एक अनुपयुक्त शिक्षक की उन्मादी प्रवृत्ति से गढ़े गए अपचारी व्यक्तियों का क्या किया जा सकता है ? ये समाज को केवल परेशान ही करते हैं। शिक्षा मंत्री, राजनीतिज्ञ और शिक्षाविदों सभी ने एकरूप होकर अपनी योजना तय करने में इस उद्देश्य को अनदेखा किया है। अपचारियों को पुनर्वासित करने में भीषण खर्च करने के बजाए क्यों न थोड़ी बहुत रोकथाम कर ली जाए और बच्चों एवं युवाओं पर पड़ने वाले शिक्षक के प्रभाव की ओर थोड़ा अधिक ध्यान दिया जाए ? शिक्षकों में मौजूद हित या अहित की महान संभावनाओं को अनदेखा कर देना समाज के लिए घातक हो सकता है।

शिथिलता उन सभी शिक्षाविदों की शत्रु है जो वास्तविक जीवन में काम आ सकने वाली शैक्षणिक प्रविधि विकसित करने के कायल हैं। सुनिर्दिष्ट और योजनाबद्ध गतिविधियों को आलसी और उदासीन रवैये की जगह लेनी पड़ेगी। हमें उन व्यावहारिक शैक्षणिक सिद्धांतों को स्वीकार करने का आसान तरीका नहीं अपनाना चाहिए जो या तो बाल-मनोविशेषज्ञों द्वारा इकट्ठे किए गए सरल विचारों पर आधारित हैं या फिर वे रोजमर्रा की जिंदगी में घटती-बढ़ती उत्तेजनाओं से उभरे मानसिक कारणों पर आधारित हैं। हम यथार्थ और व्यवहार से दूर दार्शनिक जिज्ञासाओं को कब तक शह देते रहेंगे? ये ऐसे मुद्दे नहीं हैं जिन पर बच्चों के सामने आ जाने के बाद ही विचार करने की शुरुआत की जाए। अगर वे अस्पताल में पहुंचे मरीज होते तो हमारे सामने ही उपचार शुरू करने के पहले ही मर गए होते। विद्वता के प्रति

असीम लगाव के कारण ही भद्रजन अपने विवेक को भूलते जा रहे हैं। असभ्य मानव भी ऐसा नहीं करता था। हमें सफलता पाने के लिए, किताबों को दरकिनार कर, मानवीय तत्वों के 'आदिम पर्यवेक्षण' की ओर लौटना होगा। ऐसा करते समय हम दूसरों का अनुसरण कर सकते हैं। लेकिन जिन शिक्षाविदों को अपने विद्यार्थियों के सामने ज्ञानार्जन के प्रति पूर्णतया समर्पित होने का उदाहरण पेश करने की दृढ़ प्रतिज्ञा लेनी है उनकी दूसरों पर निर्भरता क्यों ? यह शिक्षा की जीवंत छवि है। इसके बगैर किसी भी तरह की कहा-कही बेकार है।

सबसे पहले हम उस शिक्षा पद्धति की तलाश कर रहे हैं जो जल्दी ही अप्रासंगिक न पड़े और रोजमर्रा की व्यावसायिक शैक्षणिक जिम्मेदारियां निपटाने के क्रम में हमें उबाऊ न लगने लगे। अतः तात्कालिक काम यह है कि दैनिक शिक्षाकर्म को अपने अध्ययन का विषय बनाएं। योजनाओं की परिणाम से और प्रभाव के अनुमानों की वास्तविक नतीजे से, लगातार तुलना करनी पड़ेगी। फिर इसे योजना बनाने की नई दिशाओं से जोड़ना होगा। निगमन्य पद्धति पर तैयार की गई यह खरी मूल पुस्तक होगी। और इसके अलावा, सहकर्मियों के समान अनुभवों से तुलना करने की भी गुंजाइश बनी रहेगी, जिससे अपने व्यक्तिगत अनुभव के सीमित दायरे में स्पष्ट न हो सकने वाले कार्यकारण संबंधों का भी खुलासा हो सकेगा।

शिक्षकों को अपनी निजी जिंदगी में भी उन सिद्धांतों और तकनीकों का उपयोग और अनुभव करना चाहिए जिसे वे अपने विद्यार्थियों तक पहुंचाना चाह रहे हैं। एक जरूरी शर्त यह भी है कि हम सूचनाओं की सतही और बेतरतीब जानकारी से बचे रहें। हमारे अध्ययन में गहराई और मर्म होना चाहिए। बाहर से आयातित विचार अपनाने में भी विशेष लाभ नहीं है। जबकि अधिक उपयुक्त सामग्री घर पर ही मौजूद हो। अगर मेरे इस दावे में कोई सच्चाई है कि शिक्षा एक व्यावहारिक विज्ञान है, तब इस बात में दम है कि दर्शन, मनोविज्ञान और अन्य क्षेत्र के शास्त्रों से विचार उधार लेने की मध्यकालीन प्रवृत्ति को त्यागकर सीधे सीधे शैक्षणिक तकनीकों का अध्ययन करना चाहिए। यह तकनीकी उस विद्वता से कहीं अधिक परिष्कृत है।

अगर हम अपने आप पर ज्ञान ही थोपते रहें तो दूसरों की समझ को बच्चों के ऊपर थोपने के सिवाय और क्या कर सकेंगे ? अगर हम अपने ही द्वारा पहल की गई पढ़ाई में रत रहें तो अपने विचारों को सूत्रबद्ध करने की प्रक्रिया ही बच्चों को दिशा-निर्देश देने वाली रूपरेखा बन जाएगी। पैस्तालॉजी भी इस बात पर गर्व करते थे कि अपने तीस साल के शिक्षक जीवन में उन्होंने पढ़ाते समय किताब का इस्तेमाल कभी भी नहीं किया। ऐसा तो है नहीं कि यह किसी आलसी शिक्षक ने उपहास में कहा हो। मैंने ऐसे शिक्षकों की आलोचना तो की जो बगैर सोचे-समझे अधकचरे दार्शनिक विचारों को आत्मसात कर लेते हैं, और अपनी तकनीकों को

अनदेखा करते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरों द्वारा लिखी गई पुस्तकें हमारी स्व-प्रेरित अध्ययन की रहनुमाई नहीं कर सकतीं। जरूर कर सकती हैं। दूसरे शिक्षकों की कक्षाओं में जाकर ज्ञान अर्जित करने की बजाए पढ़कर ज्ञान हासिल करना कहीं अधिक सस्ता पड़ता है। इसके अलावा दूसरे माध्यमों से अर्जित ज्ञान के बजाए पढ़कर हासिल किए गए ज्ञान को अपने अध्यापन में सम्मिलित करने में ज्यादा आसानी होती है। फिर भी, अपने और अपने सहकर्मियों के शैक्षिक अनुभवों के विश्लेषण द्वारा प्रभावशाली शैक्षणिक सिद्धांतों और तकनीकों तक पहुंचने की हमारी कोशिश जारी रहनी चाहिए। हमारा अध्ययन इस खोज का अनुपूरक है, उसका विकल्प नहीं।

मैंने शैक्षणिक प्रविधि के अध्ययन पर विस्तारपूर्वक चर्चा की क्योंकि मैं जोर देकर यह कहना चाहता हूं कि विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए कारगर तरीका ढूंढ़ने के लिए पहली शर्त शिक्षक का स्वाध्ययन है। सीखने या कुछ ग्रहण करने के प्रति अगर विशेष आग्रह नहीं है तो प्रविधि का अध्ययन करने की कोशिश बेकार है।

शिक्षा के सामान्य और विशेष साधन

इस पुस्तक में जिस मूल्य-सृजक शिक्षा का जिक्र है उससे यह पता चला कि जहां ज्ञान थोपने वाली वर्तमान शिक्षा योजनाएं हानिकारक और अक्षम हैं, वहीं मूल्य-सृजक शिक्षा लाभ-हित-सुंदरता को समन्वित कर, लोगों को बेहतर जिंदगी जीने की ओर प्रेरित करती है। वह बुद्धि और भावना जैसी दो असंबद्ध वृत्तियों को अलग अलग संबोधित नहीं करती बल्कि हर छात्र को समग्र रूप में देखती है और उसके सारे क्रियाकलापों के लिए उसे राह दिखाती है। इसके लिए वह शिक्षा के तीनों घटकों से समन्वित कार्यक्रम की सहायता लेती है।

अगर मौजूदा स्कूलों को यह सब करने के लिए कहा जाए तो कई गुना लागत राशि और श्रम की आवश्यकता पड़ेगी। इसके बाद भी यह तय नहीं है कि वे यह काम कर ही पाएंगे। इस संबंध में हमें यह गौर करना चाहिए कि स्कूल, घर या समाज में दी जा रही शिक्षा का एक ही उद्देश्य है—व्यक्ति को जीने की राह दिखाना। अंतर है तो केवल उनके अवधि कालों और साधनों में। जिस जमाने में स्कूल नहीं हुआ करते थे, सामान्य जीवन में समुचित भूमिका निभाने का मार्गदर्शन विस्तृत पारिवारिक जीवन का ही हिस्सा था। नौजवान का अपने पारिवारिक व्यवसाय में प्रशिक्षण होता था, जिसमें स्थानीय समुदाय सामाजिक जीवन की दीक्षा का समावेश होता था। मेजी काल में आधुनिक शिक्षा और उन स्कूलों का विकास हुआ जिनका काम, "तीन आरूज" (पढ़ाई, लिखाई और गणित) के अतिरिक्त, कुछ अन्य विषयों से जुड़ी ज्ञान की बातें बताना था। सभी को जबरदस्ती स्कूल भेजा गया और जल्द ही बाकी दो शिक्षा-परिसरों का चलन समाप्त हो गया। इस जमाने में स्कूल किसी

चुनौती से परे था। वह सर्वव्याप्त था। हाल के वर्षों में ही हमें अपनी भारी भूल का अहसास हुआ है और अनेक प्रकार की पूरक शिक्षाओं और युवा समुदायों के लिए गतिविधियों से रिक्त स्थानों को भरने की कोशिश की गई है।

अब से स्कूली शिक्षा को अपनी शैक्षणिक भूमिकाओं का अहसास होना चाहिए। यानी हर व्यक्ति को उसकी क्षमता से परिचित कराना है और यह बताना है कि वह क्या कुछ कर सकता है। उसे शिक्षा के अन्य दो क्षेत्र, घर और समुदाय और उनकी अपनी विशेषता से सहयोग करना होगा, शिक्षा के समग्र उद्देश्यों की ओर सचेतन रहकर शिक्षा के इन तीनों क्षेत्रों को जोड़कर एक परस्पर संपूरक प्रणाली बनानी होगी।

मैंने इस पुस्तक में पहले आधे दिन की स्कूल प्रणाली का प्रस्ताव रखा था। इसके पीछे यह भावना काम कर रही थी कि काम सीखने के मूल्यवान समय को नष्ट करने वाली कुव्यवस्थित शिक्षा के प्रकोप को कुछ कम किया जा सके। अगर शिक्षा के अन्य दो क्षेत्रों की ओर लौट चलते हैं तो जो कुछ भी उनके क्षेत्र के बाहर होगा, स्कूलों को उसी की शिक्षा देने भर की आवश्यकता पड़ेगी और वह भी आधे दिन में। यह कहीं अधिक कारगर सिद्ध होगा और दूसरे दोनों क्षेत्रों से एक जीवंत संबंध बना सकेगा।

जटिल और लंबी योजनाओं के लिए नियमित क्रम से श्रम-विभाजन की आवश्यकता है; प्रस्तावना पेश करने से लेकर योजना के पूरे होने तक। हर स्तर पर निहित पारस्परिक समझ और सहयोग का विशेष महत्व है :

1. योजना बनाना—शैक्षणिक विद्वान
2. सुसाध्य करना—सरकार
3. प्रबंधन—निजी और सार्वजनिक प्रशासक
4. तकनीकी क्रियान्वयन—शिक्षक
5. आलोचनात्मक मूल्यांकन—शैक्षणिक आलोचक

ऐसा नहीं है कि ये पद हैं ही नहीं या खाली पड़े हैं, लेकिन इनके संबंध प्रभावहीन और असहयोगी हैं। उनकी सोच को एक सूत्र में पिरो देने वाला कोई समावेश सिद्धांत नहीं है। हर कोई अपने तरीके से काम करता है, और दूसरों को शक और द्वेष की दृष्टि से देखता है। इनमें कोई एकता नहीं है। केवल पांचवें पायदान पर पहुंचकर ही किसी प्रकार की पूरी तस्वीर मिल पाती है कि हर कोई क्या कर रहा है।

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूं, शिक्षा के प्रतिरूप का निकटतम प्रतिमान चिकित्सा विज्ञान और उसके अनेक उप-विज्ञानों में मिलता है। अगर शिक्षा को वाकई में मूल्य-सृजन के व्यापक विस्तार को अपने अंदर समेटना है और हर प्रकार की क्षमता को मूल्य-सृजन की ओर प्रेरित करना है तो उसे क्षितिजीय ढंग से अनेकानेक

उपश्रेणियों में बंट जाना होगा और फिर इन्हें ही उर्ध्वाकार ढंग से दक्षता के पदानुक्रम के रूप में व्यवस्थित किया जाना होगा। संक्षेप में, इसका एक सुसंयोजित ढांचा बनाना होगा। ठीक वैसे ही जिस प्रकार अस्पताल में दृष्टि चिकित्सा, दंत चिकित्सा, शल्य चिकित्सा, शिशु चिकित्सा, प्रसूति विज्ञान और अन्य कई विभागों में नर्स, डाक्टर, शोधकर्ता इत्यादि हर स्तर के व्यावसायिक काम करते हैं। इसके साथ ही पश्चिमी औषधि विज्ञान के उन खतरों से आगाह रहना होगा जो रोगी को समग्र रूप से ना देख पाने के कारण उपजते हैं। इस दृष्टि से पारस्परिक पूर्वी औषधि विज्ञान में संभावनाएं हैं।

शिक्षा को औषधि विज्ञान की सहोदरा बनना होगा। औषधि विज्ञान व्यक्ति के जैविक जीवन से ताल्लुक रखता है, वहीं शिक्षा का सरोकार व्यक्ति के संपूर्ण जीवन से है। घर में दी जा रही शिक्षा शारीरिक विकास की राह में पड़ने वाली बाधाओं में निष्क्रिय रूप में रक्षा करती है। सामाजिक और स्कूली शिक्षा मानसिक विकास में सक्रिय सहयोग देती है। और इन सबको सामाजिक जीवन का बुनियादी दायित्व समझना चाहिए यानी मूल्य-सृजन के लिए मानव-संसाधनों का पोषण करने का दायित्व।

शैक्षणिक निर्देशक के विधियों की एक रूपरेखा

अब तक जितनी भी चर्चा की गई, वह एक मायने में प्रस्तावना स्वरूप ही थी। अब मूल्य-सृजक ज्ञान हेतु एक विस्तृत योजना बनाने पर विचार करना चाहिए। इसमें निम्नलिखित बातें शामिल होनी चाहिए :

क. शैक्षिक सामग्री—समस्त प्राकृतिक और सामाजिक वातावरण में शामिल किए जाने वाले विषयों का पूर्ण पुनःपरीक्षण आवश्यक है। यह पुनःपरीक्षण निम्नलिखित प्रश्नों का जवाब ढूंढ़ने की कोशिश करेगा :

1. शैक्षिक सामग्री का क्षेत्र क्या होगा ?
2. इस सामग्री के चयन की कसौटी क्या होगी ?
3. चुनी गई सामग्री को व्यवस्थित करने की कसौटी क्या होगी ?
4. उसे एकीकृत कैसे किया जाएगा?
5. इस तरह एकत्र की गई वस्तुओं को पाठ्य के अनेक विषयों के तहत किस प्रकार शामिल किया जाएगा ?
6. क्या यह शैक्षिक सामग्री, शैक्षिक सामग्री के ऐतिहासिक उद्भव के सिद्धांतों के अनुरूप बैठती है ?

ख. निर्देशित अध्ययन में शैक्षिक सामग्री का कार्यान्वयन :

हम शिक्षकों का ध्यान इस बात पर केंद्रित होना चाहिए कि विद्यार्थियों

पर शैक्षिक सामग्री थोपने के बजाए उनमें स्व-अध्ययन को प्रोत्साहित किया जाए।

1. एक शिक्षक की बुनियाद और शैक्षिक विधियों के ऐतिहासिक विकास क्रम में मेल होना चाहिए।
2. दिए जाने वाले निर्देश में तीन पक्षों को शामिल करना चाहिए—
   अ. अंतर्बोध हेतु निर्देश
   ब. मूल्यांकन हेतु निर्देश
   स. मूल्य-सृजन हेतु निर्देश
3. निर्देशित अध्ययन की प्रक्रियाओं में प्रतिबिंबित शैक्षिक स्तरों पर शोध किए जाने की आवश्यकता है।
4. व्यवहार शिक्षा के साथ-साथ शिक्षा के विकास (या उनके अभाव) की आलोचना की आवश्यकता है।

ग. शैक्षणिक प्रबंधन का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण :

आधुनिक विद्यालयों को एक आदर्श समाज के रूप में देखा जा सकता है जहां आयु एवं अन्य तथ्यों के आधार पर विद्यार्थियों को समूहों एवं उपसमूहों में विभाजित किया जाता है। यहां वे एक तरह का सामुदायिक जीवन जीते हैं। इस प्रक्रिया का एक परिणाम यह है कि आधुनिक शिक्षा में विद्यार्थियों के चरित्र निर्माण में पारस्परिक प्रभाव एक नए शैक्षणिक तत्व के रूप में उभर कर आया है। इस संदर्भ में, शिक्षा की पुरानी परिभाषा—परिपक्व से अपरिपक्व तक ज्ञान का साभिप्राय हस्तांतरण—अब कोई मायने नहीं रखती। अतः अनेक समूहों के विभिन्न पृष्ठभूमि एवं रुचियों वाले सदस्यों को निर्देश देने के लिए नए परिप्रेक्ष्यों की आवश्यकता है। शिक्षकों को इन बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए :

1. कक्षा स्तरों का समाजशास्त्रीय प्रबंधन
2. विद्यालयों का समाजशास्त्रीय प्रबंधन
3. विद्यालयों का संवैधानिक निरीक्षण

सामान्य स्थितियों में सक्षम समझे जाने वाले तरीकों से परे समस्यात्मक शिक्षा (प्राब्लम टीचिंग) के लिए प्रविधियां बनाई जानी चाहिए। दूसरे शब्दों में, हमें सामान्य और विशेष समस्त साधनों से लैस होना चाहिए।

क. विद्यार्थी के विकास के स्तरों के अनुसार शिक्षा के प्रकार :
   1. प्राथमिक शिक्षा
   2. माध्यमिक शिक्षा
   3. उच्च शिक्षा

ख. विद्यार्थियों की सामान्यावस्था के अनुसार शिक्षा के प्रकार :

1. सामान्य शिक्षा

अ. श्रेष्ठ विद्यार्थी
ब. साधारण विद्यार्थी
स. निम्न विद्यार्थी

2. विशेष शिक्षा
अ. विकलांग विद्यार्थी
ब. क्षतिग्रस्त विद्यार्थी (इम्पेयर्ड)
स. अविकसित विद्यार्थी (रिटार्डेड)
1. पुरुष विद्यार्थी
2. स्त्री विद्यार्थी
3. सह-शिक्षा

घ. शिक्षा के विभिन्न परिवेश
1. विद्यालय की स्कूली शिक्षा
2. घर में दी जाने वाली शिक्षा
3. समाज में दी जाने वाली शिक्षा

ङ सामान्य एवं केंद्रीकृत नजरियों पर आधारित शिक्षा के प्रकार :

1. सामान्य शिक्षा—इसका उद्देश्य समग्र व्यक्तित्व को विकसित करना है।

2. प्रौढ़ शिक्षा, नागरिक शिक्षा—इसका उद्देश्य व्यक्तित्व के विशेष पहलुओं को विकसित करना है।

च. विभिन्न पाठ्यक्रमों की विशिष्ट प्रवृत्तियों के अनुसार शिक्षा के प्रकार : इतिहास, भूगोल जैसे पाठ्यक्रम के विभिन्न विषयों को पढ़ाने हेतु आवश्यक तरीकों की भिन्नता।

अब हमें विशेष या उपचारपरक शिक्षा (रेमेडियल एजुकेशन) पर सूक्ष्म रूप से विचार करना चाहिए। यह अत्यंत नाजुक विषय हो सकता है क्योंकि किसी को यह अच्छा नहीं लगता कि दूसरे लोग उसकी कमियों का खुलासा करें, खासतौर पर मानसिक कमियों का। जन्मजात लकवा, जन्मजात लंगड़ापन आदि शारीरिक रोगों को किसी जमाने में लाइलाज समझा जाता था। आज उनका इलाज संभव है। मानसिक और भावनात्मक विकार अधिक समस्याकारक हैं। जैसे शारीरिक विकलांगता के लिए कृत्रिम अंग या अन्य भौतिक साधनों की व्यवस्था है, इनके लिए ऐसा कुछ नहीं किया जा सकता क्योंकि इस प्रकार की समस्याएं व्यक्ति के जीवन का अभिन्न हिस्सा होती हैं। फिर भी जीवन क्योंकि मानसिक जीवन भी है, यह मान लेने की कोई वजह नहीं है कि शारीरिक असमर्थताओं की तरह मानसिक और भावात्मक रोगों का उपचार संभव नहीं है। यहां सबसे मुख्य तत्व यह है कि ठीक होने की तीव्र इच्छा अथवा यह विश्वास होना कि मैं ठीक हो सकता/सकती हूं। इसके अभाव

में सबसे दक्ष और विख्यात चिकित्सक भी कुछ नहीं कर सकता। अगर इच्छा न हो तो लाभ होना बड़ा कठिन हो जाता है। होता भी है तो गति बड़ी धीमी रहती है। लेकिन अगर दूसरों के प्रयासों को व्यक्ति की अपनी इच्छा और आत्मशक्ति सहयोग देती है तो स्वस्थ और सक्षम जिंदगी संभव है।

अंतिम परिणति में यही मूल्य-सृजक शिक्षा है। हर विद्यार्थी के पास उसकी वंशानुगत और परिवेशगत विशेष क्षमताएं और रुचियां होती हैं। शिक्षकों के रूप में हमारा यह उत्तरदायित्व है कि हम विद्यार्थी की पृष्ठभूमि या उसकी निजी क्षमता की चिंता किए बगैर, इन रुचियों की खोज और उनका विकास करने में उसकी सहायता करें। जिन लोगों को मानव ज्ञान और विकास के बुनियादी सिद्धांतों की समझ है वही बड़े धैर्य और विवेक के साथ दिशा-निर्देश दे सकते हैं ताकि पशु समाज के अन्य सदस्यों से विपरीत आदम-शिशु स्वस्थ और सहज रूप में विकसित हो सके। इसी संदर्भ को ध्यान में रखते हुए मैंने इस बात पर जोर दिया है कि शिक्षकों को अपने और दूसरे शिक्षकों के अनुभवों के वस्तुपरक एवं वैज्ञानिक परीक्षण के माध्यम से ज्ञानार्जन के सिद्धांतों की समझ विकसित करनी चाहिए।

5. शिक्षण सामग्री

शिक्षण सामग्री का चयन

मार्च 1931 को जापानी संसद के निचले सदन में यह घोषणा की गई कि, "बदलते समय के मुताबिक, सरकार जल्द-से-जल्द शिक्षा व्यवस्था और उसके वर्ण्य-विषय में सुधार लाएगी।" टोकियो के एक अखबार में छपे संपादकीय ने इस लीपापोती की तीखी आलोचना की। विशेषकर, उसने यह इंगित किया कि,

(1) स्कूली विषयों को खुद ही पुनर्गठित और एकीकृत होने की जरूरत है; (2) अनेक विषयों को संतुलित और अंतर्संबंधित होने की जरूरत है; (3) बहुलताओं और न्यूनताओं को कम करने के लिए हर विषय में निहित अनेकानेक तत्वों में से किसी पर अधिक या कम जोर देने की आवश्यकता पड़ेगी...। शैक्षणिक सुधार के मुद्दे पर अब तक कई सम्मेलन आयोजित किए जा चुके हैं, लेकिन इनमें से ज्यादातर सम्मेलन बेअसर अधिकारियों के जमघट मात्र थे। आम बातों की चर्चा करने के लिए सम्मेलन बुलाने में कोई बुराई नहीं है। लेकिन आज की मांग यह है कि उल्लिखित तीन बातों की पूरी पूरी पड़ताल की जाए और फिर ठोस प्रस्ताव पेश किए जाएं। यह केवल एक बैठक में नहीं हो पाएगा। उप-बैठकों में इन मुद्दों पर विस्तृत चर्चा होनी चाहिए। इन उप-बैठकों में हर क्षेत्र के विशेषज्ञों की भागीदारी होनी चाहिए। वर्तमान सामाजिक हालात और विशेषज्ञों की राय को अनदेखा करने वाले सुधार को सुधार नहीं कहा जा सकता।[1]

इन कमियों को दूर कैसे किया जा सकता है ? हम ऐसे मुकाम पर खड़े हैं जहां की शैक्षणिक सामग्री का चयन और संगठन-प्रक्रिया की काया-पलट को अब और नहीं टाला जा सकता। एक बार फिर वही बुनियादी सवाल उभरता है कि शिक्षा के मौलिक सिद्धांत और उसके लक्ष्य क्या होने चाहिए ? शायद यह स्वाभाविक ही है कि शिक्षा क्षेत्र से बाहर के लोग यह सोचें कि उन्हें तो बदलाव की मांग भर करनी है और शिक्षाविद जल्द ही उन आदर्शों को साकार कर देंगे - आखिरकार उनका काम भी यही है। लेकिन अधिकतर शिक्षाविद यह

नहीं जानते कि उन्हें क्या करना चाहिए और परिणाम यह होता है कि वे अपने अंतःप्रज्ञात्मक अनुभवों के बलबूते पर ही आगे बढ़ते रहते हैं।

समिति की बैठकों में अधूरी रह जाने वाली चर्चाओं के वास्तविक खतरे यहां साफ नजर आ रहे हैं। अकेंद्रित दृष्टिकोणों पर आधारित निष्कर्ष किसी भी चीज का वास्तविक रूप नहीं पेश कर सकता। इसीलिए मेरा यह सुझाव रहा है कि सुख को शिक्षा का लक्ष्य मानकर और लाभ-हित-सुंदरता के उसमें समाहित मूल्यों के आधार पर ही निर्णय लिए जाने चाहिए।

शैक्षणिक सामग्री का चयन करते समय क्या मानदंड अपनाने चाहिए ? इसे तय करने के पहले कुछ इस तरह के सांसारिक सवालों से गुजरना होगा - उन आम वर्गों के जीवन पर क्या प्रभाव होगा जिनका समान शिक्षा के अवसर मिलने के पहले, स्कूली शिक्षा से कोई संबंध नहीं था जैसे किसानों के बच्चे, छोटे व्यापारियों की लड़कियां इत्यादि ? विदेशी भाषाई पाठ्यक्रम का अंधानुकरण जारी है। शिक्षाविदों के लिए उसकी पवित्रता परम है। इस राह पर चलते हुए, कालेज पहुंचने पर विद्यार्थियों के सहपाठी वे गिने-चुने लोग होंगे जो चंद दुर्बोध किताबों को पढ़ सकने की अपनी क्षमता पर झूठा अहंकार पाल सकते हैं। लेकिन अधिकतर लोगों के लिए उसकी क्या महत्ता है ? ऐसा कौन होगा जो अपने स्कूल के दिनों में ऐसे अकादमिक अनर्गल क्रियाकलापों पर बेकार किए गए बहुमूल्य समय को याद करके पछताता न हो।

अपने परिवेश के कुछ विशेष तत्वों को अध्ययन हेतु स्वीकार या अस्वीकार करना उचित या अनुचित कैसे माना जा सकता है ? हमारे मापदंड क्या होंगे ? हम यथार्थहीन व्यक्तिपरकता की आखिरी मंजिल पर आ गए हैं। विदेशी भाषाओं और पुरातन गणित पर स्कूल का समय और धन खर्च करना, पारंपरिक बुर्जुआ मानसिकता की पराकाष्ठा है। कुछ लोगों को छोड़कर, अधिकांश विद्यार्थियों को अपनी भावी आजीविका की चिंता करनी पड़ती है।

अतः हम पुनः शैक्षणिक लक्ष्य के सवाल पर पहुंच जाते हैं, और इस पर भी कि आम नागरिक के उद्देश्यों का निर्धारण कौन करेगा ? शिक्षा का लक्ष्य तय करने के लिए मानव जीवन के मौजूदा उद्देश्यों को पहचानना होगा। यह भी गौर करना होगा कि चेतन या अचेतन रूप से हर व्यक्ति अपनी निजी जिंदगी में किसी लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है। इन पर्यवेक्षणों का विश्लेषण करने पर, हम यह पाते हैं कि हर कोई किसी न किसी शक्ल में सत्य-हित-सुंदरता की ही तलाश कर रहा है। अतः मेरा यह मानना है कि शैक्षणिक प्रणाली और शैक्षणिक सामग्री के चयन और संगठन में इन्हीं मूल्यों को सिद्धांत रूप में स्वीकार करना चाहिए।

अपने आसपास की दुनिया में आमतौर पर दो प्रकार के घटना-क्षेत्र नजर आते हैं :

प्राकृतिक घटनाएं - मोटे तौर पर आकाशीय एवं पार्थिव और मानवीय परिसर में बंटी हुई आकाशीय एवं पार्थिव घटनाएं :

खगौलिक घटनाएं
पृथ्वीगत घटनाएं
जलीय घटनाएं
वायुमंडलीय घटनाएं
जैविक घटनाएं
अकार्बनिक घटनाएं
मानवीय घटनाएं
- जीविका के साधन
- समूहबंद होने के साधन
- सामाजिक समूह
- सामाजिक वर्ग
- समाज में श्रम-विभाजन
- राजनीतिक घटनाएं

आर्थिक घटनाएं

शैक्षणिक घटनाएं और संस्कृति का हस्तांतरण

विद्यार्थियों को प्राकृतिक जगत और मानवीय जगत के बीच सामंजस्य स्थापित करके जीवन जीने की कला सिखाने का अर्थ है कि उन्हें इन सभी क्षेत्रों में मूल्य-सृजन की कला भी सिखाई जा रही है। वास्तविक जीवन की इन वस्तुओं से संबंध कायम करते समय मनुष्य अपनी मूल्यांकन-शक्ति से कुछ चीजों को चुन लेता है तो कुछ को त्याग देता है। अंततः सुंदर एवं असुंदर, लाभ एवं हानि और अच्छे एवं बुरे के निहितार्थ त्रिपक्षीय मानदंड के अनुसार मनुष्य सुख अथवा दुख पाता है। यह दर्शाता है कि हम सब किस प्रकार अपने ही बनाए और ध्वस्त किए गए मूल्यों की दुनिया में रहते हैं। शिक्षा मनुष्य की इन मूल्य सृजक शक्तियों को बढ़ाती है। एक साधन के रूप में निम्नलिखित तीन क्षेत्रों पर ध्यान केंद्रित करके विषय सामग्री समन्वित की जा सकती है : जीवन का आर्थिक मूल्यांकन करने वाले विषय, जीवन का नैतिक मूल्यांकन करने वाले विषय और जीवन का सौंदर्यपरक मूल्यांकन करने वाले विषय।

एक बार स्थापित हो जाने के बाद, विषयों को मानक मूल्यांकन सिद्धांतों के अनुसार रखना होगा या उसके सापेक्ष उनका स्तरीकरण करना पड़ेगा। इसी प्रकार उनके परिसरों को भी मूल्यों के अनुरूप ही जांचना होगा। यानी बच्चों

की मानसिक विकास प्रक्रिया से मुंह नहीं मोड़ना चाहिए और न ही यह भुलाया जाना चाहिए कि ग्रहण कर पाने की उनकी अपनी कुछ सीमाएं हैं। एक निश्चित समय में वे क्या कुछ सीख सकते हैं ? इसके लिए विषयों को इस प्रकार व्यवस्थित और संघटित करना होगा कि उनका क्रमिक विकास सरल से जटिल की ओर हो। जो शिक्षा बेढब तरीके से छलांगें नहीं भरती उसकी एक अपनी किफायतसारी होती है। विद्यार्थी अपनी तर्कशक्ति विकसित कर लेते हैं, बशर्ते कि रट लेने की परिपाटी उसका गला न घोंट दे। मूल्यपरक जीवन तक तर्कसंगत ढंग से पहुंच पाने के लिए छात्रों की विशेष क्षमता के विकास में पाठ्य और अन्य शैक्षणिक सामग्रियों के क्रम से बड़ा अंतर पड़ता है। जोसेई टोडा का सूईरिशिकि शिदो सान्ज्युत्सु (अंक गणित की निगमन्य कुंजी) इन सिद्धांतों पर आधारित शैक्षणिक सामग्री का उत्तम उदाहरण है।[2] जिन शिक्षकों ने इस पाठ्यक्रम का इस्तेमाल किया है वे बताते हैं कि इससे उनके छात्रों की गणितीय समझ के विकास में बड़ी तेजी आ जाती है।

पाठ्यक्रम की संरचना

शैक्षणिक सामग्रियों का क्रम

एक निशिचित, श्रेणीबद्ध कार्यक्रम के मुताबिक बच्चों को व्यवस्थित रूप से शिक्षा देने का एकमात्र अर्थ यह नहीं है कि उन्हें एक स्कूली सत्र से दूसरे स्कूली सत्र में भेज दिया जाए। इसका अर्थ यह है कि हर स्कूली वर्ष के दौरान प्रत्येक विषयों का अध्ययन किया जाए। पढ़ाई जाने वाली सामग्रियों की प्रस्तुति में भी यही भावना लागू होनी चाहिए।

जापानी शिक्षाविदों को अपने दैनिक कार्यकलाप करने के साथ-साथ, पाठ्यक्रम से संबद्ध इस तरह के मसलों पर भी तत्काल ध्यान देना चाहिए। जापानी शिक्षा व्यवस्था में अब भी, विषय-चयन और पाठ्य-योजना के दौरान पाठ्यक्रम को समग्र रूप में सामने नहीं रखा जाता। वे तो सन् 1890 के 'इंपीरियल ऐलिमेंटरी स्कूल आर्डर' के अंतर्गत किए गए सुधारों के बाद अपनाई गई जर्मन व्यवस्था के शब्द-दर-शब्द अनुवाद में विश्वास करते हैं। उन्हें बुनियादी बनाम सतही मसलों की कोई परवाह नहीं है। ऊपर से लेकर नीचे तक, दाएं से लेकर बाएं तक कोई अंगभूत संबंध नहीं है। इसकी क्या महत्ता है, क्या बच्चे इसे समझ पाते हैं - यह सब सोचे बगैर ही पाठ्यक्रम तय हो गया है। सामग्रियों की एक कतार खड़ी कर दी गई है और कुछ लोगों का शायद यह मानना है कि ये आजीविका के लिए जरूरी हैं। हालांकि, इस बात पर बिलकुल विचार नहीं किया जाता कि बच्चे इसे अपनी जिंदगी में कैसे लागू करेंगे। इसे एक

प्रकार की हिंसा ही कहा जा सकता है।

अतः, मैं पाठ्यक्रम की त्रि-स्तरीय संरचना का प्रस्ताव रखता हूं :

1. एक बुनियादी और सहज अवलोकन पाठ्यक्रम - विद्यार्थी की स्थानिक वास्तविकताओं के सहज पर्यवेक्षण का अध्ययन, निर्देशित रूप में।
2. विशिष्ट कौशल पाठ्यक्रम - अनेक मध्यवर्ती विषयों का कक्षीय अध्ययन।
3. व्यापक सारांश पाठ्यक्रम - संपूर्ण नागरिकता की ओर उन्मुख वास्तविक प्रयोगों का निर्देशित अध्ययन।

स्थानिक पाठ्यक्रम का नाम सुनते ही शैक्षणिक समुदाय के कुछ बुजुर्ग सदस्य इसे अतिरिक्त बोझ कहकर निरस्त कर देने का अवसर नहीं चूकेंगे। पाठ्यक्रम के भरे पड़े होने का हवाला भी दिया जाएगा। मगर यही लोग मेजी-काल के शैक्षणिक मानदंडों का अंध समर्थन करते हैं। इससे मेरा यह विश्वास और भी पक्का हो जाता है कि उनके शिक्षा संबंधी विचारों का जीवन की वास्तविकताओं से कोई संबंध नहीं है।

मानव ज्ञानोपार्जन की निर्माण प्रक्रिया के विकास को मानव शिक्षा के इतिहास में देखा जा सकता है। आज का विज्ञान कहीं से टपक नहीं पड़ा। हम तो राह तय करके आए हैं, उसे देखने पर यह साफ साफ पता चलेगा कि शिक्षा का रुख ऊपर और बाहर की तरफ है। पहले पहल, न तो पर्यावरण को पूरी तरह समझा गया था और न ही उसकी सजग परिकल्पना की गई थी। मानव जीवन उसके प्रति की गई अंध प्रतिक्रियाओं का अनियोजित कोलाहल था। फिर एक एक करके, हमने उन विशेष तत्वों को छांटा जो एक-दूसरे से किसी न किसी रूप में जुड़े हुए थे और उन पर अपना ध्यान केंद्रित किया। समान परिस्थितियों में अन्य तत्वों के साथ उनकी तुलना की और इस प्रकार अनिवार्य तत्वों को खोज निकाला। आधुनिक विज्ञान का जन्म इन्हीं आदिम प्रक्रियाओं से हुआ है। अगर बच्चों एवं किशोरों को अपने परिवेश और पर्यावरण की सही समझ प्राप्त करनी है तो शिक्षा को भी ऐसे ही विकासक्रम का पालन करना चाहिए। कॉमेनियस के समय से लेकर अब तक के विख्यात शैक्षणिक विचारकों ने यह घोषणा की है कि शिक्षा को प्रकृति का विधान मानना चाहिए क्योंकि प्रकृति ने विकास का स्वाभाविक मार्ग तय कर रखा है। लेकिन जब मैं जापानी शिक्षा की विषय सामग्री की मौजूदा व्यवस्था और शिक्षा में उस सामग्री का वितरण देखता हूं तो ऐसा कुछ भी नहीं पाता। प्राथमिक विद्यालय के पहले वर्ष से ही विषयों की एक सूची बनी हुई है जिसमें नैतिकता, हिज्जे और गणित शामिल हैं। कोई भी बड़ी आसानी से यह देख सकता है कि वर्तमान तरीकों

ने छात्रों के सर्वाधिक संस्कारग्राही वर्षों को कैसे बर्बाद कर दिया है। दस वर्ष के बच्चों पर राष्ट्र और राज्य जैसी विकसित अवधारणाएं आरोपित कर दी जाती हैं। यही नहीं राज्य-सत्ता के पच्चीस सौ वर्ष पुराने इतिहास में भी उन्हें डुबो दिया जाता है।[3] कोई आश्चर्य नहीं है कि इन सबमें बच्चों की दिलचस्पी नहीं होती। उनके साथ ऐसा करना किसी नौसिखिए को अचानक किसी विशेषज्ञ पाठ्यक्रम में प्रवेश दिलाना होगा।

मैं इसके बजाए स्थानिक परिवेश के पाठ्यक्रम की पेशकश करना चाहूंगा। उसके आधार पर बाद में पढ़ाए जाने वाले वर्तमान पाठ्यक्रमों की नींव रखी जा सकती है। इसकी शुरुआत छात्रों को उनके जन्म-स्थान पर ले जाकर हो सकती है। प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण का कम-से-कम एक लाभ तो यह है कि विभिन्न बच्चों को कृति या कार्य के मूल्य से विलग करके विशेषज्ञ शिक्षा को अमूर्त रूप में खंडित करके पेश नहीं कर सकते। स्थानिक शिक्षा-पाठ्यक्रम का विचार मेरे दिमाग में आज से बीस वर्ष पहले आया था और मैं इसकी बुनियादी अकाट्यता के प्रति दिन-ब-दिन आश्वस्त होता जा रहा हूं। यहां मैं उसके वर्ण्य-विषय और पद्धति की रूपरेखा भर तो दे ही देना चाहूंगा जब तक कि इस विषय पर अलग पुस्तक लिख पाऊं।[4]

स्थानिक परिवेश पाठ्यक्रम के विचार की स्थापना में एक लंबा समय लगा है। लेकिन सिंहावलोकन करने पर देखा जा सकता है कि यही विचार शैक्षणिक सामग्री संबंधी अवधारणाओं के संपूर्ण विकास की जड़ों में है। अतः शैक्षणिक सामग्रियों के प्रयोग के आधार पर चार काल-खंडों की पहचान की जा सकती है : केवल लिखित शब्द पर निर्भर रहने वाला युग, चित्र-रेखांकन का संदर्भ देने वाला युग, वास्तविक वस्तुओं और ढांचों का हवाला देने वाला युग, शैक्षणिक सामग्री के रूप में परिवेश का प्रत्यक्ष पर्यवेक्षण करने वाला युग। मेरा निवेदन है कि पहले तीन स्तरों की कमियों का जैसे ही अनुभव होगा चौथा स्तर अवश्यंभाव्य है।

पाठ्यक्रमों का विषय-परिसर

एक अच्छी जिंदगी बिताने के लिए व्यक्ति की तुष्टि आवश्यक है और व्यक्ति उसी समूह को संतुष्ट करके तुष्टि पा सकता है जिस पर वह अपनी आजीविका और जिंदगी के लिए निर्भर है। अच्छी जिंदगी बिता पाने की समझ के साध्य के लिए व्यक्ति शिक्षा का सहारा लेता है। अतः शिक्षा को समाज की अपेक्षाओं के अनुरूप जिंदगी व्यतीत करने का विशेष सुझाव देना चाहिए। लेकिन इससे भी कहीं अधिक शिक्षा को उसे वह सामर्थ्य प्रदान करना चाहिए, जिससे वह समाज के वृहत हित के प्रति सक्रिय रूप से योगदान कर सके। मौजूदा शिक्षा

व्यवस्था के लिए यह बड़ी शर्मनाक बात है कि उसने इन ऊंचे उद्देश्यों को दृष्टि में रखकर समाज के प्रति जागरूकता पैदा करने का कोई व्यवस्थित प्रयास नहीं किया।

हालांकि वर्तमान व्यवस्था के समर्थक यह दलील देते हैं कि व्यक्तिगत जीवन को परिपूर्ण करने के लिए काफी जतन किए गए हैं; लेकिन सच्चे उपयोगी मूल्यों को गढ़ने के लिए सजग रूप से किसी संगठित मार्गदर्शन का प्रयत्न नहीं किया गया। यह सच है कि कुछ कोशिशें की गईं, पर वे विभाजित थीं। आम नागरिक की या यूं कहें कि हम सबकी, भलाई दैनिक अर्थशास्त्र से जुड़ी है और आर्थिक स्वतंत्रता मानव जीवन की प्राथमिक बुनियाद है। इसीलिए आर्थिक साधनों का विषय शामिल करने में विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसा करने के लिए अनेक विकल्पों की खोज करनी होगी। इसके लिए मौजूदा पाठ्यक्रमों से आगे और परे जाकर गहन अध्ययन करना होगा।

यह शिक्षा का दायित्व है कि वह विद्यार्थियों को उपयोगी मूल्यों के सृजन की ओर प्रवृत्त करे। जब उसे इस महत्वपूर्ण दायित्व का अनुभव होगा तो वह प्राकृतिक और मानवीय क्षेत्रों को नई दृष्टि से देखेगी ताकि पढ़ाए जा सकने वाले विषयों की तलाश की जा सके। बौद्धिक रुचि रखना ही पर्याप्त मानदंड न होगा; उपयोगी मूल्य-सृजक शक्तियों के विकास पर बल दिया जाएगा, आत्म-लाभ पहुंचाने वाले मूल्यपरक और प्रशंसापरक विषयों को पाठ्यक्रम में शामिल कर लिया जाएगा। अनेक क्षेत्रों में अगणित संभावनाएं मौजूद हैं : जैविक और अजैविक प्रकृति के उपयोग से जुड़े विषय, जो पुरातन, आदिम उत्पादन के साधनों में मूल्य-सृजन करेंगे। कुछ उदाहरण हैं : कृषि, पशु पालन, रेशम उत्पादन (सेरीकल्चर), मत्स्य-पालन (एक्वाकल्चर), संकरण और वानिकी। इन उद्यमों के उत्पादों को कच्चे-माल के रूप में प्रयोग करने वाले अनेकानेक उद्योगों में विस्तृत मूल्य-सृजन की संभावनाएं या इन वस्तुओं के यातायात में और व्यापार और वाणिज्य द्वारा अतिरिक्त मूल्यवर्द्धन की संभावनाएं। हालांकि विज्ञान, भूगोल, शिल्प, कृषि आदि के वर्तमान विषय भी इस तस्वीर में सही बैठते हैं लेकिन आज के विच्छिन्न खंडित तरीके में नहीं। इसके लिए भी विस्तृत योजना बनाने की आवश्यकता है।

अब हमें इस पर विचार करना चाहिए कि सद्गुण गढ़ने वाली क्षमताओं को पैदा करने के लिए किस प्रकार के पाठ्यक्रम स्थापित किए जाने चाहिए। सहज ही आचार, इतिहास, भूगोल और राष्ट्रीय भाषा जैसे विषयों का ध्यान आ जाता है और यह मालूम पड़ता है कि इन विषयों पर कितना बल या शायद अत्यधिक बल दिया गया है। फिर इन्हें समाज की मुख्य अवधारणा के साथ क्यों नहीं जोड़ा गया है ? हम छात्रों के सामने पूरी तस्वीर रखने के बजाय एकांगी

दृष्टि क्यों पेश करते हैं ? उन्हें प्रतिफल स्वरूप सरकते सायों का पीछा करने पर भी वास्तविक कायाओं का बोध क्यों नहीं हो पाता ? क्या बच्चों को राष्ट्र की अवधारणा समझाने का यही तरीका है ? पूरे समाज के साथ न जुड़ पाने की हालत में इतिहास भी दूसरी किसी कहानी की तरह अपनी एकाध दिलचस्प घटना के लिए ही याद रखा जाएगा। इसी तरह भूगोल पढ़ाते समय, देशप्रेम की भावना जागृत करने के लिए पृथ्वी का मानचित्र दिखा देना ही पर्याप्त नहीं है। भूगोल को हमारे जीवनों की पारस्परिक-निर्भरता को स्पष्ट करने और उसकी चेतना जगाने में मदद करनी चाहिए। इस व्यापक अनुस्थापन को प्रतिबिंबित करने के लिए शिक्षण पद्धति का बदलना बहुत आवश्यक है।

क्यों न विद्यार्थियों के सौंदर्यात्मक जीवन को दिशा-निर्देश देने वाले विषय पढ़ाए जाएं ? हमारे पास, ऐसे मूल्य-सृजन को बढ़ावा और निर्देश देने वाले कई विषय उपलब्ध हैं : जैसे, शिल्प, बागवानी, चित्रकला, संगीत आदि। लेकिन ये मानव जीवन के उद्देश्यों से स्पष्ट रूप से जुड़े हुए नहीं हैं; अतः इन्हें किसी चीज की तैयारी के तौर पर नहीं देखा जाता। वे मूल्यांकित करने वाली गतिविधियों के रूप में नहीं चलाई जातीं, इसलिए उनके माध्यम से परिवेश का अंध या बेतरतीब बोध प्राप्त होता है। वे मूल्य-सृजन की दिशा तो दिखाते हैं, पर टुकड़ों टुकड़ों में। विद्यार्थियों को जरा भी ज्ञान नहीं होता कि इन सूत्रों को आपस में कैसे जोड़ा जाए। इसीलिए उनके सामने सर्वांग तस्वीर जीवंत नहीं हो पाती। इसके ठीक विपरीत, मैंने यह सुना है कि अमेरिका में बच्चों को कला की शिक्षा आत्माभिव्यक्ति या ललित कला के रूप में ही नहीं दी जाती है बल्कि उसे वास्तविक जिंदगी के सरोकारों का एक हिस्सा माना जाता है। यानी उन्हें वास्तविक जिंदगी में प्रयोग किए जाने वाले वस्तुओं से ही अपनी सौंदर्यबोधीय मांगों की पूर्ति करने की सीख दी जाती है - ऐसी वस्तुएं जिनका व्यावहारिक लाभ भी है, यानी, सुंदर परंतु क्रियात्मक भी। इस तरह बच्चे एक सुसंबद्ध तरीके से मूल्य-सृजन और मूल्यों की परख करना सीख जाते हैं।

सारांश में, मैं चार भागों का एक ढांचा पेश कर रहा हूं। इसके तहत, वर्तमान पाठ्यक्रम की पुनःसंरचना और उसका आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जा सकता है ताकि शिक्षार्जन को अधिक कारगर बनाया जा सके :

1. उपयोगी मूल्यों के सृजन का दिशा-निर्देश देने वाले विषय : शिल्प और सिलाई-कढ़ाई के मौजूदा विषयों को जीवनोपयोगी कला के निर्देशों से जोड़ने की आवश्यकता है।
2. नैतिक मूल्य सृजन में दिशा-निर्देश देने वाले विषय : आचार, इतिहास, भूगोल आदि लेकिन वर्ण्य-विषयों में महत्वपूर्ण परिवर्तन के बाद।

3. सौंदर्यपरक मूल्य सृजन में दिशा-निर्देश देने वाले विषय : चित्रकला, संगीत, शिल्प आदि लेकिन शिक्षण-पद्धति में महत्वपूर्ण परिवर्तन के बाद।
4. उल्लिखित विषयों के बुनियादी मूल्यों के सृजन के लिए आम निर्देश देने वाले विषय : (जापानी) भाषा, गणित, शारीरिक शिक्षा आदि लेकिन उनके उद्देश्यों पर पुनर्विचार और संबद्ध विषयों को पुनःनिर्देशित करने के बाद।

ज्ञानार्जन के मनोविज्ञान से अपरिचित लोग अन्य विषयों को घटाकर जापानी भाषा विषय का विस्तार करना चाहेंगे। उनकी राय में विषय के स्वरूप भाषा में अन्य विषयों की सामग्री और सार शामिल है। यह तर्क गलत है क्योंकि इसे सीखने में समय और मेहनत की लागत व्ययसाध्य होगी। उदाहरण के लिए, भाषा का अच्छा ज्ञान होने से न केवल ज्ञानार्जन में आसानी होती है बल्कि इसका उपयोग रोजमर्रा की जिंदगी में सामाजिक संवाद के लिए भी किया जाता है। इस तरह आदमी अपने सामाजिक समूह की साझी जिंदगी का भागीदार बन जाता है। केवल भाषाई कौशल को समर्पित एक विषय का होना भी आवश्यक है।

इस अनुभाग का समापन करते हुए हरबर्ट स्पेन्सर[5] की महत्वपूर्ण कृति, 'शिक्षा : बौद्धिक, नैतिक और भौतिक' (एजुकेशन : इंटैलैक्चुअल, मोरल एंड फिजिकल, 1961) में दिए गए तर्कों पर गौर करना लाभप्रद रहेगा। उनके अनुसार शिक्षा के प्रति निम्नलिखित पांच-पक्षीय दृष्टिकोण को आधार बनाकर ही पढ़ाए जाने वाले विषयों का चयन किया जाना चाहिए ताकि सुखमय जिंदगी यानी आत्मतुष्ट जिंदगी की तैयारी हो सके :

1. आत्म-संरक्षण से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित गतिविधियां = आत्म-संरक्षण का प्रत्यक्ष प्रबंध = शरीर-क्रिया विज्ञान;
2. आत्म-संरक्षण से अप्रत्यक्ष ढंग से संबंधित गतिविधियां = आत्म-संरक्षण का अप्रत्यक्ष प्रबंध = गणित, भौतिकी, रसायन-विज्ञान, जैव विज्ञान, समाजशास्त्र;
3. भावी पीढ़ियों को शिक्षा की ओर प्रवृत्त करने वाली गतिविधियां = माता-पिता बनने की तैयारी = विकासोन्मुख मनोविज्ञान;
4. उचित राजनीतिक सामाजिक संबंधों की सहयोगी गतिविधियां = नागरिकता की तैयारी = नागरिकशास्त्र और समाजों का प्राकृतिक इतिहास;
5. खाली समय में की जाने वाली गतिविधियां = जीवन की सौंदर्याभिरुचि और उसमें भागीदारी बढ़ाने के प्रबंध = कला, चित्रकला, कविता, साहित्य आदि।

यह मूल्यों का संक्षिप्त पदानुक्रम है जो ठोस विषयों के चयन में प्रतिबिंबित होता है। यह एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है जिसको अनदेखा नहीं किया जा सकता। यह मूल्योन्मुख प्रस्ताव और भी महत्वपूर्ण जान पड़ता है जब यह मालूम होता है कि इसे कोई पचहत्तर वर्ष पहले पेश किया गया था। यह जानकर वर्तमान शैक्षणिक अराजकता और भी असहनीय हो जाती है।[8]

मूलभौतिक सुघटित पाठ्यक्रम

प्राथमिक और माध्यमिक स्कूली पाठ्यक्रमों के अनेक संघटक विषयों को सारे ज्ञान का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। उन्हें किसी मार्मिक चिंतन से जोड़ना होगा ताकि निजी चरित्र को खंडित होने से बचाया जा सके। जब अध्ययन की अनेक शाखाओं और पूरब एवं पश्चिम में साल-दर-साल निर्मित होते क्षेत्रों और उपक्षेत्रों को किसी केंद्रीय प्रस्थान बिंदु तक वापस पहुंचने का साधन मान लिया जाएगा, तब कहीं जाकर ज्ञान का मूलभूत गठन हो पाएगा।

हमने बहुत दिनों तक इस प्रस्थान बिंदु की उपेक्षा की है। इसके बदले में क्या हाथ लगा है ? स्कूल के दौरान विद्यार्थियों द्वारा हासिल किए गए ज्ञान के चंद अर्थहीन, असंबद्ध टुकड़े या इस ज्ञान को वास्तविक जीवन में प्रयोग करने के अवसरों का अभाव या इस खंडित ज्ञान का अनुचित इस्तेमाल ? शिक्षा में वृद्धि के बावजूद समाज में अपराध बढ़ा है। क्या इसके पीछे इसका हाथ नहीं है ? उदाहरण के लिए गलत ढंग से शिक्षित युवकों को हिंसक अथवा अश्लील दृश्यों वाली फिल्म दिखाएं तो अधिकांश के मानस पटल पर केवल वही खंडित छवियां रह जाएंगी। मानव आचरण और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण विकृत हो जाएगा। इसे मैं जितना भी जोर देकर कहूं, कम है। मूल्य सृजन के संपूर्ण परिप्रेक्ष्य के तहत हमें बेहतर जिंदगी और मानवीय सुख के केंद्रीय मुद्दे से शिक्षा का संबंध बराबर कायम रखे रहना चाहिए।

सुख ही मानव जीवन का लक्ष्य है और इसीलिए शिक्षा का भी। लाभ, हित और सौंदर्य के मूल्यों के सृजन में लगी जिंदगियों के कुल योग का नाम भी सुख ही है। अतः शिक्षा का यह दायित्व बनता है कि वह छात्रों को इन तीनों क्षेत्रों की विवेकपूर्ण और मूल्यबोधीय गतिविधियों की ओर प्रवृत्त करे। शिक्षा को जीवनयापन का व्यवस्थित तरीका जरूर देना चाहिए। हर किसी की दिली तमन्ना यही होती है कि वह सुरक्षित, स्वस्थ और सुचारु तरीके से अपनी जिंदगी गुजार ले। इसी में यह संभावना निहित है कि शिक्षा हमारी जिंदगी में महत्वपूर्ण भूमिका निभाए। बच्चों को उनकी पढ़ाई के माध्यम से सजगता के एक विशेष बिंदु तक ले आना है, ताकि जब वे स्नातक हो जाएं अथवा उनका पाठ्यक्रम पूरा हो जाए, तो वे अब तक पढ़े हुए विषयों की समग्र छवि गढ़

सकें। पुनरावलोकन में ही सही, उनके लिए उनकी शिक्षा के कुछ अर्थ होने चाहिए। उच्च शिक्षा के विषय ऐसे होने चाहिए जो उनके सामने चीजों को एक साथ लाकर रख दें। उन्हें यह समझना चाहिए कि उन्हें इस लक्ष्य तक लाने में किस प्रकार हर कदम एक माध्यम बन गया। अतः पाठ्यक्रम की सीढ़ी-दर-सीढ़ी तय करते हुए, विद्यार्थियों को साधन और उद्देश्यों की संपूर्ण विचारात्मक संरचना को आत्मसात करना होगा।

छात्रों को बचपन ही में यह सोचना चाहिए कि वे किन लक्ष्यों की ओर बढ़ रहे हैं, वे रोज स्कूल क्यों जाते हैं और वे किस तरह के मूल्य गढ़ रहे हैं। इन सब बातों से विचारों का एक स्पष्ट तानाबाना बुन जाएगा। यह संभव भी है और जरूरी भी। इससे मानव जिंदगी की सुसंगत दृष्टि गढ़ी जा सकेगी : क्या यह केवल पैसे और संपत्ति या ख्याति और रुतबे के लिए है या इसका उद्देश्य कुछ और भी है ? क्या इस 'कुछ' को व्यक्तिगत प्रयासों द्वारा पाया जा सकता है या इसे पाना सामूहिक प्रयासों के द्वारा ही संभव है ?

एक बार इन जीवन उद्देश्यों की पहचान हो जाए तो फिर अगला कदम है, हर छात्र का अपनी जीवन शैली की तुलना दूसरों से करना, ताकि उनके आलोचनात्मक विवेक को धारदार बनाया जा सके। बच्चों के वास्तविक जीवन में नैतिक शिक्षा का तब तक कोई महत्व नहीं रहेगा जब तक वह इस बिंदु पर नहीं पहुंच जाती और प्राथमिक स्कूल के विषयों पर जो बात लागू होती है, वह अन्य स्तर के विषयों पर भी सही बैठती है। जब अध्ययन के संचित स्वरूप को छात्रों के परिवेश और उसके अंतर्गत उनकी जीवन-पद्धति से जोड़ा जाता है, तब ही छात्रों के लिए अध्ययन जीवंत हो उठता है। केवल तब ही शिक्षा-प्रक्रिया की वास्तविक उपलब्धियां पा लेना संभव है।

यह किस प्रकार साकार किया जा सकता है ? और इसका कर्ता-धर्ता कौन होगा ? इस मुद्दे पर विचार करने वाला कोई भी हो, फिलहाल तो काम केवल इतना है कि राज्य-संपादित पाठ्य-पुस्तकों से सामग्री इकट्ठी की जाए और शिक्षक उसे प्रस्तुत कर दें। यहां थोपने के पुराने जाल में फंस जाने की बड़ी गुंजाईश है। यहां इन आदर्शों को प्रभावशाली ढंग से पढ़ा सकने वाले शिक्षकों की जरूरत महसूस की जा सकती है। इसीलिए शिक्षक चयन में और सख्ती बरती जानी चाहिए और शैक्षणिक-प्रशिक्षण को और बेहतर बनाया जाना चाहिए। इन आदर्शों और वर्तमान स्थितियों में बहुत अंतर है, और यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस राह में कई बाधाएं उत्पन्न होंगी लेकिन वे दुर्गम्य नहीं होंगी।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि सृजनात्मक जीवनयापन द्वारा सुख के लक्ष्य तक पहुंचने के साधन स्वरूप विषयों में तीन स्तर शामिल हैं—

पहला, निम्न-कोटि की मूल्यांकन गतिविधियों को दिशा-निर्देश देने वाले विषय जिन्हें अधिक सजगता की आवश्यकता नहीं है; दूसरा, मूल्यों के संदर्भ में वस्तुओं के स्वभाव को समझने वाली परिज्ञान संबंधी प्रक्रियाओं द्वारा विकसित पुनर्मूल्यांकन में सहयोग करने वाले विषय; तीसरा, प्रायोगिक मूल्य-सृजन में सहयोग देने वाले विषय। हमें पाठ्यक्रम को इसी प्रकार एकीकृत करना होगा। हर हिस्से का दूसरे हिस्से से कार्यकारण संबंध स्थापित करना होगा ताकि एक संपूर्ण आंगिक व्यवस्था का निर्माण हो सके।

हमने अपने लक्ष्य को अंशतः पा लिया है, क्योंकि शिक्षा से सबकी एक जैसी अपेक्षाएं हैं। इनसे कोई असहमत नहीं है, ठीक वैसे ही जैसे जिंदगी के मायने पर सबकी राय एक है। जिसे हम घर कहते हैं उसके सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश में सामंजस्य पैदा करके, हमने अपना मौलिक जन्मसिद्ध अधिकार निभाया है और मानव जीवन के लक्ष्यों को परिपूर्ण किया है। यानी, हमने अपने व्यक्तिगत रुझानों के अनुरूप ही लाभ, हित एवं सौंदर्य का मूल्यबोध गढ़ा है और उसे अपने समाज की संस्कृति को अर्पित किया है। अगर शिक्षा विद्यार्थियों को इस अहसास तक ले जाने में सफल रहती है तो वह मूल्य-सृजक शिक्षा से हमारी अपेक्षाओं की कसौटी पर खरी उतरेगी।

आंगिक संरचना वाले पाठ्यक्रम में हर विषय का योगदान होना चाहिए और हर व्यक्तिगत उद्देश्य के अनुसार एक विषय होना चाहिए - ठीक वैसे ही जैसे शरीर का हर अंग किसी कारण से मौजूद है। अतः हमें बिना सोचे-समझे विषयों का उन्मूलन नहीं कर देना चाहिए सिर्फ इसलिए कि देखने पर इनकी तादाद अधिक लगती है। हर विषय की मौजूदगी की पूरी जांच पड़ताल करने के बाद ही ऐसा करना चाहिए। लेकिन हर विषय की विशिष्टता और उसके विशेष उद्देश्य का यह अर्थ नहीं होता कि हर विषय को अपना अलग लक्ष्य तय करने की इजाजत है। ठीक उसी तरह जैसे शरीर का कोई अंग, शरीर के बाकी हिस्से से अलग होने की घोषणा नहीं कर सकता। अगर आज के पाठ्यक्रम की कोई समस्या है तो वह है - खुद अपने ही विरुद्ध बंटा हुआ शरीर।

फिर, हर विषय को उसकी जायज स्वायत्तता कैसे दी जाए और अनिश्चित काल के लिए अलग पड़ जाने की प्रवृत्ति को रोका भी जाए ? इसके लिए स्वायत्तता के विषयों को तीन मुख्य समूहों के रूप में परिभाषित करना होगा। जिनकी जरूरत जीवनयापन के मानदंड को विकसित करने में पड़ती है। अगर छात्रों को स्वस्थ और संपूर्ण रहना है और व्यक्तिगत उद्देश्यों की ओर अग्रसर होने और उन्हें पाने की क्षमता विकसित करनी है तो उन्हें ज्ञान के इन क्षेत्रों को समझना होगा। पाठ्यक्रम के इन तीन अनिवार्य घटकों को मानव जीवन हेतु कानून बनाने की कुंजी समझना चाहिए। ज्ञान की पूरक व्यवस्थाएं होने की

हैसियत से इन्हें हर स्तर पर त्रिपक्षीय रूप में व्यवस्थित करना चाहिए :

1. प्राकृतिक नियमों का ज्ञान : प्राकृतिक नियमों और उनके प्रायोगिक तकनीकों की समझ विकसित करना विज्ञान का काम है।
2. सामाजिक नियमों का ज्ञान : सामाजिक नियमों और उनके प्रयोगों के प्रति आदर पैदा करने का काम आचार, नीति, इतिहास, भूगोल आदि करेंगे।
3. प्रकृति और मानवता को जोड़ने वाले मूल्यों का ज्ञान : अपनी आतंरिक जिंदगी में सृजित मूल्यों को व्यक्त करने के तरीकों का विशद विवरण।

   क. शारीरिक गतिविधियों द्वारा प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति : खेल, शारीरिक शिक्षा, नृत्य आदि।

   ख. त्रि-आयामी सृजनात्मक अभिव्यक्ति : शिल्प आदि के रचनात्मक विषय।

   ग. द्वि-आयामी सृजनात्मक अभिव्यक्ति : चित्रकला, मानचित्र-बनाना, राजगीरी आदि।

   घ. भाषाई अभिव्यक्ति :

      1. श्रव्य-दृश्य (ऑडियो-विजुअल) ज्ञान एवं कौशल : बोलना, गाना और बाकी पाठ्यक्रमों से जुड़ी अन्य चीजें।
      2. दृश्य अंकन ज्ञान एवं कौशल

         क. लिखना, पढ़ना, वर्तनी आदि।

         ख. संख्य, अंकगणित आदि।

         ग. संगीत पढ़ना और उसे लिखना।

ऊपर दिए गए विषयों का चयन किसी खास कारण से ही किया गया है और ये पूरक रूप में कार्य करते हैं। हर विषय भौतिक संवेदनाओं का उचित संतुलन विकसित करने और उसे पुष्ट करने का काम करता है। दिखावे के लिए किसी विषय को घटा देने या स्वेच्छापूर्ण ढंग से जोड़ देने का परिणाम यही होगा कि पांचों में से एक या अनेक इंद्रियां अपनी पूरी संभावनाओं का इस्तेमाल नहीं कर सकेंगी।

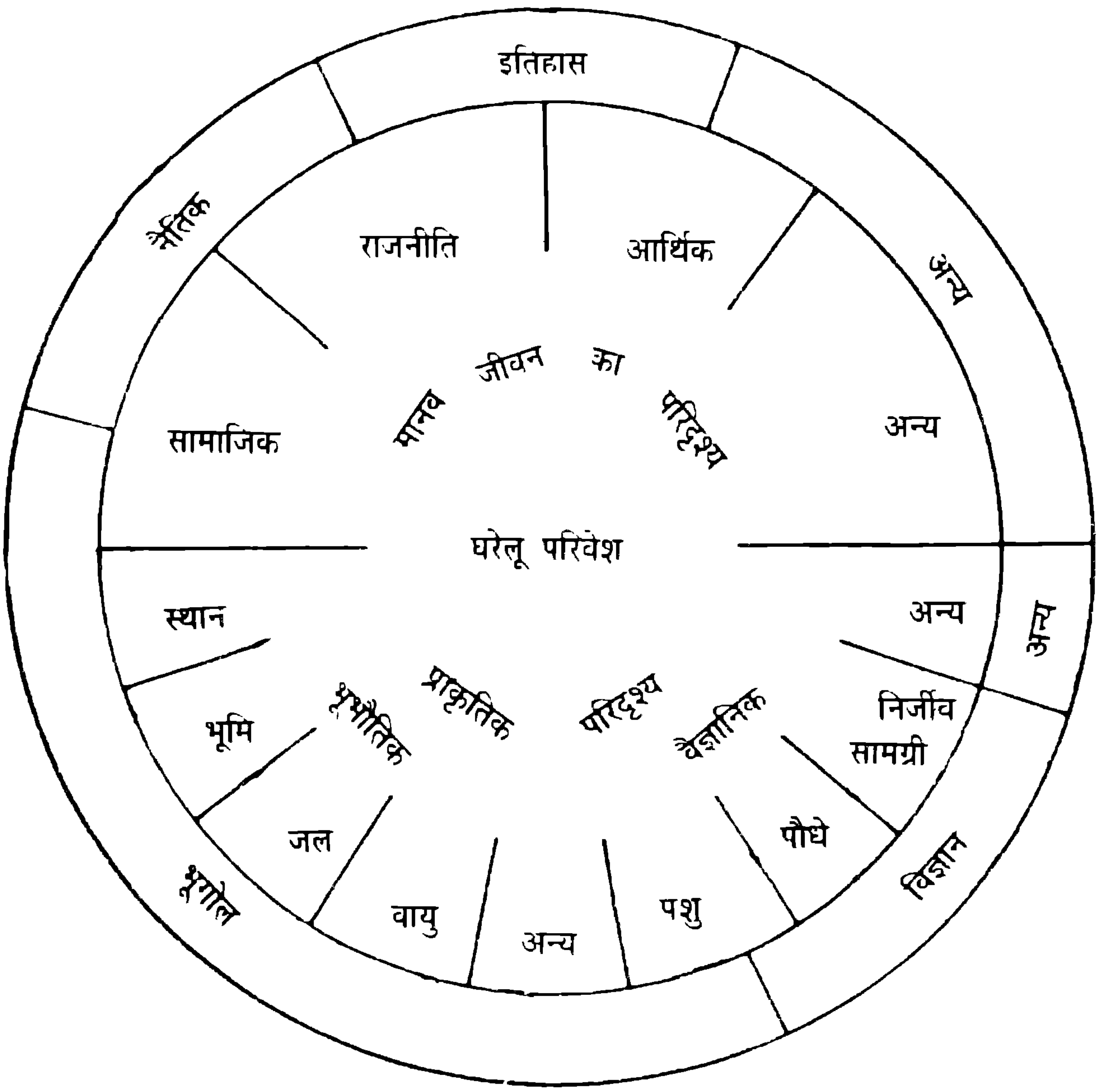
पाठ्यक्रम की आंगिक संरचना का एक अतिरिक्त लाभ है। यह विषयों को जोड़कर, एक दूसरे से संबंधित करके पेश करती है जिससे विद्यार्थी कम से कम साधनों में अधिकाधिक विषयों की जानकारी ले लेता है। यह आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धांतों के अनुरूप है। इनके अनुसार विचारों को अनेक पीठिकाओं

से बांधने के कारण अर्जित किए गए ज्ञान को संग्रह करना या उसे पुनःस्मृत करना और भी प्रभावशाली हो सकता है। ऐसा हो जाने पर, हमारे मस्तिष्क में घूमते विचार अस्त-व्यस्त तरीके से नहीं बल्कि एक ही मंजिल की राह में जुड़े हुए राहगीरों की तरह होते हैं। तभी हम सही समय पर सही विचार ला सकते हैं, ताकि वे हमारी जिंदगी में उपयोगी साबित हो सकें। इस मत के अनुसार, मानव की कुशाग्र बुद्धि के लगभग असीमित वर्ग उसके विचारों की संबद्धता की कोटि पर जितना निर्भर हैं उतना किसी और पर नहीं। अगर यह मान लिया जाए तो किसी को भी यह देखने में आसानी रहेगी कि यदि विचारों को उनके हाल पर छोड़ दिया जाए तो यह जरूरी नहीं है कि वे अपने आप को सुव्यवस्थित कर लें।

इसी तरह, अनेक विषयों को पढ़ाने के क्रम में प्रस्तुतीकरणों के प्रस्थान-बिंदुओं और निष्कर्षों को घरेलू परिवेश के पर्यवेक्षणों से जोड़ने की सजग और सतत कोशिश की जानी चाहिए। इन प्रयत्नों और स्कूली शिक्षा की लंबी कालावधि में बच्चों की अनेक प्रेरणा-धाराओं में समाहन के फलस्वरूप एक युक्तिसंगत और अंतर्संबंधित ज्ञानराशि विकसित होगी। यह ज्ञानराशि उनकी आसपास की दुनिया में पैदा होती है और वहीं खत्म हो जाती है। ऐसा करके हम विद्यार्थियों पर सूचनाएं थोप नहीं रहे हैं बल्कि उन्हें मानसिक पुस्तक के खान और 'फाइलिंग सिस्टम' दे रहे हैं। इस तरह हर छात्र/छात्रा पुस्तकाध्यक्ष बन जाता/जाती है और वे पुस्तकालय का विस्तार करने के लिए इस व्यवस्था का प्रयोग कर सकते हैं। यहां एकीकृत शिक्षा की एक मुख्य कसौटी पहचानी जा सकती है : वह यह कि छात्र के पास उपलब्ध ज्ञानराशि, हर स्तर पर हमेशा ही पूर्णतः और आंगिक रूप से जुड़ी रहेगी और बाद के संकलन पहले से मौजूद घरेलू परिवेश विषय का उपयोग धड़ के रूप में कर सकते हैं, जिस पर आगे चलकर अनेक शाखाएं-प्रशाखाएं फूटेंगी।

जैसा कि निम्नलिखित चित्र में देखा जा सकता है, आदर्श रूप में बढ़ते हुए पाठ्यक्रम में घरेलू परिवेश का विषय मार्मिक महत्व का केंद्र है :

यह विषय वितरण की संभावित योजनाओं में से एक है। महत्वपूर्ण बात यह है कि हर विषय को हर समय समान और बराबर स्थान दिया जाए। शिक्षण का प्राथमिक लक्ष्य बुनियादी मानसिक शक्तियों को पैना करना है। अतः जोर सूचना की मात्रा पर नहीं बल्कि विषय-क्षेत्रों के संतुलन पर है। इस संतुलन को पाने के लिए अनेकानेक योजनाएं पेश की जा चुकी हैं। इनमें से ज्यादातर ने किसी एक विशेष विषय, मसलन धर्म या अनेक विषयों के सार का चुनाव किया और अन्य सभी विषयों को उस विषय केंद्र के इर्द-गिर्द सजा दिया। लेकिन इन सभी योजनाओं में समस्याएं अंतर्निहित हैं। मैंने यह खास तौर पर गौर



चित्र 1. घरेलू परिवेश पाठ्यक्रम का दृश्य आरेख

किया है कि जब एक या अधिक विषयों को पाठ्यक्रम को एकीकृत करने वाले कारक के रूप में पेश किया जाता है तो कार्यवाही कठिन हो जाती है। विद्वान जन अपनी अपनी खास विश्वास-संरचनाओं को ही बच्चों के सामने चीजों की एकीकृत छवि पेश करने का एकमात्र सही तरीका बताते हैं। लेकिन उनकी सारी कोशिशों के बावजूद, सच तो यह है कि युवा मस्तिष्क, ये अमूर्त विचार, कम ही ग्रहण कर पाते हैं। इस तरह सार्थक और प्रभावशाली शिक्षण कार्यक्रम विकसित करने वाली ये सारी योजनाएं एक के बाद एक आईं, कुछ दिन चर्चा में रहीं और, शैक्षणिक नीति या व्यवहार पर कोई महत्वपूर्ण एवं दूरगामी छाप छोड़े बगैर विलुप्त हो गईं।

इन सबका पर्यवेक्षण करने के बाद ही मुझमें यह विचार जगा कि घरेलू परिवेश पद्धति ही बुनियादी पाठ्यक्रम के विषयों को व्यवस्थित करने का अधिक तर्कसंगत तरीका है। ऊपर से जबरदस्ती प्रत्यारोपित किए गए केंद्रीय विषय से बच्चे जुड़ नहीं पाते। मुझे यह लगा कि इसके बजाए, शुरुआत करने के लिए

बच्चों के पास तो बुनियादी सामग्री और विचारों का अच्छा-खासा खजाना पहले से उपलब्ध है। बच्चों को अपने घरेलू परिवेश में ढेर सारी मूर्त और अमूर्त चीजों से परिचित होना पड़ता है। ये वो प्रेरणाएं, वो उद्दीपन तत्व हैं जिनसे बच्चे बच नहीं सकते और न ही इन्हें भूल सकते हैं। अगर शिक्षाविद इन सभी चीजों पर विचार करें और अन्य सामग्री को इनसे शुरू से आखिर तक जोड़ दें तो इसका परिणाम बड़ा स्वाभाविक होगा। और, यह मेरा विश्वास है कि यह एकीकरण की सबसे कारगर संभावित योजना होगी। मैं पाठ्यक्रम गठन के ऐसे ही भविष्य की कल्पना करता हूं।

उपसंहार
एक दार्शनिक मूल्यांकन

यह विडंबना ही है कि जापान में माकीगुची 'सोका गाक्काई' (मूल्य-सृजन में संलग्न बुद्ध-धर्म का एक अराजकीय संगठन) के संस्थापक के रूप में प्रतिष्ठा ने उनके जीवन के अन्य पहलुओं को - शिक्षक, शिक्षा-दार्शनिक और शिक्षा-सुधारक गौण बना दिया है। प्रोफेसर डेल बेथेल ने माकीगुची के मुख्य शैक्षिक-सिद्धांतों और प्रस्तावित सुधारों के महत्वपूर्ण परिणामों की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए ही इस संस्करण को प्रस्तुत किया है।

पश्चिमी पाठकों को शायद आश्चर्य हो, मगर माकीगुची के विचारों तक पहुंचने के लिए सांस्कृतिक खाई उनके आड़े नहीं आएगी। माकीगुची ने जापानी समाज की जिन बुराइयों का मूल स्रोत जापानी-शिक्षा पद्धति को माना है वे सब हू-ब-हू अमेरिका और दूसरे पश्चिमी देशों में भी विद्यमान हैं। हालांकि उनके द्वारा प्रस्तावित सुधार कहीं कहीं अतिवादी हैं, फिर भी वे उन चिंतनों को प्रतिबिंबित करते हैं जो पश्चिमी संस्कृति की नींव में बसे हैं। विशेष रूप से माकीगुची ने जैसे मानव, व्यक्ति-विशेष, अच्छे विकास और सामान्य जीवन की परिकल्पनाओं पर काम किया है उनकी अभिव्यक्ति पहले पहल सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के 'सुख हेतु' दर्शनों में मिलती है। मैं कोशिश करूंगा की माकीगुची के विचारों की इन जड़ों को उजागर करूं और उनके विषयों की गहराई और स्थायित्व को स्पष्ट करूं। साथ ही, मैं इस पर भी विवेचन करूंगा कि माकीगुची के अध्ययन हमें यह याद दिलाते हैं कि परंपरागत विवेक आज भी जीवंत हैं।

पहले हम जापानी समाज की उन कुछ बुराइयों को देखते हैं जो माकीगुची के अनुसार गलत शिक्षा के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष फल हैं :

- जापानी लोग अच्छे जीवन को भौतिक उपलब्धियों का ही दूसरा नाम समझते हैं; 'सुख' की कल्पना अहं और अर्थ के दायरे में की जाती है।
- लगातार बढ़ती हुई संख्या में लोग "अपने अधिकार की उद्घोषणा

तो बलपूर्वक करते हैं मगर उनसे संबद्ध उत्तरदायित्वों की उपेक्षा करते हैं।

- मूल्य और मूल्यांकन को हर व्यक्ति की निजी संपत्ति समझा जाता है, जिसके लिए किसी शिक्षा की जरूरत नहीं है; एक व्यक्ति के मूल्यांकन उतने ही गरिमापूर्ण समझे जाते हैं जितना कि किसी दूसरे के।
- चरित्र-विकास उपेक्षित रहता है क्योंकि उसे जीवन के लक्ष्यों के प्रसंग में अप्रासंगिक समझा जाता है या फिर उसकी परिकल्पना की संकीर्ण सीमा है : राष्ट्रवादी निष्ठा में प्रशिक्षण।
- शिक्षा केवल कक्षाओं से संबद्ध मानी जाती है और जीवन के पहले दो या ढाई दशकों के बाद उपेक्षित की जाती है।

माकीगुची ने शिक्षा-पद्धति में ही निम्नलिखित कमियों की व्याख्या की है :

* सारी शिक्षा प्रणाली तथ्यात्मक ज्ञानार्जन के प्राथमिक स्तर पर चलाई जाती है, जिसका मापदंड परीक्षा होती है।
* शिक्षा के जबरदस्ती थोपे जाने से बच्चों का सीखने के प्रति सहज प्रेम का गला आमतौर पर युवास्थिति में पहुंचने तक घोंट दिया जाता है। सीख पाने में कुछ अक्षमताएं तो जन्मसिद्ध होती हैं मगर उससे कहीं अधिक गलत शिक्षा उत्पन्न होती है।
* शिक्षा प्रणाली दो ध्रुवों के बीच अटकी हुई है - अत्यधिक एकरूपता और अत्यधिक स्वच्छंदता के ध्रुवों के बीच।
* इकट्ठे बारह से सोलह साल तक लगातार औपचारिक शिक्षा के प्रतिमान युवाओं की शारीरिक प्रक्रियाओं और साथ ही दुनिया से संपर्क बनाने की तीव्र उनकी इच्छाओं के भी प्रतिकूल हैं। जीवनपर्यंत शिक्षार्जन के आदर्श को नकारती हुई यह पद्धति इस धारणा को जन्म देती है कि डिप्लोमा या डिग्री पा लेने से शिक्षा पूरी हो जाती है।
* समकालीन शैक्षिक सिद्धांत उन विद्वानों और शोधकर्ताओं की देन हैं जो स्वयं प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्रों से विलग हैं। इस दूरी की खाई के कारण कक्षाओं में अधिकतर शैक्षिक सिद्धांत लागू ही नहीं होते।

अगर माकीगुची में हमें अपनी परिस्थितियों का दर्पण मिलता है, तो हमने उनके प्रस्तावित सुधारों का सुराग भी पा लिया है। मैं पहले मुख्य या चौंकाने वाले सुधारों का विवरण दूंगा। फिर उन दार्शनिक विचारों का विवरण दूंगा जो उन्हें साथ बांधते हैं और शाश्वत गरिमा प्रदान करते हैं।

स्पष्ट है कि माकीगुची का सबसे असाधारण सुधार-प्रस्ताव है कि सब

स्तरों पर कक्षीय शिक्षा आधे दिन तक ही सीमित हो। अभिप्राय यह है कि स्कूल की कक्षाओं और दुनिया में सामंजस्य पैदा किया जाए और समुदाय और परिवार को शैक्षिक कार्य में पूरी साझेदारी प्राप्त हो।

इसी से संबद्ध यह बात भी है कि औपचारिक शिक्षा की सीमा विद्यार्थी के दिमाग तक ही न सीमित रहकर, पूरे व्यक्तित्व तक फैले। विशेष तौर पर उसे अच्छे नैतिक चरित्र निर्माण की जिम्मेदारी लेनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि तथ्य और सत्य में उलझाए रखने के अलावा युवाओं की क्षमताओं को मूल्य-मान्यता, मूल्यांकन और अंततः मूल्य-सृजन की ओर दिशान्वित करना चाहिए। चूंकि मूल्यांकन में एक अटूट भावात्मक तत्व होता है, इसलिए भावों की शिक्षा भी शामिल है। भाव तो होते हैं, सिखाए नहीं जा सकते, जैसा आम धारणा मूल्यविहीन मानी जाने वाली शिक्षा और उसके द्वारा चरित्र-निर्माण की उपेक्षा जैसी गलतियों में से एक है। जैसा कि अरस्तू का मानना था, शिक्षा का सबसे गरिमापूर्ण उद्देश्य है सही चीजों को सीखने में आनंद प्राप्त करना।

प्राथमिक रूप में, शिक्षकों को सूचनाएं उपलब्ध कराने वाला नहीं बल्कि विद्यार्थियों के सीखने के स्वयं अपने अनुक्रम को दिशान्वित करने वाला होना चाहिए। उन्हें "तथ्यों की खोज किताबों पर छोड़ देनी चाहिए और उसके बजाय विद्यार्थियों के सीखने के निजी अनुभवों में सहायक भूमिका निभानी चाहिए।" यह बात जाननी-पहचाननी चाहिए कि विद्यार्थियों की अपनी रुचि ही शिक्षा की मूल प्रबल प्रेरणा है : उसे सांचे में ढाला जा सकता है, दिशान्वित किया जा सकता है और केंद्रित किया जा सकता है, मगर उसे कदापि न तो उपेक्षित करना चाहिए न ही उसका दमन। मेरा विचार है कि इस बात की परम महत्ता के प्रसंग में यह तर्कसंगत है कि मैं एक अमरीकी शिक्षक का निम्न किस्सा शामिल कर लूं। वैसे तो यह विश्वविद्यालीय शिक्षण के बारे में है, मगर यह स्पष्ट है कि प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा पर यह अधिक प्रबल रूप में लागू होता है।

"कुछ साल पहले मैं गणित का एक पाठ्यक्रम पढ़ा रहा था, जिसका मूलपाठ था तोलमे का 'एक्माजेस्ट'। शुरुआत में, मैं यह मानकर चला कि साधारण नजर से दिख सकने वाले सितारों की गतिशीलता की जानकारी तो छात्रों को होती है - उदाहरण के तौर पर, ध्रुव के चारों ओर सितारों की वृत्ताकार चाल, ग्रहों के विचरण, सूर्योदय की स्थिति में परिवर्तन, इत्यादि की जानकारी। इसलिए मैंने तोलमे द्वारा उनके स्पष्टीकरण से ही शुरुआत की। मुझे एकदम यह मालूम पड़ गया कि उनमें किसी भी छात्र को यह अवसर नहीं मिला था कि वह इन चीजों को देख सके। अगर वे हमारे आज के रहन-सहन से कम शहरी तौर-तरीकों में रहते तो उन्हें ये अवसर अवश्य मिलते। मैंने अपने आप को इन घटनाओं

का लंबा-चौड़ा और बढ़िया विवरण देते हुए पाया। इन घटनाओं के बारे में कक्षा में किसी एक को भी मालूम नहीं था और इसलिए उनके लिए बिल्कुल जरूरी नहीं था कि उनका वर्णन किया जाए। इस अनुभव ने मुझे हिला दिया। तब से मैं इस बात का ध्यान रखता हूं कि किसी स्पष्टीकरण की आवश्यकता का भान स्वयं स्पष्टीकरण से पहले होना चाहिए।"

शिक्षा की यह तलाश होनी चाहिए कि वह सामाजिक चेतना और सामाजिक हित से एकरूपता पैदा करे। उसे कोशिश करनी चाहिए कि वह उस व्यक्तिगत चरित्र को उभार सके जिसकी समाज के सदस्यों को आवश्यकता है और जो उन्हें समाज में सृजनात्मक सहयोगी बनाने में सक्षम करे। वैयक्तिकरण अत्यावश्यक है, मगर उसकी संकल्पना अहं की परिधि में नहीं बल्कि उस तरह के सामाजिक योगदान के रूप में करनी चाहिए जिसकी हर व्यक्ति से अपेक्षा है।

सामाजिक चेतना की महत्ता को देखते हुए, प्राथमिक शिक्षा की शुरुआत, स्थानिक स्थानीय वातावरण के पाठ्यक्रम से होनी चाहिए - यानी, स्थानीय समुदाय के बारे में, उसी स्थान और कक्षाओं में अध्ययन के एकीकरण के आधार पर होनी चाहिए। माकीगुची का तर्क है, क्योंकि आधार का यह एकीकरण बच्चों के लिए प्राकृतिक है, इसलिए वह किसी ऊपर से थोपे जाने वाले सैद्धांतिक एकीकरण से बहुत श्रेयस्कर है।

स्पष्ट है कि हर इंगित सुधार का असर माध्यमिक और तृतीयक स्तरों के सुधार पर भी है। मगर फिलहाल ज्यादा उपयोगी होगा परिकाल्पनिक ढांचे को अपनाना, जिसमें से सुधार अपना सार पाते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, सबसे महत्वपूर्ण व्याख्याओं के विषय हैं मनुष्य की प्रकृति, व्यक्ति की प्रकृति, यह प्रश्न कि सामान्य जीवन की संरचना और अच्छा विकास किस प्रकार होता है। मैं माकीगुची के विचारों की बुद्धिमत्ता और गरिमा को सबसे अच्छी तरह दर्शाने के लिए यही कह सकता हूं कि वे समर्थक हैं सुकरात, प्लेटो और अरस्तू की 'सुख हेतु' विचारधाराओं के और पश्चिमी दर्शन के उनके उत्तराधिकारीगण के।

लेकिन यह बताना बहुत जरूरी है कि माकीगुची का दर्शन इन स्रोतों से नहीं उपजा : वह उनके निजी और दूसरों के जापानी स्कूल के बच्चों के शिक्षण के अनुभवों से विकसित हुआ। एक तो इस बात पर इसलिए जोर देना चाहिए क्योंकि माकीगुची का आग्रह था कि जापानी विचारधारा और संस्कृति जापानी होनी चाहिए, न कि यूरोप और अमेरिका से आयातित। इसके अलावा, जैसा कि हमने पहले देखा है, माकीगुची का मानना था कि जापानी शिक्षा कमजोर पड़ी रही क्योंकि उसे प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षण से बहुत विलग दार्शनिकों के शैक्षिक दर्शनों का समावेश करना पड़ता है। माकीगुची के विचारों के स्रोत

'क्लासिकल' स्रोत नहीं हैं। बल्कि यहां हम दो स्वतंत्र विचारकों के कामों में असाधारण समरूपता देखते हैं - एक ओर सुकरात, प्लेटो और अरस्तू और दूसरी तरफ माकीगुची। विचार के इतिहास में इस तरह के संगम बहुत रोमांचकारी क्षण होते हैं - स्वतंत्र रूप से लाइबिनीज और न्यूटन के 'डिफरेन्शियल कैलक्यूलस' तक पहुंचना, वालैस और डारविन का प्राकृतिक चयन द्वारा जाति क्रम-विकास का सिद्धांत। मैं एक उदाहरण जानता हूं जो माकीगुची के तुल्य है, और जिसमें एब्राहम मॉस्लो से मेरी जान-पहचान शामिल है। सुकरात, प्लेटो और अरस्तू के किसी संदर्भ के बिना, अपने प्रायोगिक अध्ययनों के चलते, मॉस्लो मानव-प्रकृति, अच्छाई, विकास और मानवों में संपूर्ण कार्यान्वितता की जिन संकल्पनाओं पर पहुंचा वे हू-ब-हू उन्हीं की संकल्पनाओं की तरह थीं। दर्शन की समस्याओं की प्रकृति अलग होती है इसलिए वह एक सटीक विज्ञान नहीं हो सकता, न ही उसे वह बनने का प्रयत्न करना चाहिए। इस तरह के संगम ही दर्शन के क्षेत्र में परिकल्पनाओं के स्वतंत्र प्रभावीकरण कहे जा सकते हैं।

माकीगुची के शिक्षा-दर्शन का मूल आधार है उनकी धारणा कि शिक्षा का परम उद्देश्य सुख है। हमें माकीगुची का भावार्थ समझने के लिए दो घोर भ्रांतियों से बचना होगा। पहली बात तो यह कि उनका मतलब यह नहीं है कि भविष्य में विद्यार्थियों का सुख शिक्षा का उद्देश्य है। वरन उनकी खोज है वर्तमान में विद्यार्थियों का सुख। स्पष्ट है कि इस तरह ही भविष्य में भी उनके सुख की कामना निहित है। लेकिन माकीगुची के तर्क का सार यह है कि विलंबित सुख में दिया जाने वाला यह प्रशिक्षण वयस्कों को विलंबित सुख वाले जीवन की ओर ले जाता है। बहरहाल दो घोर भ्रांतियों में से यह कम कुख्यात है। अच्छा रहेगा कि जब हम ज्यादा भयानक भुलावे के स्रोत से शुरुआत करें।

यह तब होता है जब हम माकीगुची की उद्‌घोषणा में 'सुख' शब्द का सामान्य अर्थ लगाते हैं। हम अमरीकी और जापानी लोगों के लिए आमतौर पर सुख का मतलब है आराम, विलास या प्रसन्नता। हमारे जीवन का सुखी काल वह है जब आरामों या विलास का योग पीड़ाओं के योग से अधिक होता है और प्रसन्नता या विलास की परिभाषा इच्छापूर्ति की अनुभूति है। वे धारणाएं जो विलास या इच्छापूर्तियों (और सुख) को परम हित मानती हैं, जिसकी सब लोग कामना करते हैं या करनी चाहिए, उन्हें सामूहिक रूप से 'हेडोनिज्म' (विलासवाद) का पर्याय माना जा सकता है।

लेकिन माकीगुची का मानना है कि इस मायने में 'सुख' सही जीवन को नहीं दर्शाता, क्योंकि विलास से किसी तरह का कोई मार्गदर्शन नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि प्रसन्नता या विलास विवेकहीन रूप में सब इच्छाओं की पूर्ति की कामना करता है और सही और गलत इच्छाओं में निहित कांटे

के अंतर को लेकर कुछ भी नहीं कर सकता। सुख के साथ साथ, माकीगुची व्यक्तिगत चरित्र-निर्माण को भी शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य मानते हैं। वह इसलिए क्योंकि इन दोनों को पृथक नहीं किया जा सकता : माकीगुची के अर्थ में सुख सुचारु रूप से जीने का व्यक्तिपरक पुरस्कार है; और मानव के लिए सुचारु रूप से जीना है व्यक्तिगत चरित्र का विकास।

विकास एक किस्म का बदलाव है, लेकिन वह बेतरतीब बदलाव नहीं है; वह एक निदेशित बदलाव है। अधकचरी इच्छाओं के साथ परेशानी यह है कि वे सब दिशाओं में प्रस्फुटित होती हैं और विरोधाभासी होती हैं। बच्चों में इसका उदाहरण पारदर्शी रूप में देखने को मिलता है, जैसा कि अपेक्षाकृत है। मगर यह वयस्क-जीवन में भी व्याप्त है : उदाहरण के लिए, एक ऐसा व्यक्ति जो नई कार की इच्छा करता है मगर उसकी उतनी ही तीव्र इच्छा यह भी है कि वह अपने संचित धन को कम न होने दे या कर्ज न ले। या फिर एक ऐसा व्यक्ति जो अपने पड़ोसी की बीवी पर आसक्त है लेकिन अपनी शादी भी सुचारु रूप से चलाना चाहता है। इन उदाहरणों में उस व्यक्तिगत चरित्र विकास की कमी झलकती है जिसे माकीगुची शिक्षा में महत्ता देते हैं।

ऐसे व्यक्ति जिनमें आत्म-ज्ञान की कमी होती है, बहुधा उस चीज की इच्छा करते हैं जो उनके लिए खराब है, और उनकी इच्छा पूर्ति विलास या प्रसन्नता की अनुभूति जगाएगी। वे व्यक्ति जो जिम्मेदारी से बचना चाहते हैं - अपनी अधिकृत सामाजिक जिम्मेदारियों से भी - वे अपने इस पलायन की सफलताओं से ही प्रसन्न हो जाएंगे।

इसके अलावा 'हेडोनिज्म' (विलासवाद) एक बहुत महत्वपूर्ण अंतर पर पर्दा डालता है। यह अंतर, मेरी अभिव्यक्ति तथा उत्पादक और प्रापक इच्छाओं के बीच है। उत्पादक इच्छाओं से मेरा अर्थ उन इच्छाओं से है जो केवल ऐच्छिक व्यक्ति के प्रयत्नों से ही पूरी की जा सकती हैं। दूसरी ओर प्रापक इच्छाएं वे हैं जो दूसरों द्वारा भी उसी रूप में पूरी की जा सकती हैं। उदाहरणस्वरूप, एक नई कार के लिए मेरी इच्छा भली भांति पूरी हो सकती है अगर कोई मुझे उसकी भेंट दे दे। मगर मुझे कोई बेहतर चरित्र नहीं दे सकता। ज्यादा अच्छे चरित्र की मेरी इच्छा दूसरों का सहयोग या अवरोध तो पा सकती है मगर उसकी तुष्टि मेरे अपने ही प्रयत्नों से होगी। जैसा अवश्यंभावी था, उत्पादक और प्रापक इच्छाओं का अंतर धुंधला पड़ने से, इच्छाओं की ओर रुझान प्रबल हो गया है। इसके चलते लोगों की स्व-संकल्पनाएं उन चीजों से बनी हैं जिन्हें पा लेना वे अपना अधिकार समझते हैं। माकीगुची जब ऐसे व्यक्तियों की बात करते हैं जो 'अपने अधिकारों की उद्घोषणा तो बलपूर्वक करते हैं मगर उनके साथ संबद्ध जिम्मेदारियों की उपेक्षा करते हैं।' विकास की दृष्टि से इस बात को नोट

करना चाहिए कि बचपन में प्राथमिक प्रश्न होता है, 'मुझे क्या मिलेगा ?' जबकि युवावस्था में महत्वपूर्ण प्रश्न होता है, 'मैं क्या करूं ?' इस धरातल से प्रापक रुझान में चला जाना (या उपभोक्तावाद, जैसा इसे आम तौर पर कहते हैं) विकास अवरोध, या अवनति का द्योतक है।

चरित्र-निर्माण पर अधिक बल डालने में माकीगुची उत्पादन को प्रापन से अधिक महत्ता देते हैं। यानी, जिम्मेदारी को अधिकारों पर तर्कसंगत प्राथमिकता दी गई है। यह याद होगा कि 'दी रिपब्लिक' में प्लेटो की न्यायान्य को लेकर प्राथमिक संकल्पना में, हर व्यक्ति वही करता या करती है जिसके लिए वह अंतरंग और प्राकृतिक रूप से अधिकतम सक्षम है। प्रापक न्यायान्य की उत्पत्ति ऐसे होती है : हर व्यक्ति को उस चीज को पाने का अधिकार है जिसकी उसे जरूरत है। ताकि प्रापी वह कर सके जो उसके पास करने को है। और अरस्तू के लिए सुख की उत्पादकात्मक परिभाषा है, "गुण के अनुसार गतिविधि"। माकीगुची की व्यक्ति-अर्थ के सार की परिकल्पना प्लेटो और अरस्तू जैसी ही है। व्यक्ति होने का अर्थ है उसमें निहित और संभव विशेषता को कार्यान्वित करना कार्यान्वित करने की जिम्मेदारी नैतिक जीवन की बुनियाद है। "कुछ है जो अंतर्निहित होता है, और हर व्यक्ति के जीवन को निदेशित करता है", और उसके चलते, सुख "कुछ हो जाने की अनुभूति है।" इसी से यह बात निकलती है कि "शिक्षकों को सक्रिय रूप से यह करना चाहिए कि वह हर बच्चे में निहित संभावनाओं को उजागर करें ताकि वे आदर्श जीवन जी सकें।"

इससे एक जरूरी बात निकलती है, और वह यह कि संपन्न जीवन जीना हरेक का बुनियादी कार्य है, यानी अपने स्वयं को कार्यान्वित या उजागर करने का कार्य। यह माकीगुची को कार्य की आधुनिक धारणा के विरोध में ला खड़ा करता है, जिसमें काम एक नागवार जरूरत है जिससे अगर बचा जा सके तो बचना चाहिए, और जिसके मुआवजे में भौतिक इनाम और आराम मिलना चाहिए। माकीगुची का आह्वान है उस शिक्षा के लिए 'जो काम के प्रति आनंद और प्रशंसा की अनुभूति पैदा करे।' (हेनरी थोरो ने 'लाइफ विदाउट प्रिंसिपल' में कहा है कि काम 'आकर्षक और यशस्कर' होना चाहिए।)

काम को नागवार जरूरत इस वजह से माना जाता है कि लोगों में प्राकृतिक रूप से बहुत अंतर होता है, उस काम को लेकर जो उनके करने के लिए है। हर व्यक्ति के लिए बहुत तरह के काम हैं जो अच्छे, उपयोगी और उत्पादक होते हुए भी मूलरूप में प्रतिफल-विहीन होते हैं। दूसरी ओर कुछ इस तरह के काम भी होते हैं (अधिकतर असंबंधित) जो अनुभव के स्तर पर मूलभूत रूप में लाभप्रद होते हैं - ऐसे काम जिनसे व्यक्ति का तारतम्य होता है और जिन्हें करने में कोई व्यक्ति अपने आप ही पहल करके अपने सर्वश्रेष्ठ स्वयं को जुटा

देता है। लेकिन जैसा सदियों से चला आ रहा है, वैसा ही आज हो रहा है। आज भी व्यक्ति और उसके लिए सार्थक काम के बीच तालमेल पैदा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया जाता (जिस तरह शिक्षा में भी इस तरह तालमेल का प्रयत्न नहीं हो रहा, यानी शिक्षार्थियों को आत्मज्ञान की ओर उन्मुख करने का काम)। इस वजह से, ऐसे लोग गिने चुने ही हैं जो संयोगवश या सौभाग्यवश सार्थक काम पा जाते हैं। अधिकतर लोगों का अनुभव इसके विपरीत होता है और इसीलिए वह इस बात को कि काम नागवार जरूरत होता है, मान्यता देते हैं। वह काम जो किसी का जीवन है और जीविका के लिए किया गया काम - इन दोनों में समरूपता हो जाती है। जब काम सही हो (यानी सही जिंदगी) तो उसके मूलभूत प्रतिफल ऐसे होते हैं, जिनका अरस्तू के अनुसार, कोई भी किसी दूसरे से विनिमय नहीं करेगा। (और जैसा प्लेटो ने बलपूर्वक कहा था, ईर्ष्या के जहरीले सामाजिक और व्यक्तिगत क्षयकार के स्वरूप का इस तरह के जीवन में कोई स्थान नहीं है।) सही जीवन जीने के मूलभूत प्रतिफल को ही माकीगुची सुख की संज्ञा देते हैं। वह जीवन जो किसी व्यक्ति के लिए सही जीवन है उसी में सही काम भी अंगभूत होना चाहिए। यहां सही काम का मतलब पारिश्रमिक के लिए काम तक सीमित है जिससे व्यक्ति संबद्ध हो सके और जिसका अनुभव मूल रूप में लाभप्रद हो।

माकीगुची अहं की भर्त्सना करते हैं, मगर उसके साथ यह गलती नहीं करते कि नैतिक व्यवहार को परोपकारी अथवा स्वार्थहीन व्यवहार की संज्ञा दें। अगर सही परिकल्पना की जाए तो दूसरों के और स्वयं अपने हित में एक दूसरे के इतने अंतरंग हैं कि उन्हें अलग अलग देखा ही नहीं जा सकता। यही माकीगुची की धारणा है। यह विवेक सुख की उस परिभाषा से जुड़ा हुआ है जिसके अनुसार सुख मूल्य-सृजनात्मक जीवन का स्वरूप है। इस तरह हर व्यक्ति की संपन्नता को सबकी संपन्नता में सहयोगी माना जाता है। व्यक्ति जो अपने स्वयं को कार्यान्वित या उजागर करने में प्रयत्नशील है, उस व्यक्ति का वास्तविक उद्देश्य यह है कि वह उस प्रयत्न का वस्तुपरक मूल्य दुनिया को दर्शाए। यह केवल या प्राथमिक रूप से स्वयं के लाभ के लिए नहीं है बल्कि हर उस व्यक्ति के लिए है जो इस विशिष्ट किस्म के मूल्य को समझने और उपयोग करने में सक्षम हो। इसके साथ साथ, माकीगुची का मूल्यांकन के ऊपर जोर विभिन्न मूल्यों को समझ पाने के प्रशिक्षण को लेकर है, ताकि लोगों में यह क्षमता जाग सके कि वे सृजनात्मक व्यक्तियों द्वारा दर्शाए हुए विभिन्न और व्यापक प्रकार के मूल्यों को पहचान सकें, समझ सकें और इस्तेमाल कर सकें। उदाहरणस्वरूप, एक बढ़ई या दार्शनिक से यह अपेक्षा की जा सकती है कि वो अपने अपने क्षेत्र में श्रेष्ठता को पहचान पाएंगे। लेकिन हर एक व्यक्ति दूसरे के लिए तब

उपयोगी बनता है जब वह दूसरे के क्षेत्र में भी श्रेष्ठता को पहचान और समझ सके।

जब हम अहंवाद - परोपकारवाद के विभाजन से छुटकारा पा लेते हैं तब हम इस स्थिति में पहुंचते हैं कि हम यह पहचान सकें कि हर नैतिक गुण की - विवेक, साहस और संयम की - उपयोगिता व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों रूपों में है। स्पष्ट है कि गुण व्यक्ति को अपने ध्येय को पाने में बल देते हैं। ठीक इसी तरह, यह भी स्पष्ट है कि वह गुणी व्यक्ति जो दूसरों के ध्येय में जुट जाता है, एक अधिक मूल्यवान सहयोगी है। और जैसा हमने पहले कहा, अगर गुणी व्यक्ति का उद्देश्य यह है कि वह दुनिया में उन सबके लिए मूल्य उजागर करे जो उस विशिष्ट तरह के मूल्य को समझ सकते हैं या इस्तेमाल कर सकते हैं, तो वे गुण एक ही समय अपने भी और दूसरों के भी काम आते हैं। यही अरस्तू के प्रेक्षण का मतलब है कि "हर गुण या श्रेष्ठता उस वस्तु (या व्यक्ति) को अच्छी स्थिति में लाते हैं जिसमें वह श्रेष्ठता निहित है, और उस वस्तु (या व्यक्ति) के काम को भलीभांति किया हुआ काम बनाते हैं।"

कामकाज के सुधार में विभिन्न प्रयोगों के चलते जो विवाद उठ खड़े हुए हैं वे उस हानि के ठोस उदाहरण हैं जो अहंवाद-परोपकारवाद के विभाजन से उपजते हैं। काम को अधिक सार्थक बनाने के लिए, 'कार्य-समृद्धि' और 'कार्य-स्थल का मानवीकरण' इत्यादि नामों के अंतर्गत अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों में पिछले तीस सालों में कई प्रयोगात्मक प्रयत्न हुए हैं। मगर ट्रेड यूनियनों ने इन प्रयोगों के आशय पर सवाल उठाए हैं, यह कहकर कि प्रबंधन का सहयोग सिर्फ बढ़ी हुई उत्पादकता को लेकर मिला है। प्रतिक्रिया स्वरूप, अपने इरादों की विशुद्धता दिखाने के लिए, कुछ मानवीय कार्य-सुधारकों ने अधिक उत्पादकता को अपने ध्येयों में से निकाल दिया है। लेकिन ऐसा करने में जाहिर है कि उन्होंने प्रबंधन का सहयोग खो दिया जिसकी उन्हें प्रस्तावित सुधारों को कार्यान्वित करने में जरूरत है। पेंडुलम की तरह व्यर्थ इधर से उधर झूलने सिर्फ सत्य की खोज से थामा जा सकता है - यह वही सत्य है जिसके हामी माकीगुची हैं। यानी, काम से उपजी वस्तु के मूल्य में वृद्धि और काम करने वालों में अधिक व्यक्तिगत परितोष, ये दोनों कार्यकर्ताओं और उनमें निहित झुकावों से मेल खाते कार्यों के तारतम्य से संभव है। यह सही है कि शिक्षा को उसे उभारने के लिए उन्मुख करने के बावजूद आत्मज्ञान हमेशा ही अधूरा होगा और शायद कुछ किस्म के सामाजिक कार्य तो किसी की भी तुष्टि नहीं करेंगे। ये समस्याएं हैं जो सुलझाए जाने के लिए मानव की असाधारणता को आवाज देती हैं। सामाजिक सूत्रपात के पुनर्निदेशन से इन्हें अवशेष मात्र में बदला जा सकता है, जबकि आज आत्मज्ञान और सार्थक कार्य दोनों की अनुपस्थिति वाली परिस्थिति है।

अमेरिका में आजकल शायद ही कोई इतनी भ्रांतिपूर्ण परिकाल्पनिक समस्या है, जितनी वैयक्तिकता और व्यक्तिवाद के बीच में है। ये परिकल्पनाएं हमारी राष्ट्रीय विरासत से गहरे रूप में जुड़ी हैं। फिर भी बढ़ती संख्या में आलोचक इनके साथ हमारी विमुखता, व्यक्तिगत अशांति और स्व-केंद्रित प्रेम को जोड़ते हैं, जो हमारी व्यापक बुराइयां कही जाती हैं। यहां भी माकीगुची का विवेक मध्यस्थता करता है। हमारी दुविधा हमारी वियोजक या आंशिक सोच का नतीजा है - या व्यक्ति का या समाज का। हमें लगता है कि इनमें से किसी एक को दूसरे की कीमत पर प्रभुत्वशाली होना ही है। मगर माकीगुची हमें इन परिकल्पनाओं के बारे में फिर सोचने के लिए बाध्य करते हैं। नई परिकल्पना में एक संपन्नता तब ही संभव है जब उसमें दूसरे की संपन्नता शामिल हो।

उपर्युक्त विवरण से प्रत्यक्ष है कि माकीगुची एक किस्म के व्यक्तिवादी हैं : मनुष्य के लिए "उसके व्यक्तिगत झुकाव के अनुसार" मूल्य-सृजनात्मक जीवन ही अच्छा जीवन है। फिर भी वे उस किस्म के व्यक्तिवाद के जबरदस्त खिलाफ हैं जो उनके और हमारे समाज में फैला हुआ है - यानी ऐसा अहंकारी व्यक्तिवाद जो केवल अपने भौतिक लाभ के लिए अथक जतन करता है, अन्य लोगों को नगण्य समझता है। इसके अलावा ऐसा व्यक्तिवाद एक ऐसी स्वच्छंदता का हामी है जो संपूर्ण आत्मनिर्भरता की परिकल्पना करती है, यानी यह मनुष्य के ऊपर समाज के अवश्यंभावी ऋण को और उन परंपराओं को जिनमें वो पाला-पोसा गया है, पूरी तरह नकारती है। इसके विपरीत माकीगुची की व्यक्तिवादिता का उस गरिमापूर्ण पारस्परिक मानवीय निर्भरता से सामंजस्य है जो व्यक्ति की पहचान में व्याप्त होकर, व्यक्तियों को समुदाय के रूप में एक साझे संबंध से जोड़ती है। इससे ठीक उल्टी स्थिति में, संपूर्ण-निर्भरता का मिथ्या आदर्श सामुदायिकता को नकारता है क्योंकि व्यक्ति की परिकल्पना एक असामाजिक और आण्विक अस्तित्व के रूप में होती है। अहंवादी और अर्थकारी व्यक्तिवादिता सामाजिक संबंधों को विशुद्ध स्वतः विनिमय के बाह्य संबंधों के स्वरूप में देखती है। एक आलोचक के शब्दों में यह 'स्वार्थों की कलह' है।

उस तरह की नैतिक व्यक्तिवादिता उभारने में, जो सामाजिक सहयोग में तुष्टि पाती है, माकीगुची के सामने एक विकट शैक्षिक समस्या आती है। वे व्यक्ति जो आत्मतुष्टि के इस उच्च चिंतन तक पहुंच पाए हैं उन्हें शायद भौतिक सुविधाओं के आधार पर इस तरह से आराम से सोचने का अवसर प्राप्त था। जिन व्यक्तियों का दैनिक जीवन-निर्वाह अनिश्चित है, उनके लिए आत्मज्ञान साधनों से परे ऐय्याशी है। इसके बावजूद वह अच्छी तरह से जिए गए और स्वाभाविक रूप से प्रतिफलित जीवन के लिए जरूरी है। यह एक जटिल गुत्थी है। इसको कैसे सुलझाया जाए ? सिर्फ एक संभावित उत्तर है, सामाजिक हस्तक्षेप

द्वारा। और वाकई इसके लिए पहला महत्वपूर्ण कदम उठाया जा चुका है - और वह है अनिवार्य सार्वभौमिक और सार्वजनिक शिक्षा। इसके चलते, बच्चे जो अब तक खेत या फैक्ट्री में श्रमबद्ध थे, उन्हें हर हफ्ते कुछ घंटे जीवन के कठोर संघर्षों से छुटकारा मिल पाएगा - कम से कम ऐसा होने की संभावना तो बढ़ी ही है। व्यापक व्याख्या में, यह एक महान उपलब्धि है, जिसकी महत्ता सब व्यक्तियों के चिंतन के लिए सामाजिक रूप से गढ़े एक अंतरिक्ष से कम नहीं है। वैसे यह बात सही है कि इस स्वच्छंद अंतरिक्ष का इस्तेमाल इस स्वरूप में नहीं होता। इसके बजाय, समकालीन अहंवादी और अर्थकारी वातावरण में इसका इस्तेमाल दुनियाई 'सफलताओं' के हित में, परीक्षाओं के लिए तथ्य रटने के लिए किया जाता है। इस तरह वह जो स्वच्छंद श्वास के लिए खुला आकाश हो सकता था, जीवन की कठोरताओं का कठघरा बनकर रह गया है।

माकीगुची का अनुरोध है कि शिक्षा को दुनिया में जीने की तैयारी के रूप में होना चाहिए, मगर उससे परे, दुनिया में शांत जीवन जीने की तैयारी होनी चाहिए। जैसा कि पहले कहा गया है, माकीगुची के अनुसार, इसका मतलब वर्तमान में संपन्न जीवन जीना है, क्योंकि जो प्रशिक्षण सुख को एक अनिश्चित भविष्य में स्थगित कर देता है वह सुख को स्थगित करते रहने का प्रशिक्षण है। माकीगुची के यहां हमें जीवन की अवस्थाओं के सिद्धांत का विवेचन मिलता है। बचपन, युवावस्था, जवानी, परिपक्वता, बुढ़ापा, हरेक अपने किस्म की अलग तुष्टि और सुख लिए हुए (एक निश्चित निरंतरता के बहाव के साथ) है। हर अवस्था में निहित मूल्य, गुण, और दायित्वों की तुष्टि और निर्वाह उसी अवस्था में होना चाहिए, न कि वयस्क जीवन के लिए स्थगित। माकीगुची इस बात को प्रबल रूप में कहते हैं : "व्यावसायिक शिक्षकों को यह अधिकार नहीं है कि वे वयस्क जीवन की तैयारी को शिक्षा का लक्ष्य मानने का निर्णय लें। ... ऐसी शिक्षा जो भविष्य के किसी सुख को लक्ष्य बनाकर बच्चों के आज के सुख की बलि चढ़ाती है, वह शिक्षा सिर्फ बच्चों के व्यक्तित्वों को ही नहीं बल्कि सीखने-समझने की प्रक्रिया को भी नष्ट करती है। "इसके अलावा बच्चों के हित पर ध्यान दिए बिना तथ्यों को जबरदस्ती गले उतारने से शिक्षार्जन की उनकी प्राकृतिक उत्सुकता कालांतर में समाप्त हो जाएगी।

लेकिन बच्चों की प्राकृतिक उत्सुकता का सहानुभूतिपूर्ण निदेशन किया जा सकता है और किया जाना चाहिए। मैं अपनी टिप्पणी को माकीगुची की एक ही सिफारिश तक सीमित रखूंगा लेकिन वो उनके शैक्षिक-दर्शन की जान है। यह वह साधन है जिसके जरिए बच्चों को उस विवेक की ओर दिशान्वित किया जा सकता है जिसे कुछ पल पहले हमने बुद्धिमानों की जागीर घोषित

किया था - यानी, सामाजिक योगदान में ही व्यक्तिगत तुष्टि निहित है। माकीगुची की धारणा है कि बच्चे अपने आप इस तथ्य तक पहुंच पाएंगे। अगर उनकी शिक्षा का प्रतिमान ऐसा है कि वह 'स्थानीय वातावरण' के अध्ययन से शुरू हों - यानी अपने समुदाय की पहचान और समझ, उस स्थान और कक्षाओं दोनों में साथ साथ शुरू हो। लक्ष्य यह है कि शुरू से ही बच्चों को सामुदायिक जीवन की जरूरतों और सेवाओं से पहचान पैदा की जा सके - उनकी आजाद वैयक्तिकता की बलि देकर नहीं बल्कि उसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रांगण देकर। बच्चे के लिए समुदाय का फायदा यह है कि वह साकार और ठोस है; और मूल्य-सृजनात्मकता के विचार को संदर्भ प्रदान करता है।

जैसे जैसे शिक्षा आगे बढ़ती है, वह पहले अन्य समुदायों को सम्मिलित करती है, फिर देश को और अन्य देशों को, और धीरे धीरे एक संपूर्ण मानव समुदाय के रूप में दुनिया को। ताकि समुदाय केवल अध्ययन विषय ही नहीं बनकर रह जाए बल्कि वह शिक्षक भी बने, माकीगुची का प्रस्ताव है कि कक्षाओं के भीतर शिक्षार्जन को आधे दिन तक सीमित होना चाहिए। उनकी बुनियादी सोच के स्वरूप अमेरिका में भी पाए जाते हैं। सन् 1979 की कारनेगी काउन्सिल की शिक्षा पर रिपोर्ट, 'गिविंग बैटर चान्स टू यूथ' में यह व्याख्यान सम्मिलित है : "युवाओं को शिक्षण की बहुत भारी खुराक मिलती है - और बहुत लंबे काल तक, बिना दुनियाई ज्ञान के या सामूहिक सेवा के अनुभव के। वह काम जो सामूहिक सेवा का स्वरूप लेता है विशेष रूप से वांछनीय है, क्योंकि वह युवाओं को सामूहिक समस्याओं से जुड़े होने की और उनके समाधान में योगदान देने की, भावना जगाता है।"

इस सदी के शुरू में दार्शनिक विलियम जेम्स से लेकर मानवशास्त्री मार्गरेट मीड, राष्ट्रपति लिन्डन जॉन्सन और न्यू जरसी सेनेटर बिल ब्रैडली तक, लगातार देश के कई प्रभुत्वशाली लोगों ने, इस इरादे से ही "नेशनल यूथ सरविस" का प्रस्ताव दिया है। इसके अंतर्गत युवा लोग अंतरालों में मिला के लगभग दो बरस तरह तरह के राष्ट्रीय और स्थानीय कार्यों में समय व्यतीत करेंगे। छह या सात देशों में फिलहाल यह सुविधा है। इनमें से कुछ कार्यगुटों के अंतर्राष्ट्रीय विनिमय में तत्पर हैं, जिससे देश विदेश में दूसरों की संस्कृति और रहन-सहन के अनुभव कर पाने का अवसर मिलता है।

इसी अभिप्राय से, कई दशकों से कुछ अमरीकी माध्यमिक स्कूल और कालेज कार्य-अध्ययन की परियोजनाओं में वह प्रयोग कर रहे हैं कि एक सेमेस्टर कक्षा के अंदर तो दूसरा सामूहिक सेवा में या गैर-सरकारी क्षेत्रों के काम में गुजारा जाए अथवा एक ही दिन को कार्य और अध्ययन में विभाजित किया जाए। पूर्व श्रम-सचिव विलियम विट्ज ने इस प्रयत्न का अनुमोदन किया क्योंकि

इससे 'युवाकाल शिक्षा के लिए, वयस्ककाल काम के लिए और बुढ़ापा बेकार गंवाने के लिए' - जैसी समय की बंदीगृह भावनाओं से छुटकारा पाने के प्रभाव की संभावना है।

लगातार सोलह साल वाले शिक्षा के परंपरागत प्रतिमानों को तोड़ देने के पक्ष में जिन लाभों को गिनाया जाए उनमें हमें उस महत्ता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए जो वैयक्तिक विकास प्रदान करता है। विकास के इस प्रतिमान में, वयस्क-जीवन जीवन को आकार देने के चयन करने से शुरू होता है (व्यवसाय, शादी करें या नहीं या किससे करें, बच्चे पैदा करें या नहीं, शगल, घर का स्थान, धार्मिक और नागरिक स्वरूप, दायित्व, इत्यादि।) और युवावस्था इन निर्णयों के लिए विकल्प पैदा करने का समय है। कक्षा-कक्षा इन खोजों के लिए पर्याप्त मंच नहीं है। अलास्का के बारे में पढ़ना एक बात है लेकिन वहां रहना एक बिल्कुल अलग बात; किसी व्यवसाय या रहन-सहन के तरीके के बारे में पढ़ना उसको भोगने से अलग है; और ऐसे अरबों लोग हैं जिन्होंने पाया है कि उनका व्यावहारिक व्यवसाय कक्षा में उसकी तैयारी से बिल्कुल अलग है।

आजकल, उसमें से बहुत कुछ जो कि जीवन को आकार देने में निर्वाचन कहलाता है, वह निर्वाचन की छाया मात्र होती है। चुनौती यह है कि विशुद्ध चयन उपलब्ध कराया जाए। यह चयन आत्म-ज्ञान पर आधारित होगा और हर व्यक्ति के विकल्पों को लेकर ज्ञान की वृद्धि से संभव होगा। आत्म-ज्ञान इस साधन से ही पनपता है, इसकी शुरुआत उन उत्पादक विकल्पों से ही होती है जिनका अनुभव कोई व्यक्ति स्वाभाविक लाभ के रूप में करता है।

समझ के इस ढांचे में माकीगुची के कई महत्वपूर्ण योगदानों में उनका यह आकर्षक प्रमाणन भी है कि उत्पादक और स्वाभाविक तौर पर लाभप्रद जीवन के लिए शिक्षण बचपन में शुरू होना चाहिए। ऐसा कई सुख-हेतुवादी दार्शनिकों ने माना है कि अगर हम बच्चों में विकास और सीखने की निहित प्रेरणा का गला घोंट देना खत्म कर सकें, तब युवावस्था में सही रूप में सकारात्मक काम शुरू हो सकता है।

इस मूल्यनिर्धारण टिप्पणी में, मेरी कोशिश रही है कि मैं माकीगुची के शैक्षिक दर्शन और उनके प्रस्तावित सुधारों को पश्चिमी-दर्शन की उस गहरी धारा - ग्रीस का सुखहेतुवाद - से जोड़ूं जो आज भी बहुत प्रचलित है। इस बात के संकेत हैं कि बढ़ती हुई संख्या में पश्चिमी विचारक इस धारा की ओर उन्मुख हो रहे हैं ताकि हम अपनी कुछ इन सर्वव्यापक बुराइयों से विलग हो सकें। ऐसी बुराइयां जो व्यक्ति, समाज और मानव के लिए संपन्न जीवन की आधुनिक - मगर कम गरिमापूर्ण एवं अधिक अवसरवादी - परिकल्पनाओं से उपजी हैं। मगर मैं किसी और समकालीन विचारक को नहीं जानता जिसने शिक्षा

पर शाश्वत सुखहेतुवादी विवेक के प्रभावों का विकास माकीगुची की श्रेष्ठ उपलब्धि की तरह किया हो विशेष रूप से प्राथमिक और माध्यमिक स्तर की शिक्षा पर।

डेविड एल नौकटन
प्रोफेसर ऑफ फिलॉसफी
यूनिवर्सिटी ऑफ डेलावेयर, नेवार्क।

टिप्पणियां

परिचय

1. मानव समाज पर उद्योगीकरण के प्रभाव के विस्तृत विश्लेषण के लिए, देखिए : एलविन टॉफलर की 'दी थर्ड वेव' (विलियम मौरो, न्यूयार्क, 1980)। इसके अलावा, सी. राइट मिल्स, 'दी पावर इलीट', न्यूयार्क; 1956 और 'दी सोश्योलाजिकल इमेजिनेशन', न्यूयार्क, 1959।
2. सोका क्योइकुगाकु ताइके, भाग 1, पुस्तक-1 (क्योइकु गाक्काई, टोकियो, 1930), सीको शिम्बुनशा, टोकियो, 1972; पृ. 25। शिक्षा और लोगों के व्यावहारिक जीवन में सामीप्य का संबंध होने का आग्रह माकुगुची के सारे आलेखों में व्याप्त है। निम्नलिखित वक्तव्य आरमर इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलाजी, शिकागो में 20 नवंबर, 1983 को, डिपार्टमेंट आफ आर्कीटेक्चर के नए डायरेक्टर के उद्घाटन भाषण में से लिया गया है। यह भी माकीगुची के चिंतन को ही दर्शाता है, और उन्हीं के दृष्टिकोण का सार और उसका अनुमोदन है।

   "सारी शिक्षा की शुरुआत जीवन के व्यावहारिक आयाम से ही शुरू होनी चाहिए। लेकिन सच्ची शिक्षा को इससे परे जाकर व्यक्तित्व का निर्माण करना चाहिए। पहला ध्येय विद्यार्थी को ज्ञान और व्यावहारिक जीवन के हुनरों से लैस करना होना चाहिए। दूसरा उद्देश्य उसके व्यक्तित्व का विकास और ज्ञान और हुनर का सही उपयोग करना होना चाहिए।

   इस प्रकार सच्ची शिक्षा पर चिंतन केवल व्यावहारिक उद्देश्यों तक सीमित नहीं है, बल्कि मूल्यों से भी जुड़ा है। व्यावहारिक उद्देश्य हमें समकालीन विशिष्ट संरचना से जोड़ते हैं। दूसरी ओर, हमारे मूल्यों की बुनियाद हमारे आध्यात्मिक स्वभाव में निहित है। हमारे मूल्य हमारी सुसभ्यता के स्तर में झलकते हैं। हालांकि व्यावहारिक उद्देश्य और मूल्य में अंतर है, लेकिन फिर भी उसमें बहुत नजदीकी रिश्ता है। क्योंकि अगर हमारे मूल्य हमारे जीवन के उद्देश्यों से जुड़े हुए नहीं हैं, तो फिर वे किससे जुड़ने चाहिए ? मानव अस्तित्व दोनों परिधियों पर साथ साथ टिका हुआ है। हमारे उद्देश्य हमें भौतिक जीवन का आश्वासन देते हैं, हमारे मूल्य हमारे आध्यात्मिक जीवन की संभावना जगाते हैं।"
3. माकीगुची, सोका क्योइकुगाकु ताइके, भाग-1, पुस्तक-2, पृ. 134
4. माकीगुची, वही, पृ. 169
5. यहां पर सावधान कर देना ठीक रहेगा। ऐसा प्रतीत हो सकता है कि व्यक्तिगत भौतिक लाभ में जुटी स्वकेंद्रित मनोवृति की माकीगुची की यह भर्त्सना मूल्यों को लेकर उस सामान्य आमुखता के विरोध में है जिसमें उन्होंने व्यक्तिगत लाभ को सौंदर्य-लाभ-हित के अपने दर्शन का केंद्र करार दिया है। लेकिन उनके विचारों को नजदीक से पड़तालने पर साफ हो जाता है कि व्यक्तिगत लाभ को जीवन के एक अच्छे और स्वस्थ तत्व के रूप में मान्यता ही नहीं दी

गई है, बल्कि किसी हद तक पवित्र भी माना गया है। लेकिन इसकी खोज हमेशा सौंदर्य हित के संदर्भ और संतुलन में ही देखी गई है।

6. माकीगुची, सोका क्योइकुगाकु, ताइके, भाग-1, पुस्तक-1, पृ. 19
7. माकीगुची के दृष्टिकोण को पश्चिमी संस्कृतियों में पनपे उस स्व-केंद्रित मूल्य संयोजन जैसा, कदापि नहीं समझना चाहिए जो 'बीहड़ व्यक्तिवाद' का केंद्र बन गया है। इन दोनों में गहरा अंतर है। माकीगुची की धारणा यह है : "एक व्यक्ति लीजिए जिसके शिक्षार्जन के अनुभवों में स्वयं के साथ साथ स्वयं को बनाए रखने वाले पारस्परिक संबंधों के सामुदायिक ताने बाने को पहचान पाने और समझ पाने की क्षमताएं सम्मिलित हैं। यह व्यक्ति स्वाभाविक रूप से स्वयं में निहित सृजनात्मक सक्षमता के असीम विकास के लिए प्रयत्न करेगा ताकि वह उसे बनाए रखने वाले समुदाय और उसके सदस्यों की ओर योगदान कर सके।" (इस धारणा में माकुगुची के साथ दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक-शिक्षक की वह लंबी शृंखला भी है जो यूनान के दार्शनिकों से लेकर एब्राहम मॉसलो, रॉबर्ट थियोबाल्ड, डेविड नॉर्टन, एरिक फ्रॉम और कार्ल रोजर्स तक पहुंचती है।) इसके विपरीत अमेरिका के 'बीहड़ व्यक्तिवाद' की जड़ें ब्रितानी व्यक्तिवाद और सामाजिक डॉरविनवाद में है। ये धारणाएं व्यक्ति में यह विश्वास जगाती हैं कि जीवन का केंद्र अपनी सृजनात्मकता को स्वयं अपने ही लाभ और तुष्टि के लिए इस्तेमाल करना है। माकीगुची ने इसी मूल्य संयोजन और जीवन की दिशा की भर्त्सना की है क्योंकि यह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए घातक है। इसकी व्याख्या डेविड नॉर्टन ने 'लाभों की अतिवादिता' के रूप में की है। माकीगुची का आग्रह था कि यह जापान शिक्षा प्रणाली की ही एक विरासत है। इस सिलसिले में, देखिए : डेविड एल नॉर्टन 'पर्सनल डेस्टिनीज : ए फिलॉसफी आफ एथिकल इन्डिविजुअलिज्म', प्रिन्सटन यूनीवर्सिटी प्रैस, 1976, पृ. 315-318
8. माकीगुची, 'सोका क्योइकुगाकु ताइके, भाग-1, पुस्तक-1, पृ. 19-12
9. वही, पृ. 28-29
10. वही, पृ. 49-51
11. वही, पृ. 36-37
12. वही, भाग-13, पुस्तक-4, (सोका क्योइकुगाकु गाक्काई, टोक्यो 1932), संको शिम्बुनशा, टोकियो, 1979, पृ.-250, 252
13. त्सुनेसाबुरो माकीगुची, 'सोका क्योइकुगाकु नी मोतोजुकु कोकुगोका (योमी काता त्सुजुरी-काता) क्योजु नो केल्यु हाप्पयो' (जापानी पढ़ने और लिखने का शिक्षण, मूल्य-सृजनात्मक शिक्षा पद्धति पर आधारित), माकीगुची त्सुनेसाबुरो जेन्शु' तोजाई तेत्सुकागु शोइन, टोकियो, 1965, पृ. 467
14. डेल एम. बेथेल, 'माकीगुची दी वैल्यू क्रिएटर', वैदरहिल, टोक्यो, 1973 पृ. 72-73; 95-96।
15. बेथल, 'माकीगुची दी वैल्यू क्रिएटर' पृ. 83-87
16. कोइची मोरी. 'स्टडी आफ माकीगुची त्सुनेसावुरो : दी फाउंडर आफ सोका गाक्काई', ग्रेजुएट थियोलॉजिकल यूनियन, बर्कले, कैलिफोर्निया, के एक 1977 के शोध दस्तावेज में से।
17. मोरी, 'स्टडी आफ माकीगुची', पृ. 26
18. वही, पृ. 200-215
19. दूसरी ओर, माकीगुची के कुछ आलेखों से पता चलता है कि समकालीन सत्ता संरचना ने व्यक्तियों की सृजनात्मक उन्नति और संपन्नता पर जो अंकुश लगाए थे, उससे वे अनभिज्ञ नहीं थे। इसको इन संदर्भों में देखना चाहिए : माकीगुची की सरकारी नीति को लेकर आलोचना, 'दमन की आत्मविहिन सत्ता' और उनका दृष्टिकोण, 'देश में सामाजिक-आर्थिक परिस्थिति

भीषण रूप से असंतुलित है और उसे बदलने का समय हमारे सामने है।' पृ. 26-32, सोका क्योइकुगाकु ताइके, भाग-3 पुस्तक-4

अध्याय-1

1. ईदो काल में ओओका तदासुके (1677-1751) ने लड़ाई झगड़े सुलझाने में अपनी पटुता के चलते इतना यश पाया कि उनके निर्णयों को 'ओओका मीयो सेदान' (लॉर्ड आओका के मशहूर निर्णय) नामक पुस्तक में समाहित किया गया। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के लिए देखिए : एडविन ओ. राइसशॉर और जॉन के. फेयरबैंक्स, 'ईस्ट एशिया : दी ग्रेट ट्रेडीशन', हॉफ्टन मिफिन कंपनी, बॉस्टन, 1960, पृ. 623
2. जापानी स्कूलों में समकालीन अंग्रेजी के पाठ्यक्रम के विवरण के लिए देखिए, योशिकिची ओमुरा, 'एगो क्योइकु शिरयो' (जापान में अंग्रेजी शिक्षण के इतिहास के लिए सामग्री), होरे शुप्पन, टोकियो, 1980
3. इमानुएल कांट (1724-1804)
4. 'दी कन्फ्यूशियन फाइव रिलेशनशिप्स' - यानी कन्फ्यूशियस द्वारा उद्धृत पांच संबंध थे : राजा के प्रति मंत्री की वफादारी, पिता के प्रति बेटे की धर्मपरायणता, पति-पत्नी की पारस्परिक ईमानदारी; बुजुर्गों के प्रति युवकों का सम्मान और मित्रों में आपसी विश्वास। देखिए, राइसशॉर और फेयरबैंक्स, 'ईस्ट एशिया', पृ. 281
5. इस उक्ति का स्रोत नहीं बताया गया।
6. जिस अंतर्दृष्टि का माकीगुची जिक्र कर रहे हैं वह शायद सरल सहज-ज्ञान से अधिक कुछ भी न लगे। लेकिन जैसा कि सालों पहले एल्फ्रेड जौर्थ व्हाइटहैड ने आग्रह किया था और जैसे बढ़ती हुई संख्या में आज शिक्षाकर्मी अनुभव कर रहे हैं, इस अंतर्दृष्टि की मनुष्यों ने तीन सौ साल से उपेक्षा की है। व्हाइटहैड की प्रमुख विषय-वस्तु यह थी कि हमारे आधुनिक तथा विज्ञानोन्मुख औद्योगिक समाज, स्थान, समय, अंतरिक्ष और कारण की दिशाभ्रष्ट अभिधारणाओं पर आधारित हैं, और इन्हीं दिशाभ्रष्ट अभिधारणाओं ने शिक्षा-प्रणालियों में घर कर लिया है। व्हाइटहैड के विचारों पर रॉबर्ट एस. ब्रुम्बाओ ने यह टिप्पणी की थी :

   "व्हाइटहैड ने इस तकनीकी धारणा पर विमर्श किया था कि रिक्त स्थान केवल संकीर्णता होती है। छोटे भौतिक कणों के विषय में यह सोचना कि वे एक दूसरे को तब तक प्रभावित नहीं करते जब तक कि उनमें संपर्क नहीं होता, उपयोगी है। लेकिन इस धारणा पर आधारित अगर हम यह सामान्य धारणा बनाते हैं कि यह सब तरह की चीजों और स्थानों पर लागू होता है, तो जाहिर है कि नतीजा गलत निकलता है। 'वास्तविकता' मानी जा रही इस बात के चलते हम सारे राष्ट्रों को एक दूसरे से, सिवाय सरहदों की, संकीर्णता मान सकते हैं। इसका नतीजा होगा बेसिरपैर का राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद। हम अगर इस प्रतिमान को समाज के विभिन्न व्यक्तियों पर लागू करें, तो नतीजा होगा गैर-जिम्मेदाराना अहंवाद। अगर हम इसी बात का विस्तार ब्रह्मांड-विज्ञान तक करें, तो नतीजा होगा एक ऐसा भौतिकवाद जिसके चलते वास्तविकता और धर्म का समन्वय असंभवप्राय होगा।" देखें राबर्ट एस. ब्रुमबाओ, 'व्हाइटहैड, प्रक्रिया दर्शन, और शिक्षा', स्टेट यूनिवर्सिटी आफ न्यूयार्क प्रेस, एलकैनी, 1982, पृ., 1-6

7. 'जिन्सेई चिरीगाकु (दी ज्योग्राफी आफ ह्यूमन बीइंग), फुजानबो, टोंकियो, 1903, पृ. 673-677। माकीगुची की किताब के अध्याय का अनुवाद डाक्टर स्टेनली ओहनिशी और डा. होप सी. बिल्स ने किया था।
8. यहां पर मार्कीगुची वॉर्ड की 'ऐपलाइड सोशियोलाजी', गिन एंड कंपनी, न्यूयार्क, 1906' का जिक्र कर रहे हैं।
9. ये विचार एडुअर्ड स्प्रैन्गर (1882-1963) की मूल पुस्तक (1920) के जापानी अनुवाद 'सेइ नो काइशी' (फार्म्स आफ लाइफ) और 'इप्पन क्योइकुगाकु' (जनरल पैडागौकी), जे.एफ. हरबार्ट (1776-1841) की मूल पुस्तक (1806) के जापानी अनुवाद से उद्धृत हैं। स्प्रैन्गर ने मानवीय प्रेरणा को छह भागों में विभाजित किया : आर्थिक व्यवहार, तर्कसंगत व्यवहार, सौंदर्यपरक व्यवहार, राजनीतिक व्यवहार, सामाजिक व्यवहार और नैतिक एवं धार्मिक व्यवहार। हरबार्ट की रुचि छहों प्रकार की रुचियों में थी : प्रेक्षणात्मक अथवा सूचनात्मक रुचि, आनुगानिक रुचि, सौंदर्यपरक रुचि, सामाजिक रुचि, नैतिक रुचि और धार्मिक रुचि।
10. ऑगस्ट कोम्ते के मानव-ज्ञान संबंधी विचारों पर अधिक विमर्श के लिए देखिए, कैनेथ वॉक, 'ह्यूमन नेचर एंड हिस्ट्री : ए रिस्पांस टू सोशियोबायोलाजी', कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, 1980, पृ. 106-108, 179-172 । इसके अलावा देखें विलियम ई. ड्रेक, 'इंटेलैक्चुअल फाउंडेशन आफ माडर्न एजुकेशन', चार्ल्स ई. मेरिल बुक्स, कोलंबस, ओहायो, 1967, पृ. 230-231
11. कुआन-त्सु (मृत्यु 645 बी.सी) 'ची' राज्य के मुख्यमंत्री थे, चाईना के 'वसंत और शरत' काल में। एक वैधानिक दार्शनिक के रूप में उन्होंने व्यावहारिक क्षमताओं और आर्थिकशास्त्र पर जोर दिया।

अध्याय 2

1. हैनरी लुई बर्गसन (1859-1941), फ्रांसीसी दार्शनिक। माकीगुची के विचार-विस्तार का स्रोत अज्ञात है।
2. विलहैल्म डिल्थे (1833-1911)
3. हरमान हाइनरिक गौसेन (1810-58), जर्मन अर्थशास्त्री
4. आदान-प्रदान की परिभाषा करने में, सबसे पहले कन्फ्यूशियन 'ऐनालेक्ट्स' (लुन्यू, 15:23) में वक्तव्य दिया गया।
5. अज्ञात स्रोत पुस्तक, 'प्लैटोनिक फिलासफी एंड एजुकेशन' में से विचार-विस्तार।
6. विलहैल्म विंडरबैंड (1848-1915)
7. सैन्गजी अथवा चैन्गशैन (505-436 बी.सी.) - कन्फ्यूशियस का एक शिष्य।

अध्याय 3

1. होम्मा तोशीहारा (1873-1943), जापानी-क्रिश्चियन समाज-सेवक
2. इस विचार के संदर्भ में माकीगुची एक विशेष लेख का जिक्र कर रहे हैं - 'जिनुसेइकी नो सेकाई तो निप्पौन साइनेन' (बीसवीं सदी की दुनिया और जापानी युवावर्ग), सोहो तोकुतोमी द्वारा लिखित।
3. जां जाक रूसो (1712-78), जॉन आमोस कौनेनियस (1592-1670) और जोहान हाइनरिक

पेस्तालॉजी (1746-1827)

4. 'निजो फुसाबुत्सु, यो फुजोवुत्सु', जिन दो वाहनों का जिक्र यहां हुआ है वे आध्यात्मिक जागृति के दो स्तर हैं : अंतःज्ञानोदय (जे. एन्गाकु, संस्कृत 'प्रत्येक') और शिक्षार्जन यानी बुद्ध अथवा शिक्षक से सुनना (जे. शोमोन, संस्कृत 'श्रवक')।
5. कन्फ्यूशियन 'एनालेक्ट्स' में से
6. इस लेख के स्रोत का संकेत नहीं है।
7. सन् 1924 में स्थापित शैक्षिक और सांस्कृतिक नीति समिति को "प्रधानमंत्री की देख रेख में होना था। शैक्षिक और सांस्कृतिक नीति के महत्वपूर्ण मुद्दों पर तहकीकात और सोच विचार के बाद समिति उन्हीं की जवाबदेही थी।
8. 'परीक्षा-नर्क' से कुछ छात्रों के ऊपर पड़े अत्यधिक भावात्मक दबाव की ओर इशारा है, जिसका वे किसी विशिष्ट, स्कूल अथवा विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा के समय अनुभव करते हैं।
9. हीनयान (संस्कृत : गौण वाहन) महायानियों द्वारा व्यवहृत एक अनादरसूचक शब्द। महायान (संस्कृत : महान वाहन) - बुद्ध धर्म पंथी बुद्ध धर्म की उन पूर्व शाखाओं के लिए इस्तेमाल करते हैं जो केवल व्यक्तिगत निर्वाण पर ध्यान केंद्रित करती थीं। अन्य भेदों के साथ साथ, महायान बुद्ध-धर्म की विशिष्टता है उसका तथाकथित बोधिसत्वीय प्रण जिसके चलते अपने ज्ञानोदय से पहले हर सचेतन प्राणी को उबारना होता है।
10. कोजुई ओतानी, 'नोग्यो रिक्कोकु रॉन' (कृषि द्वारा राष्ट्रीय स्थिरता), लेखक की अन्य पुस्तकें तो उपलब्ध हैं, मगर माकीगुची ने जिस संस्करण का उल्लेख किया है वह अब जापान में नहीं मिलता।

अध्याय 4

1. ताकिया फुशिमी, 'साइकिन निओकेरू दोइत्सु नो क्योइकुगाकु' (जर्मन का हालिया शिक्षा-शास्त्र)। यह लेख 'तेईकोकु क्योइकु काई (इंपीरियल एजुकेशन सोसाइटी) द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'तेईकोकु क्योइकु' (इंपीरियल एजुकेशन) में सम्मिलित था।
2. एडुअर्ड स्प्रैन्गर, 'लेबेन्सफोरमेन गाइसटेसविजेनशाफ्टलोश साइकोलाजी' और 'एथिक देर परसोनलीचेकाइट'। वरलैग मैक्स नीमेयर, टयूबिनजेन, जर्मनी, 1921। माकीगुची इसी पुस्तक के जापानी संस्करण का उल्लेख कर रहे हैं 'जो सेइ नो केइशिली' (फार्म्स आफ लाइफ) शीर्षक से प्रकाशित हुई (अनु. कोजाबुरू त्सुली, 1926)। अब जापान में इस अनुवाद की प्रतिलिपि नहीं मिलती।
3. एमिले दुर्खीम, 'शाकाई बुन्गयो रॉन' (डिविजन आफ लेबर इन सोसाइटी), अनु. हिस्ताओशी तनाबे, मोरियामा शॅतेन, टोकियो, 1932, पृ. 38, 64; मूल संस्करण का नाम, द ला.डिविजन द्यू त्रावेल सोसियाल।

अध्याय 5

1. अखबार का नाम तो 'टोकियो डेली न्यूजपेपर' है, लेकिन कथन की तारीख का संकेत नहीं दिया गया है।
2. जोसे टोडा, माकीगुची के सबसे समीपी शिष्य थे और उस संस्था के दूसरे अध्यक्ष जिसे उन्होंने और माकीगुची ने संस्थापित किया। इस संस्था का प्रारंभिक नाम 'सोका कोइकु

गाक्कई' (वैल्यू-क्रिएटिंग सोसाइटी) था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जब टोडा ने संस्था का पुनर्गठन किया तो उसका नाम बदलकर 'सोका गाक्काई' (वैल्यू-क्रिएटिंग सोसाइटी : मूल्य-सृजक संस्था) रख दिया गया।

3. युद्धपूर्व वर्षों के दौरान से द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति तक, जापान के शाही परिवार को, शिन्टो पुराण के हिसाब से, सूर्य-देवी अमातेरासु-ओमिकामी का दिव्य वंशज करार दिया जाना एक वास्तविक तथ्य की तरह पढ़ाया जाता था। पौराणिक सम्राट जिम्मु के शाही वंशज होने के नाते दिव्य सत्ता पर देश के सैन्य नेतृत्व ने खास जोर दिया।
4. जहां तक मालूम है, जिस पुस्तक का उल्लेख है वह कभी लिखी नहीं गई।
5. हरबर्ट स्पेन्सर (1820-1903), ब्रितानी सामाजिक दार्शनिक

उपसंहार - एक दार्शनिक विवेचन

1. ब्लेयन किन्समॅन, 'विंड लेव्ज', डोवर पब्लिकेशंस, मिनेओला, एन. वाय., 1984, पृ. 5
2. हैनरी डी. थोरो, 'लाइफ विदाउट प्रिंसिपल', -रिफार्म पेपस', संकलन वैन्डेल ग्लिक, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1973, पृ. 155-79
3. एरिस्टॉट्ल, 'नाइकोमेचिअन इथिक्स', पुस्तक-2, 1106अ, पंक्तियां 15-17
4. कारनीगी काउंसिल, 'गिविंग यूथ ए बेटर चांस', जोसे-बास, सैन फ्रांसिस्को, पृ. 94-95
5. देखें माइकेल डब्ल्यू, शेरडिन और डोनाल्ड एबर्ली, 'नेशनल सर्विस : सोशल इकनामिक, एंड मिलीट्री इंपैक्ट्स', परगैमौन प्रेस, न्यूयार्क, 1981
6. विलाई वर्ट्ज और दी नेशनल मैन-पॉवर इंस्टीट्यूट, 'दि बाउंडलैस रीसोर्स : ए प्रॉस्पैक्ट्स फॉर एन एजुकेशन-वर्क पॉलिसी', न्यू रिपब्लिक बुक्स, वाशिंगटन डी.सी, 1975, पृ. 9

कम्प्यूटेक सिस्टम, दिल्ली-110093 द्वारा लेजर कम्पोज तथा शिवम ऑफसेट, नारायणा, नयी दिल्ली द्वारा मुद्रित